CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाजवाद

सम्पूर्णानन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग संख्या..............

प्राप्ति-संख्या..................

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम सभा जवाहर...........

लेखक सम्पूर्णानन्द...........

लेनेवाले का नाम	देनेकी तिथि	लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं फूलचंद्र जी जैन

समाजवाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाजवाद

20758

लेखक—

श्री सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक—

काशी विद्यापीठ, बनारस।

द्वितीय संस्करण   १९९६   मूल्य १)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक—
मंत्री, काशी विद्यापीठ,
बनारस छावनी।

(समाजवाद विषयकी सर्वोत्तम पुस्तक होनेके कारण इसपर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी ओरसे ५००) का 'मुरारका' पारितोषिक लेखकको मिला है।)

मुद्रक—
माधव विष्णु पराड़कर,
ज्ञानमण्डल यंत्रालय, काशी।
८१३९-९६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पण

जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः, भूतावासोऽनिकेतनः ।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः ॥

जो जगत्‌का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियोंको निवास देता है पर आप बे-घरका है, जो विश्वको ढँकता है पर आप नंगा रहता है, उसको बार-म्बार प्रणाम है ।

उसको ही यह तुच्छ कृति समर्पित है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

समाजवादपर पुस्तक लिखनेवालेके लिए पाठकोंसे क्षमा-याचना करनेकी आवश्यकता नहीं है। इधर कई वर्षोंसे जनताको इस विषयमें अभिरुचि रही है पर पिछले तीन वर्षोंमें यह अभिरुचि बहुत बढ़ गयी है। इसके पहले या तो यह थोड़े-से विद्यानुरागियोंके मनोरञ्जनकी सामग्री था या कुछ तथोक्त अतिवादियोंकी बहकी बहकी बातोंका अङ्ग था। लोग इन बातोंको सुन लेते थे पर ठीक ठीक समझ नहीं पाते थे। जो कुछ समझमें आता था वह विचित्र प्रतीत होता था, कमसे कम हमारे अनुदिनके प्रश्नोंसे तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं देख पड़ता था। रूसमें जो हो रहा था उसके ग़लत-सही समाचारोंने लोगोंको और भी घबरा और डरा दिया था। बस इतना कह देना पर्य्याप्त था कि अमुक व्यक्ति बाल्शेविक है। सारी जनता उसको सशङ्क दृष्टिसे देखने लगती थी।

धीरे धीरे यह अवस्था बदली। पिछले सत्याग्रह आन्दोलनके उपरामके बाद कांग्रेस समाजवादी दल स्थापित हुआ। उसने समाजवादको भारतीय राजनीतिकी जीवित धारा बना दिया। देशकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिने जनताको समाजवादियोंकी बातें सुननेके लिए विवश किया। यद्यपि समाजवादका विरोध करनेवालोंकी कमी न थी परन्तु दलको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने प्रचार-कार्य्यमें बहुत बड़ी सफलता मिली। इधर कांग्रेस-के वर्तमान राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरूके लेखों और भाषणोंसे इस दिलचस्पीमें और भी वृद्धि हुई है।

हिन्दीमें समाजवादपर कुछ पुस्तकें हैं, समय समयपर पत्र-पत्रिकाओंमें लेख भी निकलते रहे हैं। इनके द्वारा लोगों-को इस विषयका ज्ञान हुआ है पर मैंने इस साहित्यके विषयमें एक बातका अनुभव किया है। जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमेंसे अधिकांशका लक्ष्य तात्कालिक राजनीतिक प्रचार रहा है। उन्होंने पूँजीशाहीके दोषों और ज़मीनदारी प्रथाकी बुरा-इयोंके ऊपर ज्यादा ज़ोर दिया है। यह सर्वथा उचित था और इसमें उनको काफ़ी सफलता मिली है। बहुतसे लोग अब इन बातोंको समझने लगे हैं और यह मानने लगे हैं कि इनको हटाकर किसी न किसी प्रकारकी समाजवादी व्यवस्थाको स्थापित किये बिना देशका और जगत्‌का कल्याण न होगा। पर एक ख़राबी भी हुई है। साधारणतः एक धारणा सी फैल गयी है कि समाजवादका इतना ही अर्थ है कि इन दोनों प्रथाओंका विरोध किया जाय। जो लोग समाजवादसे सहानु-भूति रखने लग गये हैं उनमेंसे भी कुछ ऐसा समझते हैं कि पूँजीपतियों और ज़मीनदारोंके ज़ालिम होनेके कारण समाजवादी उनके विरुद्ध हैं। जो लोग समाजवादके विरोधी हैं उन्होंने यह भ्रान्ति फैलानेकी भी पर्य्याप्त कोशिश की है कि समाजवादी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिन्न भिन्न वर्गोंको लड़ाना चाहते हैं, हिंसात्मक उपायोंसे जायदाद वालोंकी सम्पत्ति ज़ब्त करनेका इरादा रखते हैं और पुरानी संस्कृति, आचार-विचार, मज़हब और परिवारके नियमों और बन्धनोंको हठात् तोड़ देनेपर तुले हुए हैं। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, पूँजीपति, वर्गयुद्ध आदि शब्द प्रचलित हो गये हैं और इधरसे उधर नासमझीके साथ फेंके फिरते हैं।

इसलिए इस बातकी आवश्यकता प्रतीत होती थी कि एक पुस्तक ऐसी लिखी जाय जिसमें इस विषयके तात्विक पहलुओंपर विचार किया जाय। कई मित्रोंका ऐसा ख़याल था। इसी उद्देश्यको सामने रखकर यह पुस्तक लिखी गयी है। सम्भवतः जो बातें इसमें आयी हैं वह अन्य पुस्तकोंमें, विशेषकर पत्रिकाओंके लेखोंमें, आ चुकी हैं। यह मेरा दावा भी नहीं है कि मैंने कोई नयी बात लिखी है परन्तु इन सब बातोंका समावेश यदि किसी एक हिन्दी पुस्तकमें हुआ है तो दुर्भाग्यवशात् मुझे उसका पता नहीं है। मैं दूसरी भारतीय भाषाओंकी बाबत कुछ नहीं कह सकता। मराठीकी एक पुस्तक देखनेमें आयी है पर उस भाषाका परिष्कृत ज्ञान न होनेके कारण मैं उससे कोई लाभ न उठा सका।

दूसरी पुस्तकोंके अभाव, या उनसे अपनी अनभिज्ञता, के कारण मुझे पारिभाषिक शब्दोंके सम्बन्धमें बड़ी कठिनाई पड़ी है। कुछ प्रचलित शब्दोंको तो मुझे छोड़ना पड़ा है—उदा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरणके लिए, कम्युनिज्मके लिए वर्गवादका प्रयोग मुझे बहुत ही ग़लत जँचता है—पर बहुतसे नये शब्द गढ़ने पड़े हैं। इनमेंसे कुछके विषयमें मेरे मित्रोंको भी मुझसे मतभेद है। जैसे, मैंने 'वैल्यू'के लिए 'अर्घ' और 'प्राइस'के लिए 'मूल्य' रखा है। इनमें अर्घ शब्द सामान्य व्यवहारमें नहीं आता यद्यपि उसीसे निकला 'महार्घ' 'महँगा' के रूपमें प्रचलित है। कुछ मित्रोंकी राय थी कि मैं अर्घकी जगह मूल्य और मूल्यकी जगह क़ीमत लिखूँ। मैं इस परमार्शको इसलिए न मान सका कि आजकल मूल्य और क़ीमतका एक ही अर्थमें व्यवहार होता है अतः किसी किसी सन्दर्भमें अर्थ-विपर्य्यय होनेकी आशङ्का थी। नये शब्दमें यह डर नहीं होता। ऐसे ही ख़यालोंसे प्रेरित होकर मैंने शब्द चुने हैं। यह शब्द संस्कृतके भण्डारसे ही आये हैं पर पारिभाषिक शब्दोंके लिए संस्कृतसे सहायता लेनेमें मुझे सर्वथा औचित्य देख पड़ता है।

समाजवाद बहुत गम्भीर और व्यापक शास्त्र है। तीन सौ पृष्ठोंमें उसका ज्ञान करानेका प्रयास करनेवाला कालिदासके शब्दोंमें कह सकता है—

तितीर्षुर्दुस्तरम्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्

यह समझते हुए भी प्रयास करना पड़ा है। ऐसी दशामें मैंने यथासम्भव ऐसे विषयोंको चुना है जिनको मिलाकर साधारण प्रवेश हो जाय और शास्त्रकी गहनताका परिचय मिल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाय । यदि इसके आगे कुछ लोगोंको अध्ययन करनेका उत्साह बढ़ा तो मैं कृतकृत्य हूँगा । एक बार मेरा यह विचार हुआ कि पुस्तकके अन्तमें अध्येतव्य पुस्तकोंकी सूची जोड़ दूँ पर जिन पुस्तकोंके नाम इस सूचीमें आते वह सब अंग्रेजीकी हैं । ऐसी सूची कितने पाठकोंके काम आती यह कहना कठिन है । जो लोग अंग्रेज़ी जानते हैं और इस विषयके जिज्ञासु हैं उनको पुस्तकोंके नाम जाननेमें विशेष कठिनाई न होगी ।

समाजवादके अन्तर्गत कई ऐसे विषय हैं जो स्वयं स्वतन्त्र शास्त्रोंकी मर्य्यादा रखते हैं । इनमें प्रमुख स्थान समाजवादके दार्शनिक आधारोंका है । इन आधारोंका पुस्तकके छठें अध्याय-में दिग्दर्शन कराया गया है । मैंने वहाँ यह भी दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कहीं कहीं यह विचारधारा भारतीय दार्श-निक विचारधारासे टकराती है । कई लोगोंको, जो सामा-न्यतः समाजवादी कार्य्यक्रमको पूरा पूरा स्वीकार करते हैं और इतिहासकी आर्थिक व्याख्यासे भी सहमत हैं, इसमें कुछ कमी प्रतीत होती है । ऐसे लोगोंका यह कर्तव्य होना चाहिये कि इस अङ्गकी पुष्टिकी ओर ध्यान दें और देखें कि कहाँतक इसके साथ आध्यात्मिकताका समन्वय हो सकता है । दर्शनके ऐसे बहुतसे विद्यार्थी हैं जिनकी बुद्धियोंपर बहुत पहले शाङ्कर अद्वैतवादकी छाप लग चुकी है और मनन द्वारा अविलेप्य हो गयी है । मैं स्वयं ऐसे ही लोगोंमें हूँ पर ऐसा समझता हूँ कि द्वन्द्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्याय और इतिहासकी आर्थिक व्याख्याका अद्वैतवादसे निसर्गतः विरोध नहीं है। इस पुस्तकमें मैंने इस सामञ्जस्यको दिखलानेका प्रयत्न नहीं किया है। यहाँ उसकी आवश्यकता भी न थी।

परन्तु दार्शनिक विचारोंके सम्बन्धमें इतना कहनेके बाद मैं इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रचलित साम्प्रदायिक व्यवस्था, धार्म्मिक दम्भ, झूठी भक्ति और धर्म्मोपजीवियों द्वारा सम्पन्नों और शक्तिशालियोंकी खुशामदकी बाबत मैंने जो कुछ लिखा है वह पूर्णतया मेरी निजी राय है। मेरा ऐसा ख़याल है कि मैंने आवश्यकतासे अधिक संयत भाषासे काम लिया है।

इस पुस्तकका भारतीय राजनीतिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है पर जिन लोगोंके लिए लिखी गयी है वह एक विशेष राजनीतिक और आर्थिक वातावरणमें रह रहे हैं। मुझे आशा है कि वह समाजवादको केवल बुद्धि-विलासका विषय न समझेंगे प्रत्युत इस बातपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे कि इसके द्वारा उनको पृथ्वीकी वर्तमान दुरवस्थाको सुधारने और मनुष्योंको श्रुतिके शब्दोंमें वस्तुतः 'अमृतस्य पुत्राः' बनानेमें कहाँतक सहायता मिलती है। कार्य्यक्षेत्रमें प्रयुक्त होनेमें ही समाजवादकी सार्थकता है।

जालपादेवी, काशी
८ कन्या १९९३ — सम्पूर्णानन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
समर्पण, भूमिका	... ...	आदिमें
पहला अध्याय—मानवजगत्	... ...	१
दूसरा ,,	—धर्म, सदाचार, राज और सभ्यता	११
तीसरा ,,	—सनातन प्रश्न	२९
चौथा ,,	—कुछ उत्तर	३१
पाँचवाँ ,,	—एक और उत्तर	६६
छठाँ ,,	—द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद	७३
सातवाँ ,,	—उत्पादनके साधनोंपर ... ... निजी स्वत्व—भूमि ...	९३
आठवाँ ,,	—उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व— पूँजी और श्रम	१०२
नवाँ ,,	—विनिमय और वितरणके साधनोंपर निजी स्वत्व	१२८
दसवाँ ,,	—वर्गसंघर्ष	१३०
ग्यारहवाँ ,,	—पूँजीवाद	१५३
बारहवाँ ,,	—साम्राज्यशाही	१७६
तेरहवाँ ,,	—निजी सम्पत्ति	१९५
चौदहवाँ ,,	—राजका स्वरूप	२०५
पंद्रहवाँ ,,	—राजसत्ताका अन्त	२२३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोलहवाँ ,,	—समाजवादी व्यवस्था—प्रथम सोपान	२३७
सत्रहवाँ ,,	—समाजवादी व्यवस्था—द्वितीय सोपान	२६०
अठारहवाँ ,,	—समाजवाद और समष्टिवाद ...	२६८
उन्नीसवाँ ,,	—भूतलपर स्वर्लोक	२७०
बीसवाँ ,,	—भारत और समाजवाद	२७८
पर्याय-सूची, पुस्तकोंकी नामावली	... ...	अन्तमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिथिक्रम

इस पुस्तकमें सर्वत्र विक्रम संवत्का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी सन् जाननेके लिए दी हुई संख्यामेंसे ५७ घटाना होगा।

—लेखक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाजवाद

पहला अध्याय

मानव-जगत्

'समम् अजन्ति जनाः अस्मिन् इति' यह समाज शब्दका अर्थ है। जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गतिसे, एकसे, चलें वही समाज है। एक साथ या 'एकसे' चलनेका अर्थ फ़ौजी सिपाहियोंकी भाँति किसी एक दिशामें क़दम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य्य तो यह है कि लोगोंकी, उन लोगोंकी जो समाजके अंग हों, परिस्थिति एकसी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एकसे हों। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग एक ही काममें लगे हों, ठीक एक ही खाना खाते हों, एक ही प्रकारका वस्त्र पहनते हों, हर बातमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका प्रतीक या छाया हो। ऐसा न तो सम्भव है, न उचित। पर यह सम्भव है कि सब लोगोंके प्रयत्न एक दूसरेके प्रपूरक हों, अर्थात् लोग भिन्न भिन्न कामोंमें लगे हों पर उन सब कामोंके फलस्वरूप सबका कल्याण हो। कोई भी इतना समर्थ नहीं है कि सभी काम कर सके परन्तु यह सम्भव है कि कामोंका बँटवारा इस प्रकार हो कि चाहे कोई किसी भी काममें लगा हो, इन सब कामोंका एकमात्र परिणाम यही निकले कि सबका भला हो। यह तभी सम्भव है जब कि यह श्रमविभाग बुद्धिपूर्वक हो। सोच विचारकर यह निश्चय किया जाय कि सबके हितके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौन कौनसे काम होने चाहियें और कौन कौनसे काम अहित-कर होनेके कारण न होने चाहियें। फिर लोगोंकी योग्यता देख कर 'योग्यं योग्येन योजयेत्' की नीतिके अनुसार जो जिस कामके योग्य हो उसको वही काम देना चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो कुछ काम तो ऐसे होंगे जिनमें अपने निजी दृष्टिकोणसे अधिक लाभ देखकर सभी उनकी ओर दौड़ेंगे और कुछको सभी छोड़ना चाहेंगे। इस प्रतियोगितामें कुछ लोगोंको चाहे जो लाभ हो जाय पर समूहको क्षति ही पहुँचेगी। ऐसी अवस्थामें लोगोंके प्रयत्न एक दूसरेके प्रपूरक नहीं वरन् विघातक होंगे क्योंकि यह सब प्रयत्न एक सूत्रमें बँधे न होंगे।

इसका एक और परिणाम होगा। यदि श्रमविभाग बुद्धि-पूर्वक न हुआ तो पारिश्रमिक, मज़दूरी, का विभाग भी बुद्धि-पूर्वक नहीं हो सकता। अपने शरीरकी शक्ति और चालाकीका दुरुपयोग करके कोई तो अनुचित, अर्थात् अपने श्रमकी दृष्टिसे अधिक, पारिश्रमिक ले लेगा, किसीको बहुत कम मिलेगा। जिन लोगोंके कामसे समूहका विशेष लाभ होगा वह कम पायँगे, दूसरे अधिक पा जायँगे। इससे केवल व्यक्तियोंको ही नहीं, वरन् व्यक्तियोंके समूहको भारी हानि होगी। सबका एक साथ चलना न होगा, प्रत्येक व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थको ही देखेगा। 'तुच्छ' इसलिए कहता हूँ कि सबके भलेमें अपना भी भला हो सकता है पर इस ऊँचे स्वार्थकी ओर कम ही लोगोंका ध्यान जाता है।

'समाज' के इस अर्थको ध्यानमें रखते हुए हम जब मानव-जगत्की ओर दृष्टिपात करते हैं तो एक विचित्र दृश्य देख पड़ता है। इस मानव-जगत्को, मनुष्योंके इस समूहको, 'मनुष्य-समाज' कहते हैं। जैसा कि एक पाश्चात्य लेखक कहता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"समाजका अर्थ है भाईचारा; एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए काम करनेवाले, एक भावसे परिचालित व्यक्तियोंकी विना किसी प्रकारके दवावके अपनी इच्छासे, संचालित संस्था, जिसके सब सदस्य सबके हितके प्रयत्नकी सफलताके इच्छुक हों। 'मानव-समाज' का भाव यह है कि यह एक ऐसा संघटन है जिसको सबके हितके लिए मनुष्य-जातिने अपने संयुक्त प्रयत्नसे जन्म दिया है"।* यह परिभाषा वस्तुतः 'समम् अजन्ति जनाः अस्मिन्' की विस्तृत व्याख्या मात्र है। इसके ठीक होनेमें भी कोई विशेष सन्देह नहीं हो सकता। यदि एक उद्देश्य न हो, एक भाव न हो, सबके हितका विचार न हो, यदि सब केवल अपने तात्कालिक सुख या धुनकी पूर्तिमें लगे हों, यदि सबके प्रयत्नोंका कोई एक लक्ष्य न हो, तो मनुष्योंके ऐसे समूहको भीड़ भले ही कह लें, समाज नहीं कह सकते। यदि संघटन ऐच्छिक न हो वरन् किसी प्रकारके दवावसे हुआ हो तो भी वह समाज नहीं हो सकता। राज इसी प्रकारका एक संघटन होता है। सरकारके दवावसे लोग किसी न किसी सीमातक मिलकर काम करते हैं, उनके प्रयत्नों और उद्देश्योंमें कुछ समता और एकलक्ष्यता भी देख पड़ती है पर यह संघटन कृत्रिम होता है। वियोजक शक्तियाँ बराबर काम करती रहती हैं और किसी भी कारणसे दवावके हट जाने पर संघटित अवयव बिखर जाते हैं। ऐसा संघटन समाज नहीं कहला सकता, इसमें वास्तविक 'सम-अजन' का अभाव है।

पर शब्द मात्रके अतिरिक्त 'मानव-समाज' है कहाँ? शब्दोंमें तो आकाशका पुष्प भी होता है, गधेके सींगका भी अस्तित्व

---

* राबर्ट ब्रिफ़ोल्ट, (विक्टर गोलक्ज़) 'ब्रेकडाउन', अध्याय १

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पर वस्तुस्थितिमें कहाँ मनुष्य-समाज देख पड़ता है? मनुष्योंमें काले, पीले, गोरे, भूरेका विभाग है; पाश्चात्य और अपाश्चात्यका प्रचण्ड विभेद है; आर्य्य, अनार्य्य, हब्शी, अंग्रेज़, फ्रेञ्च, अरब, रूसी, जर्मन, तुर्क, भारतीय, जापानीकी दीवारें एकको दूसरेसे पृथक् कर रही हैं। क्या इन सबमें समाजके लक्षण पाये जाते हैं? आपसमें खानपानके रीति-रवाजमें जो भेद हैं वह तो नगण्य हैं पर उद्देश्योंकी समता, संघटन, कहाँ है? आज गोरे सभी रंगीनोंपर आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, बहुत बड़े भूभागपर स्थापित कर भी चुके हैं; रंगीनोंमें इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, वह गोरोंके आधिपत्यका विरोध कर रहे हैं। पर न तो सब गोरे, न सब रंगीन एक साथ हैं। गोरे भी अनेक जातियों, अनेक राष्ट्रों, में बँटे हुए हैं, रंगीनोंकी भी ठीक यही दशा है। सब एक दूसरेके विरुद्ध हैं। जो आज एकका साथ देता है, वही कल अपने पुराने साथीके विरुद्ध पुराने शत्रुका साथ देता है। एक मात्र उद्देश्य स्वार्थ देख पड़ता है पर स्वार्थ भी स्थायी नहीं है, क्षणिक है। संघटन बनते हैं और बातकी बातमें टूटते हैं। विज्ञानका कहना है कि यह भेद प्रायशः कृत्रिम हैं। न तो किसी रंग-विशेषमें कोई उत्तमता है, न किसी रंग-विशेषमें बुराई। अरब, भारतीय, अंग्रेज़ आदि अनादिकालसे शुद्ध और पृथक् जातियाँ नहीं हैं, सभी मिश्रित हैं। इतना ही नहीं, इनकी भौगोलिक सीमाएँ भी बराबर बदलती रही हैं परन्तु आज यह जनसमूह अपने 'हितों' को एक दूसरेसे पृथक् ही नहीं, विरोधी मानते हैं। न मनुष्यमात्रके हितका विचार है, न कोई एक लक्ष्य है, न किसी प्रकारका ऐच्छिक संघटन है। सब पृथ्वीपर रहते हैं पर उसी भाँति जैसे कि किसी जंगलमें हिंस्र पशु रहते हैं। ऐसी दशामें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कहना ग़लत है कि 'मनुष्य-समाज' का अस्तित्व है। मनुष्य हैं, इतस्ततः उनके समूह फैले हुए हैं, पर यह समूह उस एक सूत्रसे बँधे हुए नहीं हैं जो इनको एक 'समाज' का अंग बना सकता है।

यदि इनमेंसे कोई एक 'समाज' अर्थात् समुदाय ले लिया जाय तो उसके भीतर भी वही समताका अभाव अर्थात् वैषम्य देख पड़ेगा। प्रत्येक समुदाय कई विरोधी समुदायोंका समूह है। प्रत्येक समुदाय दूसरे समुदायोंका विरोधी है। ज़मींनदार, कृषक, व्यापारी, महाजन, मिल-मालिक, श्रमिक, दस्तकारी करनेवाले कारीगर, छोटी नौकरियोंसे पेट पालनेवाले, ब्याजकी आयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले, यह सब पृथक् पृथक् समुदाय हैं और सबके हित भी पृथक् पृथक् हैं। प्रत्येक समुदाय अपने लाभको सामने रखता है और उस लाभकी सिद्धिके लिए दूसरे समुदायोंको नीचा दिखानेके लिए तत्पर रहता है। इनमेंसे किसी भी जनराशिका, किसी भी राष्ट्रका, संघटन बुद्धिपूर्वक, सबके हितके लिए, नहीं हुआ है।

भारतमें वर्णव्यवस्थाने एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है। कुछ लोगोंके हाथमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार है; दूसरे लोग, जो प्रत्यक्षरूपसे उनसे किसी भी गुणमें कम नहीं प्रतीत होते, इस सारे अधिकारसे वञ्चित हैं।

यदि हम इन छोटे समुदायों, कृषक या वणिक् समुदाय, ब्राह्मण या शूद्र समुदाय, के भीतर प्रवेश करते हैं तो भी वही दशा देखते हैं। बुद्धिसंगत संघटनका अभाव है। समुदायका प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्तिका प्रतियोगी है; प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरोंको दबाकर उनसे अपना काम निकाले।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका अर्थ यही निकला कि मनुष्योंमें इस समय कहीं भी एक साथ मिलकर काम करनेका, एक ध्येयको सामने रखकर संघटित रूपसे अपनी अपनी शक्तिके अनुसार उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए काम करनेका, अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ परोपकारी व्यक्ति लोकसंग्रह-भावसे काम करते देख पड़ते हैं परन्तु ऐसे लोग अपवाद मात्र हैं। अधिकांश मनुष्य और मनुष्य-समुदाय केवल अपने प्रत्यक्ष स्वार्थको सामने रखकर काम करते हैं और दूसरोंको दबाकर अपने हितोंके साधनका प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि पृथ्वीपर मनुष्य तो हैं पर मनुष्य-समाज नहीं है। इस समय 'समाज' एक कल्पना मात्र है। विशेष उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए अस्थायी गुट बन जाते हैं परन्तु स्थायी बुद्धिमूलक संघटन, जिसमें लक्ष्यकी एकता, श्रमका और पारिश्रमिकका विभाग तथा एकके प्रयत्नका दूसरेके प्रयत्नके साथ सहयोग हो, नहीं है। न तो किसी छोटे क्षेत्र, किसी समुदाय, किसी राष्ट्र, के भीतर समाजके लक्षण देख पड़ते हैं, न व्यापकरूपसे पृथ्वीभरके मनुष्योंमें।

इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम देख पड़ता है। वह है घोर, निरन्तर संघर्ष और अशान्ति। सबका हाथ सबके विरुद्ध उठा हुआ है। व्यक्ति व्यक्तिमें, समुदाय समुदायमें, राष्ट्र राष्ट्रमें, संघर्ष है। सब अपनी अपनी समझके अनुसार अपना भला चाहते हैं और, मुँहसे कहें या न कहें, सबका यह विश्वास है कि बिना दूसरोंको दबाये अपना भला नहीं हो सकता। इस प्रकार दूसरों-से होड़ करके, उनको दबाकर, अपनी जो भलाई की जाती है वह स्थायी नहीं होती। जो एक आगे बढ़ता है उसके दस शत्रु हो जाते हैं क्योंकि उसके आगे बढ़नेमें उनकी क्षति होती है। वह शत्रु आपसमें मिलकर उसको नीचे गिराते हैं और फिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपसमें लड़ते हैं। क्या व्यक्ति, क्या व्यक्तिसमूह, सर्वत्र यही तमाशा देख पड़ता है। मनुष्योंका जीवन एक विशाल युद्धक्षेत्र है। परन्तु साधारण युद्धक्षेत्रमें सैनिक स्वतंत्र नहीं होते, सब किसी न किसी अधिकारीके अधीन होते हैं, उनका संघटन बुद्धिपूर्वक होता है और उनका तात्कालिक लक्ष्य एक होता है। परन्तु जीवनके इस विशाल क्षेत्रमें इस बातका अभाव है। न लक्ष्यकी एकता है, न बुद्धिसंगत संघटन है, केवल अपने अपने क्षणिक स्वार्थके लिए संघर्ष है और संघर्षके फलस्वरूप अशान्ति है।

यह लड़ाई पागलोंकी भाँति लड़ी जा रही है। स्वार्थकी अग्निमें मनुष्य अपनी बहुमूल्यसे बहुमूल्य सम्पत्ति भस्म कर रहा है। उदाहरणके लिए, विज्ञानको लीजिये। विज्ञान मनुष्यके मस्तिष्कका उत्कृष्टतम निष्कर्ष है। हवा, पानी, आग, बिजलीको वशमें करना, रोगके कीटाणुओंको पहिचानना, नये नये फल निकालना, थोड़ेसे परिश्रमसे बड़े बड़े काम कर डालना—यह सब इस युगकी विशेषता है। पर यह विज्ञान आज विषैली गैस, विस्फोटक, बम, बनानेके काममें लगाया जा रहा है। जिन आविष्कारोंसे सबका भला हो सकता है, उनका दुरुपयोग व्यक्ति या समुदाय या राष्ट्रविशेषके स्वार्थके लिए किया जा रहा है। पर यह एक ऐसा खेल है जिसे सभी खेल सकते हैं। अतः सभी देशोंके विज्ञानाचार्य्य अपनी विद्वत्ताका उपयोग मनुष्योंके संहारके लिए करनेमें प्रयत्नशील हैं। विज्ञानने मनुष्योंमें भ्रातृभावका संचार भले ही न किया हो पर दिक्कालके बन्धनोंको तो ढीला कर ही दिया है। अतः लोग भलेके लिए न सही, बुरेके ही लिए एक दूसरेको पहिलेसे अधिक प्रभावित करते हैं और अशान्ति अधिक भीषण रूप धारण करती जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह लड़ाई केवल भौतिक क्षेत्रमें नहीं लड़ी जाती। लोग अपने स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए केवल तोप, तलवार, बम और लाठीसे काम नहीं लेते। कूटनीति, चालाकी, 'तिकड़म' बड़े कामकी चीज़ें हैं, पर यह भी पर्याप्त नहीं है। व्यक्तियोंका काम इतनेसे चल सकता है क्योंकि व्यक्तियोंका जीवन थोड़ा होता है, उनके झगड़े भी जल्द ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु मनुष्योंके कुछ ऐसे समुदाय हैं जो व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी से हैं। उनका संघर्ष दूसरे समुदायोंके साथ बराबर ही चलता रहता है। उनके 'हित' संकुचित हैं, स्वार्थमूलक हैं पर एक प्रकारसे नियत और स्थायी हैं। ऐसे समुदायोंने एक विशेष प्रकारके शास्त्रोंकी सृष्टि की है। इन्होंने अपने अपने लिए विशेष 'दर्शनों' या 'सिद्धान्तों' का आविष्कार किया है। इनकी लड़ाइयाँ बौद्धिक क्षेत्रमें लड़ी जाती हैं। पहिले शास्त्रकी लड़ाई होती है, तब शस्त्रसे काम लिया जाता है। ज़मीनदारों, मिल-मालिकों, मज़दूरों, गोरी जातियों, अंग्रेज़ों, जर्मनों, सबका अपना शास्त्र है। विद्वानोंका एक दल बड़ी गम्भीरतासे यह सिद्ध करता है कि संसारकी उन्नति इसी बातपर निर्भर है कि सारा अधिकार पूँजीपतियोंके हाथमें रहे। दूसरा दल ठीक ऐसी ही बात मज़-दूरोंके लिए कहता है। तीसरा दल अंग्रेज़ोंको उन्नतिकी धुरी बताता है और चौथा दल प्रगतिके केन्द्रको जर्मनीमें बतलाता है। यह सब तो ठीक नहीं हो सकते पर इतिहासकी पुस्तकें, अर्थशास्त्र और दर्शनकी पोथियाँ, निबंध, पद्य सब इसी दृष्टि-कोणसे लिखे जाते हैं। इस प्रकारके प्रचार-कार्यमें विपुल धन-राशि लगायी जाती है। इससे कुछ तो विपक्षियों या तटस्थोंपर प्रभाव पड़ता है, कुछ अपने पक्षवालोंका बल बढ़ जाता है। 'मैं उन्नति-पक्षका सैनिक हूँ, जगत्-हितके लिए लड़ रहा हूँ' ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्वास हो जानेसे, चाहे विश्वास कितना ही निराधार हो, लड़नेवालेका उत्साह बढ़ जाता है। मनुष्योंमें समाज नहीं है परन्तु प्रत्येक समुदायने अपनेको यह समझ रखा है कि उसके ही हाथों समाजकी स्थापना होगी।

इस कलहमय जीवनका एक और परिणाम देख पड़ता है। चारों ओर 'मिथ्यात्व', झूठ, का व्यापार फैल रहा है। जो बात नहीं है उसको कह देना मात्र झूठ नहीं होता। आजकल कबीरके शब्दोंमें झूठ ओढ़ना, बिछौना, चबैना हो रहा है। किसी व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रको किसी दूसरे व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रकी नीयतका विश्वास नहीं है। मनुष्यके नैसर्गिक गुणोंका बहुत कम समादर है। विद्वान् और कलाकार उन लोगोंके आश्रित हैं जो दूसरोंको दबाकर आगे बढ़नेमें समर्थ हुए हैं। जो दूसरोंकी सबसे अधिक सेवा कर सकता है उसकी नहीं वरन् उसकी पूजा होती है जो दूसरोंके हितोंको पीछे करके अपने स्वार्थका साधन करता है। प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथ व्यक्तियों और समुदायोंके धर्मों अर्थात् कर्तव्योंका उल्लेख करते थे। आजके दिन सबको अपने अधिकारोंकी धुन है; कर्तव्यक्षेत्र नहीं, अधिकार-क्षेत्र बढ़ानेके पीछे सभी पागल हो रहे हैं।

इसी व्यापक अविश्वास, अशान्ति, प्रतियोगिताका यह परिणाम है कि जगत्का वातावरण कलहमय हो रहा है। कहीं हड़ताल हो रही है, कहीं खेत उजड़ रहे हैं, कहीं कारखाने बन्द हो रहे हैं; एक ओर स्वतंत्र देश गुलाम बनाये जा रहे हैं, दूसरी ओर बड़े बड़े शक्तिशाली राज आपसमें टक्कर ले रहे हैं, तीसरी ओर यादवीय मची हुई है और चौथी ओर विद्रोहकी आग भभक रही है। किसीको कलका भरोसा नहीं है। विज्ञानने उपजको सौगुना बढ़ा दिया है। जहाँ एक थानका बुनना कठिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था, वहाँ बातकी बातमें हज़ारों थान बुने जाते हैं। जिस भूमि-पर अन्नकी एक बाल नहीं उग सकती थी वहाँ अब खेत लहराते हैं। पृथ्वीके एक कोनेमें पैदा हुई वस्तु सुगमतासे दूसरे कोनेतक पहुँचायी जा सकती है पर यह सब होते हुए नंगों, भूखों, बेकारोंकी संख्या ज्योंकी त्यों है, वरन् बढ़ गयी है। जितनी धन-राशि अब देख पड़ती है उतनी पहिले कभी सुन भी नहीं पड़ती थी परन्तु निर्धनोंकी संख्या द्रुत वेगसे बढ़ती जाती है। पृथ्वी-पर जितनी भौतिक सामग्री है उसका सदुपयोग नहीं हो रहा है। किसी प्रकारका संघटन नहीं है; समाज नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने किसी पुराणसे लेकर कलियुग-का चित्र खींच दिया है। क्या किया जाय, वर्तमान समयमें वस्तुस्थिति ऐसी ही है।

बाकुनिनने एक जगह कहा है "समाज व्यक्तिसे पहिले है। ···मनुष्य तभी मनुष्य होता है और उसकी विवेक-बुद्धि तभी जागरित होती है जब वह समाजमें अपने मनुष्यत्वका अनुभव करता है। उस दशामें भी वह समाजके सामूहिक कामों द्वारा ही अपनेको व्यक्त कर सकता है। ···समाजकी सीमाके बाहर मनुष्य सदैव जंगली पशु बना रहेगा।" आज नरराशि समाजके रूपमें संग्रथित नहीं है, इसीलिए मनुष्य स्वार्थी बनैला पशु हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा अध्याय

धर्म्म, सदाचार, राज और सभ्यता

ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो वर्तमान जगत्के उस स्वरूपको न स्वीकार करें जो पिछले अध्यायमें अंकित है, पर यह आक्षेप कई लोगोंको हो सकता है कि यह कहना कि मानवजीवन सर्वथा असंघटित है अनुचित है। मैं यहाँपर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं ऐसा नहीं कहता कि किसी प्रकारका संघटन है ही नहीं। संघटन तो थोड़ा बहुत है पर ऐसा और इतना नहीं है कि उसके द्वारा मनुष्योंकी जाति 'मनुष्य-समाज' बन सके।

जो लोग इस कथनसे सहमत नहीं हैं वह विशेषरूपसे तीन शक्तियोंका नाम लेते हैं जो उनकी सम्मतिमें मनुष्योंको एक सूत्रमें बाँधकर 'समाज' की सृष्टि, कमसे कम रक्षा, करती हैं। इनके नाम हैं धर्म्म, सदाचार और राज।

धर्म्म शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। 'धारणाद्धर्म्म इत्याहुः', 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' इत्यादि इसकी प्राचीन व्याख्याएँ हैं। तात्पर्य्य यह है कि जिसके द्वारा प्रजाका धारण हो, जिसके द्वारा प्रजा समृद्ध और सुखी हो, जो प्रजाको एक सूत्रमें बाँधकर रखे, वह धर्म्म है। यदि धर्म्मका यही अर्थ है तो यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म्म मनुष्योंको बाँधे हुए है। ऐसा कहनेमें एक तो पुनरुक्ति दोष आता है क्योंकि इसका इतना ही अर्थ हुआ कि जो समाजको बाँधता है वह बाँधे हुए है। दूसरा बड़ा दोष प्रकरणसम है। इस बातका प्रमाण क्या है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रजाको कोई भी समृद्धिकारी सूत्र बाँधे हुए है। हम तो अभी तक यही देखते आये हैं कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं।

एक चीज़ है जिसे लोग प्रायः धर्म्मके नामसे पुकारा करते हैं: मज़हब। मज़हबको सम्प्रदाय कह सकते हैं। मज़हब एक तो नहीं है परन्तु प्रत्येक मज़हबके लाखों, प्रत्युत करोड़ों, अनुयायी हैं और कुछ बातें सभी मज़हबोंमें पायी जाती हैं। इसलिए ऐसा विचार उठ सकता है कि मज़हब मनुष्योंको एकमें मिलाकर समाजके रूपमें संघटित कर रहा है।

इस समय दो प्रकारके सम्प्रदाय हैं। कुछमें, जिनका सबसे अच्छा उदाहरण ईसाई सम्प्रदाय है, आभ्यन्तर संघटन है। नीचेसे लेकर ऊपरतक सरकारी ढंगसे कर्मचारी नियुक्त हैं। इनके दर्जे बँधे हुए हैं, आमदनी नियत है, नियुक्ति और वियुक्ति तथा पदवृद्धिके नियम बने हुए हैं। दूसरे प्रकारके सम्प्रदायोंमें, जिनका उदाहरण हिन्दू सम्प्रदाय है, इस प्रकारका कोई संघटन नहीं है। इन दोनों प्रकारके सम्प्रदायोंमें दो बातें होती हैं; किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका कुछ उपदेश दिया जाता है और अपने सम्प्रदायवालों तथा दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके कुछ नियम बतलाये जाते हैं। उपासना या तो ईश्वरकी होती है या तदधीन किसी देव-देवीकी। 'ईश्वर' की व्याख्या अनेक प्रकारसे हो सकती है। शारीरक सूत्रके 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रका जो भाष्य शंकराचार्य्यने किया है उसके अनुसार ईश्वर मायाशबल ब्रह्म है; रामानुजके अनुसार वह जीवाजीवकी समष्टि है; गौतमकणादके मतानुसार वह जीवोंके संचित कर्म्मोंके अनुसार उनको फल-भोगकी प्राप्ति करानेवाला जगत्का साक्षी और आरम्भक है; योगके अनुसार वह क्लेशादिसे अस्पृष्ट पुरुषविशेष मात्र है; इस्लाम और ईसाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मज़हबके अनुसार वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' में समर्थ जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक है। सचमुच ईश्वर है भी या नहीं यह विवादास्पद है, परन्तु यदि ईश्वर है तो उसके सम्बन्धमें इतने प्रकारके विचार घोर बुद्धिभेद उत्पन्न करते हैं। दार्शनिकोंको इस प्रकारके बुद्धिभेदमें भले ही रस मिलता हो पर साधारण मनुष्य तो घबरा उठता है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अनुयायियोंमें चाहे जैसा ऐक्य उत्पन्न करे परन्तु विभिन्न सम्प्रदाय लड़ते रहते हैं। सम्प्रदायोंके आचार सम्बन्धी उपदेश भी एक-से नहीं हैं। कौन स्पृश्य है, कौन अस्पृश्य, क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य, अन्य मतावलम्बीकी शुद्धि करके उसे अपने सम्प्रदायमें मिलाना चाहिये या नहीं, कर्म्मोंके फलका कैसे भोग होता है, विवाह किस प्रकार होना चाहिये इत्यादि अनेक प्रश्नोंके उत्तर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न रूपमें देते हैं। इन्हीं सब बातोंका यह परिणाम है कि सम्प्रदायके भेदके नामपर लाखों मनुष्य बलि होते हैं और आपसमें कलह मचा रहता है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंको यह विश्वास है कि इनको सीधे ईश्वरसे आदेश मिला है पर हिन्दूका ईश्वर एक बात कहता है, मुसलमानका दूसरी और ईसाईका तीसरी। इटलीकी सेना अबीसीनियापर आक्रमण करती है और उभय पक्ष ईश्वर, ईसा और ईसाकी मातासे विजयकी प्रार्थना करते हैं। आज मज़हबके नामपर लोग जलाये नहीं जाते परन्तु सैकड़ों फिर भी इसी द्वारसे यमलोक जाते हैं। ईश्वरकी किसी विशेष ढङ्गसे पूजा करनेसे सैकड़ों-हज़ारोंकी जीविका बनती है, सैकड़ों-हज़ारोंकी जीविका छिनती है। ईश्वरको न मानने वाले सम्प्रदाय भी इस अखाड़ेमें किसीसे पीछे नहीं हैं। बौद्धोंका व्यवहार इसका प्रमाण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचारके क्षेत्रमें भी यही दशा है। मैं यह जानता हूँ कि बड़े बड़े धर्म्मप्रवर्त्तकोंने जगद्धिताय ही अपने धार्मिक आन्दोलन चलाये; यह भी जानता हूँ कि मज़हबने बहुतसे लोगोंकी पाशव प्रवृत्तियोंकी निरंकुशताको कड़े हाथों रोका है; यह भी मानता हूँ कि आज भी ऐसे लोग हैं जो अपने साम्प्रदायिक विचारोंपर सचाईसे दृढ़ हैं और इन विचारोंसे प्रेरित होकर यथाशक्ति बड़ी लगनसे लोकसंग्रहमें लगे रहते हैं; पर यह सब बातें साम्प्रदायिकताके इतिहाससे सम्बन्ध रखती हैं। इस समय तो इनकी गिनती अपवादोंमें है। आजकल तो सम्प्रदायोंसे अनाचारको ही सहायता मिलती है।

ऐसे लाखों व्यक्ति हैं जो बड़े ही भक्त हैं। भगवन्नाम-जप, भगवत्कथा-कीर्तन, के समय प्रेमगद्गद हो जाते हैं, अपने आपको भूलकर प्रेमावेशमें नाच उठते हैं। मन्दिर, मस्जिद या गिरजा बनवानेके लिए श्रद्धालुओंसे लाखों रुपये मिल जाते हैं; यज्ञ, साधुभोज और विधर्म्मियोंकी शुद्धिके लिए रुपयेकी धारा बहती ही रहती है। आयु थोड़ी है और शरीरके अवयवोंकी संख्या भी बँधी हुई है। इसलिए रुपये देकर जप, व्रत आदि करनेके लिए आदमी रख लिये जाते हैं। उनके किये हुए सत्कर्मोंका फल धनदाताको होता है। यह सब तो है पर जप और पूजा महाजनोंको गरीबोंका गला दबाकर, उनके घर बिकवाकर ब्याजके नामपर तबाह करनेसे नहीं रोकती। खराब माल बेचने और एकका चार मुनाफ़ा लेनेसे मज़हबमें फ़र्क नहीं आता। करोड़ोंकी सम्पत्तिके स्वामी मठाधीश भी अपनेको त्यागी साधु कहते हैं। लोगोंके रक्तको चूसकर जो रुपया आता है उसमेंसे चार पैसे दानके रूपमें लौटा देनेसे स्वर्गका सौदा पक्का हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कहा जाता है कि ईश्वरके सामने सब बराबर हैं। 'विद्या विनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनिचैव श्वपाकेच' विद्वान् लोग समदर्शी होते हैं। जहाँतक शास्त्रार्थकी बात है वहाँतक तो समदर्शन निर्विवाद है परन्तु व्यवहारमें इसका पता नहीं चलता। व्यवहारमें तो समुदाय समुदायके लिए दूसरा मज़हब है। हिन्दुओंका ईश्वर करोड़ों हिन्दुओंको अपने सामने आने ही नहीं देता। उनको मन्दिरोंमें जानेका अधिकार ही नहीं है। जब किसी राजा महाराजा, सेठ-साहूकारके आ-जाने पर इतर लोग धक्के देकर हटाये जाने लगते हैं उस समय साम्प्रदायिक समदर्शिता थोड़ी देरके लिए आँखें बन्द कर लेती है। ईसाई और इस्लाम मज़हब वर्णभेद नहीं मानते पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनमें ऊँचे-नीचेका भाव नहीं है। भेद इतना ही है कि उसका स्वरूप दूसरा है। यह भी स्वीकार करना होगा कि इस दृष्टिसे इस्लाममें व्यावहारिक समता अधिक है। ग़रीबका मज़हब दूसरा है और अमीरका दूसरा। ग़रीबको तो गला फाड़ फाड़कर 'सन्तोष'का पाठ पढ़ाया जाता है; उससे यह कहा जाता है कि उसकी वर्तमान दुर्दशा उसके पूर्व जन्मके कृत्योंका फल है या ईश्वरकी ओरसे उसकी परीक्षा है। वह इस प्रारब्ध या किस्मतसे लड़ नहीं सकता। दैवी व्यवस्थासे सर टकराना और विपत्ति मोल लेना है। इस लिए उसे चुपचाप सब कुछ सह लेना चाहिये। इस सन्तोषका फल उसे अगले जन्म या स्वर्गमें मिल रहेगा। परन्तु अमीर और वलीके लिए सन्तोषकी शिक्षा नहीं है। वह चाहे जैसे और जितना धन उपार्जन करे, अधिकारका उपयोग करे। निर्धनके धन और निर्बलके बल कोई भगवान् हैं ऐसा कहा जाता है। यदि हैं तो उनसे किसी बलवान् या धनीको कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशंका नहीं है। वह उनके दरबारमें रिश्वत पहुँचानेकी युक्तियाँ जानता है। पर उनका नाम लेनेसे दुर्बल और निर्धनका क्रोध शान्त हो जाता है। जो हाथ सतानेवालोंके विरुद्ध उठते वह भगवान्‌के सामने बँध जाते हैं। आँखोंकी क्रोधाग्नि आँसू बनकर ढल जाती है। वह अपनी कमर तोड़कर भगवान्‌का आश्रय लेता है। इसका परिणाम कुछ भी नहीं होता। उसके आर्त्त हृदयसे उमड़ी हुई कम्पित स्वरलहरी आकाशमण्डलको चीरकर भगवान्‌के सूने सिंहासनसे टकराती है। टकराती है और ज्योंकी त्यों लौटती है। कबीर साहबके शब्दोंमें 'वहाँ कुछ है नहीं, अरज अंधा करे, कठिन डंडौत नहिं टरत टारी'। आज हज़ारों कुलवधुओंका सतीत्व बलात् लुट रहा है, हज़ारोंको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिए अबलाका एक मात्र धन बेचना पड़ रहा है, लाखों बेकस निरीह राजनीतिक और आर्थिक दमन और शोषणकी चक्कीमें पिस रहे हैं पर जो भगवान् कभी खम्भे फाड़कर निकला करते थे और कोसोंतक चीर बढ़ाया करते थे वह आज उस कलाको भूल गये और अनन्तशयनका सुख भोग रहे हैं। फिर भी उनके नामकी लकड़ी दीनदुखियोंको थमायी जाती है। जो लोग ऐसा उपदेश देते हैं वह खूब जानते हैं कि अशान्तोंको क़ाबूमें रखनेका इससे अच्छा दूसरा उपाय नहीं है। जो दुखी है वह और दुखी होता जाय, जो सुखी है वह निष्कण्टक सुख भोगता रहे, धर्म्म-सञ्चालित संसारके लिए इससे उत्कृष्ट और क्या नियम होगा!

सबसे विलक्षण बात तो यह है कि यह सब अन्धेर मचता रहता है, दुर्बल और निर्धन व्यक्तियों तथा समुदायोंका शोषण और उत्पीड़न जारी है, पर कोई धर्माध्यक्ष चूँ नहीं करता। अबीसीनियामें इटलीकी ओरसे लाख दुष्टता हो परन्तु इटली-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वालोंके धर्मगुरु पोप उनका खण्डन नहीं करते। ब्रिटिश साम्राज्यमें चाहे जो होता हो परन्तु ब्रिटेनके बादशाह 'डिफ़ेण्डर आव दि फ़ेथ' (प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायके रक्षक) बने रहते हैं। प्रजाकी बहिन-बेटियोंकी इज़्ज़तका अपहरण करनेवाला भारतीय नरेश भी धर्मावतार ही कहलाता है। कोई ब्राह्मण पुरोहित किसी अनाचारी नरेश, ज़मींदार, महाजन, शासकसे नहीं कहता कि तुम अधर्मी हो, मैं तुम्हारे यहाँ धर्मकृत्य नहीं कराऊँगा, तुम्हारा अन्न नहीं ग्रहण करूँगा। स्वयं इन धर्मव्यवसायियोंकी जीविकामें कोई हस्तक्षेप कर बैठे तब तो दूसरी बात है, अन्यथा क्या भारतमें, क्या भारतके बाहर, धर्माचार्य बराबर सरकार, बलवान् और धनवान्का ही साथ देते हैं। मैं यह जानता हूँ कि भृगु और अंगिरा, बुद्ध और शङ्कराचार्य ऐसा कदापि न करते। यदि शाप देकर भस्म न कर पाते तो कुछ ऋषि-मुनि अत्याचारीको उसी तरह मार डालते जिस तरह राजा बेन मारा गया था। ऐसा भी माना जा सकता है कि आज भी ऐसे पंडित, संन्यासी, मुल्ला, पादरी हैं जो इस व्यापक अनाचारसे व्यथित हैं पर धर्मदीक्षा भी व्यवसाय है और पुरस्कार देनेवालों अथच दण्ड देनेकी सामर्थ्य रखनेवालोंके विरुद्ध आवाज़ उठाना कठिन है।

मज़हबने दम्भका जो वातावरण फैला रखा है उसमें उन्नतिका दम घुटता है। अत्याचार, अनाचार, शोषण, उत्पीड़न चाहे जितना सक्रिय दुष्कर्म हो, चाहे चुप्पी साधकर आततायीको कितना भी प्रोत्साहन दिया जाय, पर नाम ईश्वरका ही लिया जायगा; दुहाई वेद, क़ुरान, इञ्जीलकी ही दी जायगी। जो काम किया जाता है वह धर्मके प्रचारके लिए। जिसको देखिये वही सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, समता और विश्वशान्तिका

स–२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपासक है। जो स्वेच्छाचारी शासक है वह ईश्वरका विनम्र निःस्वार्थ सेवक है। प्रत्येक शोषण शोषितके हितके लिए होता है।

इस अवस्थाको देखकर यह मानना पड़ता है कि धर्म-प्रवर्तकोंका उद्देश्य कुछ भी रहा हो और सम्प्रदायोंका इतिहास कुछ भी बतलाता हो, इस समय तो मज़हब विघातक शक्तिका काम कर रहा है। जैसा कि एक प्रसिद्ध समाजवादीने कहा था—'मज़हब लोगोंको बेहोश करनेकी दवा है और समृद्ध लोग इसी कामके लिए धर्माचार्योंके द्वारा इसका उपयोग कराते हैं'। वर्तमान समयमें मज़हबमें इतनी क्षमता नहीं है कि वह लोगोंको एक सूत्रमें बाँध सके, अतः वह मनुष्य-समाजका साधक नहीं हो सकता।

दूसरी चीज़, जो मनुष्योंको संघटित करनेवाली बतलायी जाती है, सदाचार है। सत्पुरुष, श्रेष्ठ, शिष्ट लोग जो आचरण करें वही सदाचार है। सदाचारके कई आधार हो सकते हैं। एक आधार तो मज़हब है पर यह आधार बड़ा दुर्बल है। मज़हब एक स्वरसे नहीं बोलता। ईश्वरने विभिन्न मतानुयायियोंको विभिन्न उपदेश दे रखे हैं। जगज्जनक होकर भी बलि और कुरबानीसे प्रसन्न होता है। एक ओर विश्वेश्वर बनता है, दूसरी ओर विधर्मियों और कभी कभी स्वधर्मियोंको मार डालने तकका उपदेश देता है। एक ही अपराधके लिए अलग अलग लोगोंको अलग अलग दण्ड देता है और एक ही सत्कर्मके पुरस्कार भी अलग अलग देता है। अपने भक्तोंके लिए क़ानूनकी पोथीको बेठनमें बन्द करके रख देता है। ऐसी दशामें मज़हबके आधारपर कोई सार्वदेशिक स्थिर सदाचार-नियम नहीं बन सकता। जो आचरण स्वर्गके लालच या नरकके भयसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बरता जाता है उसको यदि सदाचार कहा जाय तो जेलका क़ैदी सदाचारियोंमें अग्रगण्य हो जायगा।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मनुष्यमें कोई ऐसी दैवी शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य-असत्य, सुकृत्य-कुकृत्य, में विवेक कर सकता है। परन्तु थोड़ा सा विचार करनेसे प्रतीत होगा कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति नहीं है जो सदैव एक स्थिर और स्फुट आवाज़से बोलती हो। भिन्न-भिन्न देशों और समयोंमें, एक ही देशमें भिन्न-भिन्न समयोंमें, एक ही देश और कालमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें विभिन्न प्रकारकी प्रेरणाएँ उठती हैं। इसलिए ऐसी प्रेरणाके आधारपर स्थायी सार्वभौम नियम नहीं बन सकता।

वस्तुतः सदाचारका एक ही आधार है—मनुष्यकी बुद्धि। जिस प्रकार बुद्धि यह निश्चय करती है कि दो और दो मिलकर चार होते हैं या पाँच, उसी प्रकार वह इसकी भी विवेचना करती है कि अमुक परिस्थितिमें किस प्रकार बरतना चाहिये। बुद्धि है तो व्यक्तिकी सहोदर। जन्मना सबकी बुद्धि एक सी नहीं होती। पर जैसी कुछ भी बुद्धि-सामग्री लेकर कोई व्यक्ति जन्म लेता है उसका विकास होना सम्भव है। यह विकास उस व्यक्तिकी परिस्थितिपर निर्भर है। जैसे राजनीतिक, आर्थिक, कौटुम्बिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक और सामाजिक वातावरणमें कोई व्यक्ति पलता है उसीके अनुसार उसकी बुद्धि होती है और उस अपनी बुद्धिके अनुसार ही वह दूसरोंके साथ आचरण करता है। यह ठीक है कि मनुष्यकी कई प्रमुख जातियोंकी उन्नति कुछ दूर तक एक सी हुई है, इसलिए सदाचारके नियम भी मिलते-जुलतेसे हैं। इस दृष्टिसे सदाचारके नियमोंमें यह शक्ति थोड़ी सी है कि मनुष्योंको एकमें बाँधें। पर इस शक्तिकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। जहाँतक कोई संघर्ष नहीं उठता वहाँतक शरीफ़, सज्जन, बनना सुकर है। छोटी छोटी बातोंमें दब जाना भी शोभाकी बात है। पर जब स्वार्थोंमें टक्कर होती है उस समय यह ऊपरी रंग उड़ जाता है क्योंकि जो बुद्धि आचरणका स्रोत है वही स्वार्थसे कलुषित हो उठती है। उस समय न मज़हब काम देता, न हृदयमें ईश्वरकी आवाज़ सुन पड़ती है। राष्ट्रोंके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ विभिन्न हैं इसलिए उनका आचरण भी साधारण शिष्टाचारकी कसौटीपर नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार व्यक्तियोंके स्वार्थ भिन्न हैं; भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी हैं। इसीलिए आचरणमें भी वैषम्य और विरोध होता है। जिन लोगोंके हाथमें सम्पत्ति और अधिकार है वह उसको चिरस्थायी बनाना चाहते हैं, इसलिए सदाचारके नियम भी ऐसे फैलाना चाहते हैं जिनमें स्थिति उनके अनुकूल बनी रहे। उन लोगोंका आचरण इसके विपरीत होना स्वाभाविक है जो अधिकार और सम्पत्तिसे वञ्चित हैं। जो परिस्थितिको ज्यों-की त्यों रखना चाहता है और जो उसको बदलना चाहता है, दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर है, बुद्धिमें अन्तर है, लक्ष्यमें अन्तर है अतः आचरणमें भी अन्तर होगा। एक ही आचरण-नियम दोनोंको बाँध नहीं सकते।

सदाचारसे मिलती-जुलती वस्तु विधान, क़ानून, है। स्थितिको क़ायम रखनेमें क़ानूनसे बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि क़ानूनके द्वारा स्थितिको परिवर्तित करनेवालोंको दण्ड दिया जा सकता है। राजनीतिके सम्बन्धमें तो यह बात सभी देखते हैं। जो लोग सरकारको पलटना चाहते हैं वह आये दिन जेल जाते हैं, जुर्माना देते हैं, काले पानीकी सैर करते हैं या फाँसी पाते हैं। परन्तु आर्थिक क्षेत्रमें भी यही बात है। जिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगोंके हाथमें सम्पत्ति है उनका क़ानून बनानेवाली संस्थाओंमें प्रभाव है। वह ऐसे क़ानून बनवाते रहते हैं जिनसे लगान न देनेवालों या हड़ताल करनेवालोंको दण्ड दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी चालबाज़ीसे एक करोड़ रुपया एकत्र कर लेता है तो क़ानून उसकी रक्षाका ज़िम्मा लेता है। कोई भूखा आदमी उसमेंसे चार पैसे भी बिना पूछे लेले तो वह जेल भेजा जा सकता है, पर क़ानून उस भूखेको पेट भरनेका ज़िम्मा नहीं लेता। ऐसी दशामें क़ानूनके प्रति सबका एक भाव नहीं हो सकता। क़ानून सब मनुष्योंको एक सूत्रमें बाँधकर समाज नहीं बना सकता।

अन्तमें थोड़ा-सा विचार राजके विषयमें भी करना होगा। लोगोंका ऐसा विश्वास है कि राजशक्ति सर्वोपरि है, सबको समान दृष्टिसे देखती है और सबको एक सूत्रमें बाँध सकती है। पहिले तो कोई सार्वभौम राज नहीं है अतः सब मनुष्य तो एक राजकी छत्रच्छायामें बँध नहीं सकते। राष्ट्रसंघ स्वार्थी राजोंका दुष्ट गुट है और सम्भवतः अपनी घड़ियाँ गिन रहा है।

अतः हमको पृथक् राजोंपर थोड़ीसी दृष्टि डालनी चाहिये। प्राचीन कालसे ही राजसत्ताधारियोंका यह प्रयत्न रहा है कि प्रजा उनको सर्वोपरि, समदृष्टि, निःस्वार्थ और निष्पक्ष माने। बात यह है कि कोई शासक कितना ही प्रबल क्यों न हो केवल बलप्रयोगके सहारे बहुत दिनोंतक शासन चल नहीं सकता। अतः प्रजामें यह भाव उत्पन्न करना आवश्यक होता है कि राजप्रतीक अर्थात् सरकार केवल लोकहित अर्थात् सर्वहितसे प्रेरित है और उसका समर्थन करना सबका कर्तव्य है। धर्माध्यक्षोंसे राजको इसमें बड़ी सहायता मिलती रही है। राजाज्ञाको मानना धार्मिक कृत्य होगया। मनु कहते हैं 'नाविष्णुः पृथिवी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पतिः'—ऐसा कोई राजा नहीं है जो विष्णुस्वरूप न हो। मुसलमान और ईसाई सम्प्रदाय भी नरेशको ईश्वरका नायब बतलाते थे।

आज मज़हबमें न वह शक्ति है, न मज़हब और राजसंस्थामें वह पुराना नाता है। नरेश या तो मिटते जाते हैं या शक्तिक्षीण होते जाते हैं। परन्तु शासनपद्धति कुछ भी हो, राज तो हैं ही और प्रत्येक राज अपनी प्रजाके हृदयमें वही स्थान अब भी चाहता है। इसलिए प्रत्येक राज यह दिखलाना चाहता है कि वह सबका है और सबके भलेकी बात करता है। पर यह बात ठीक है नहीं। प्रत्येक देशमें, प्रत्येक राजमें, कुछ लोगोंके हाथमें सम्पत्ति और अधिकार होता है। इन लोगोंका ही राजके सञ्चालनमें प्रभाव पड़ता है। सरकार इनके ही सङ्केतपर चलती है। क़ानून ऐसे ही बनाये जाते हैं जिनसे सबसे पहिले इनके हितोंकी रक्षा हो। दाम्भिक भाषाका प्रयोग करके भले ही घोषित किया जाय कि सब कुछ सबके हितके लिए होता है पर वस्तुतः जो प्रभावशाली समुदाय होता है उसका हित—उसके हितोंकी चिर-रक्षा—ही प्रधान लक्ष्य होता है। कहीं, जैसे इस समय तिब्बतमें है, धर्म्माचार्य्योंका समुदाय शक्तिशाली है, कहीं सामन्त सरदार साधिकार होते हैं, कहीं ज़मीनदारोंका ज़ोर होता है, कहीं महाजनों और पूँजीवालोंका प्राधान्य होता है। कब और कहाँ किस समुदायके हाथमें राजसत्ता रही है यह बात उस समयके क़ानूनोंसे और शासन-व्यवस्थासे जानी जा सकती है। इसलिए राजसत्ता वस्तुतः शासक-समुदायका संघटन है और सरकार वस्तुतः शासक-समुदायकी कार्य्यकारिणी समिति है।

परन्तु जहाँ शासकवर्ग है वहाँ शासितवर्ग भी है। यह बात लोकतंत्रात्मक शासनविधानसे छिपाये नहीं छिपती। आज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रिटेन और अमेरिकामें लोकतंत्रात्मक शासन है, पार्लिमेंट और कांग्रेस चाहे जो करें ऐसा प्रतीत होता है। पर सभी जानकारोंको यह विदित है कि पार्लिमेंट और कांग्रेसकी नकेल धनिकों और सम्पत्तिवानोंके हाथमें है। प्रतिनिधि चुनकर कोई आये पर ऐसी बात नहीं की जा सकती जो इन प्रभावशाली समुदायोंको सचमुच नापसन्द हो। ऐसी दशामें ऐसे बहुतसे अवसर आते रहते हैं जब शासितोंके हितोंकी हत्या हो जाती है। इससे उनमें असन्तोष भी फैलता रहता है। सरकार कहती है कि राजकी आज्ञाका मानना प्रजाका अनिवार्य्य कर्तव्य है पर दूसरा पक्ष ऐसा नहीं मान सकता। जैसा कि लास्कीने ग्रामर आव पॉलिटिक्समें कहा है "हमारी संस्कृत बुद्धि सार्वजनिक हितके लिए जो वस्तु अपनी ओरसे अर्पित करती है उसका नाम नागरिकता है। नागरिकताका परिणाम यह हो सकता है कि हम राजका समर्थन करें पर यह भी हो सकता है कि हम उसका विरोध करें।" तात्पर्य्य यह है कि जो लोग अधिकारसे वञ्चित हैं वह ऐसा मानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

परन्तु शासक-समुदाय ऐसा नहीं मान सकता। फलतः दोनों समुदायोंमें संघर्ष बना रहता है। यह संघर्ष प्रायशः अव्यक्त रहता है। दोनों ओरसे वादप्रतिवाद होकर काम चल जाता है। पर कभी कभी स्थिति गम्भीर हो जाती है। उस समय बलप्रयोगकी नौबत आ जाती है। ऐसे अवसरपर शासित समुदायको बड़ी असुविधा होती है। उसका पक्ष कितना ही न्याय्य क्यों न हो, उसकी शक्ति बहुत कम होती है। दूसरी ओर राजकी संघटित शक्ति होती है। इसीलिए लेनिनने कहा है 'बलप्रयोगके एकाधिकारका नाम राज है'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तु, वर्तमान समयमें जब कि शासक और शासित, अमीर और ग़रीब, का विभेद है, जब कि लोगोंके स्वार्थ और 'हित' विभिन्न और परस्पर विरोधी हैं, न मज़हब, न सदाचार, न क़ानून, न राजसत्तामें मनुष्योंको एक सूत्रमें ग्रथित करके समाजके रूपमें परिणत करनेकी क्षमता है। इसलिए इनमेंसे किसीके भी द्वारा सौहार्द और शान्तिकी स्थापना नहीं हो सकती। यह चीज़ें जो देखने-सुननेमें ऐक्य और समताको बढ़ानेवाली हैं वस्तुतः आपसमें लड़ने, एक दूसरेकी बुद्धिको मोहमें डालने और एक दूसरेको दबानेका साधन हैं। इनका ही उपयोग करके लोग अपनी सम्पत्ति और अधिकारको चिरस्थायी करना चाहते हैं, इसलिए यह शान्तिके स्थानमें विग्रहका द्वार हैं।

एक चीज़ और रह जाती है। ऐसा कहा जाता है कि चाहे और कुछ न हो पर एक ऐसी निधि है जिसपर सभी या प्रायः सभी मनुष्योंका स्वत्व है। वह निधि है हमारी सभ्यता। इसके कई स्रोत हैं। भारत, फारस, बैबिलन-असीरिया, मिश्र, चीन, यूनान, रोम तथा वर्तमान यूरोपसे निकली हुई अनेक संस्कृति-धाराओंने मिलकर इसे जन्म दिया है। अनेक भेद होते हुए भी एक सभ्य भारतीय एक सभ्य अंग्रेज़ या जापानीके साथ मिलने-जुलनेमें भाईचारेका अनुभव करता है। सदाचारके नियम, साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन ऐसी डोरियाँ हैं जो हृदयोंको एक दूसरेके साथ बाँधे बिना नहीं रहतीं।

यह बात निराधार नहीं है। बौद्धिक जगत्में ऐसे कई क्षेत्र हैं जहाँ विभिन्न प्रकृतिके, विभिन्न परिस्थितियोंमें पले हुए, व्यक्ति सौहार्दपूर्वक मिल सकते हैं। आजकल विज्ञानका विकास इस क्षेत्रको विस्तृत बनाता जा रहा है। पर जो बातें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदाचार, क़ानून, राजके सम्बन्धमें कही गयी थीं वह यहाँ भी स्मरण रखने योग्य हैं। हमारे जीवनका आधार हो रहा है अपना अपना स्वार्थ। जबतक स्वार्थ नहीं टकराते तबतक हम मनुष्य हैं, नहीं तो पशु बन जाते हैं। एक ग्राहकके हाथ माल बेचनेके इच्छुक दूकानदारोंमें, एक नौकरीके इच्छुक उम्मीद-वारोंमें, एक उर्वर या खनिजपूर्ण प्रदेशको हस्तगत करनेके इच्छुक राष्ट्रोंमें, सभ्यता ढूँढ़े नहीं मिलती। ज्यों ज्यों स्वार्थोंका संघर्ष तीव्र होता जाता है त्यों त्यों सभ्यताका ऊपरी रंग उड़ता जाता है। एक समय था जब कि प्रतियोगिता इतनी तीव्र न थी। उन दिनों स्वार्थोंका संघर्ष इतना जबर्दस्त नहीं था। पृथ्वी बड़ी थी क्योंकि रेल-तारका अभाव था, जनसंख्या कम थी, दूसरोंको दबाने और अपने सुख-साधनके लिए आज जैसे वैज्ञानिक उपायोंका आविष्कार नहीं हुआ था। पर आज बिना तीव्र, निरन्तर, निरङ्कुश और निर्दय संघर्षके अपने स्वार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। आज स्वार्थ भी वैयक्तिक नहीं संघटित होता है। जैसा कि एक लेखक कहता है 'महाजन तो आदर्श-वादी और दानी हो सकता है पर बंक ऐसा नहीं हो सकता'। दानी और दयालु बंकका एक दिनमें दिवाला पिट जायगा। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सभ्यताकी दृष्टिसे मनुष्यका पतन हो रहा है। पहिलेकी नकल मात्र होती है परन्तु आजके शिक्षित व्यक्तिके आचरणमें वह शील, सौजन्य और सचाई नहीं है जो पहिले थी। हाँ, इस दृष्टिसे उसमें स्वाभाविकता अधिक है कि वह भीतरकी एषणाओंकी नग्नमूर्ति होता है। जो बुद्धि दूसरोंकी बुद्धिसे दावपेंच करते रहनेमें, दूसरोंको बेवकूफ़ बना-नेमें, दूसरोंको दबाकर अपना कुछ लाभ कर लेनेमें, बराबर लगी रहेगी वह न तो सभ्यताका विकास कर सकती है न उसको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बरत सकती है। कुछ दिनोंतक पुरानी लकीर पिटती जायगी पर धीरे धीरे मनुष्योंके चित्त असंस्कृत और असभ्य होते जा रहे हैं। चित्तकी ऐसी अवस्थामें सभ्यताका बाहरी उपकरण बहुत दिनोंतक नहीं टिक सकता। इसीलिए कहा जाता है कि यदि और महायुद्ध छिड़ गया तो वर्तमान सभ्यताका अन्त हो जायगा।

शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बुद्धिका विकास होता है। परन्तु शिक्षा स्वतंत्र नहीं है। प्रत्येक सरकार शिक्षाका नियंत्रण अपने हाथमें रखती है और उसको एक विशेष प्रकारका झुकाव देती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि शिक्षा पाने वाला स्वतन्त्र विचार करनेकी योग्यता खो बैठे और प्रत्येक प्रश्नपर उसी दृक्कोणसे अक्षपात करे जो सरकार अर्थात् राजके प्रभावशाली समुदायको अभिमत है। जैसे टकसालसे एकही साँचेके ढले सिक्के निकलते हैं वैसे ही शिक्षालयोंसे एक ही प्रकारकी बुद्धियाँ निकलती हैं।

लेखक, कवि, चित्रकार, पत्रकार इस दोषको दूर कर सकते हैं। मनुष्यके इस सामूहिक सांस्कृतिक पतनको रोकनेका प्रयत्न कुछ वही कर सकते हैं। पर वह भी ऐसा प्रायः नहीं कर रहे हैं। सम्पत्ति और अधिकारके स्वामीकी बड़ी प्रभुता है। वह सरस्वतीके इन उपासकोंको पुरस्कार और दण्ड दे सकते हैं। अप्टन सिंक्लेयरने 'मनी राइट्स' में इसके कई उदाहरण दिये हैं। स्वतंत्रचेता लेखकों, कलाकारों और पत्रकारोंको भूखों मारनेका प्रयत्न किया जा सकता है और किया जाता है। बहुत कम ऐसे लोग हैं जो इसका सामना करनेको तय्यार हैं। धर्म्म, देशभक्ति और विज्ञानकी भाँति साहित्य और कलाको भी शहीदोंकी आवश्यकता है पर शहीद मिलते नहीं। अधिकांश लोग या तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी कृतियाँ प्रकाशित करते हैं जो गुणग्राहकों—अनाचारी, अत्याचारी, परपीड़क समुदायों—में बिक जायँ या 'कलाके लिए कला' की निरर्थक आवाज़ उठाकर कल्पनाके कृत्रिम जगत्में निराधार रहस्योंका उद्घाटन और शब्दजालोंकी रचना करनेमें अपनी प्रतिभाको खो देते हैं। जैसा कि रावर्ट ब्रिफ़ाल्टने ब्रेकडाउनमें कहा है 'लालच या कायरताके कारण साहित्यने विवश होकर वर्तमान विचार-जगत्के उस क्षेत्रको छोड़ दिया है जिसमें जीवन और तात्कालिक महत्ता है और अप्रासङ्गिकता, चतुरता, झूठी प्रतिभा और ऐसी तुच्छ बातोंका आश्रय लिया है जिनकी बाज़ारमें माँग है परन्तु जो संसारके जीवनकी वास्तविकतासे पूर्णतया असम्बद्ध हैं। बादशाह नीरोकी भाँति, रोम जल रहा है और साहित्य बैठा बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कलाके सभी भेदोंकी ठीक यही दशा है।'

आजकल चरित्रका जो ह्रास हो रहा है वह सभ्यताकी जड़को और भी खोद रहा है। एक ओर वह लोग हैं जो उत्पीड़नके शिकार हैं। इस कक्षामें हिन्दू सम्प्रदायके अस्पृश्य, आधा पेट खाकर काम करनेवाले किसान, मज़दूर और दफ़्तरके बाबू, शरीर बेचकर पेट पालनेवाली स्त्रियाँ, पृथ्वीकी परतंत्र जातियाँ, यह सभी परिगणित हैं। इनके लिए सुख नहीं है। जो कुछ सुखका लवलेश इन्हें मिल जाता है उसे यह कहींसे छीन-झपटकर पा जाते हैं। इनकी दशा अपने स्वामियों और शोषकोंके सामने वैसी ही है जैसी कि छोटी मछलियोंकी मगर या शार्कके सामने होती है। धूर्तता, चालबाज़ी, खुशामदसे इनका काम निकलता है। यह आशा करना कि इनमें सत्य, क्षमा, स्वाभिमान, नैतिक वीरता पायी जायगी भूल है। इनके तो चरित्र गिराये हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी ओर इनके स्वामी हैं। उनका लक्ष्य है अपने स्वार्थोंकी रक्षा करना और इसके लिए दूसरोंसे काम लेना। वह अपने विशेषाधिकारों द्वारा वैभव प्राप्त करते और भोगते हैं। परन्तु विशेषाधिकारोंका भोगना ही घातक है। जो बलप्रयोग या बन्दरघुड़कीसे दूसरोंको दबाता रहता है वह स्वयं बलवानोंसे दब जाता है। हिन्दुओंकी ऊँची जातिवाले भंगियों और डोमोंको दूर दूर करते हैं पर अंग्रेज़ोंके पाँव चूमते हैं। जो बर्ताव दूसरोंके साथ किया जाता है धीरे धीरे वह कुछ ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपनोंके साथ भी वही स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। यूरोपकी जातियोंने एशिया और अफ़्रीकाके निवासियोंको ग़ुलाम बनाया। उनमें जहाँ जहाँ स्वाधीनताकी आकांक्षा प्रकट हुई वहाँ वहाँ उसे निर्मम होकर कुचला। पर अब वही शस्त्र घरवालोंपर चल रहे हैं। यूरोपके देश देशमें पार्लिमेण्ट और लोकतंत्रके ढोंगको पाँव तले रौंदकर अधिनायकतंत्र स्थापित किया जा रहा है। कहीं इसका स्वरूप प्रत्यक्ष है, कहीं अभी प्रच्छन्न है पर धीरे धीरे सर्वत्र यह रोग बढ़ रहा है। अधिनायकशाहीके शासनमें प्रजाके नागरिक अधिकार—वह अधिकार जिनको गोरी जातियोंने आजतक अपना ही सहज अधिकार समझ रखा है और जिनको न देना या देकर छीन लेना गोरोंने रंगीनोंके साथ अपने बर्तावका अनिवार्य्य अंग मान लिया है—लुप्त होते जा रहे हैं। जो यूरोपवाले विदेशोंमें भेड़ियों जैसा आचरण करते हैं, वही आज अपने घरोंमें भेड़ बन रहे हैं। उच्छृङ्खलताको अपना नित्यका व्यवहार बनानेवाले उसको अपने अपने देशके दैनिक जीवनका अंग बनानेमें लगे हैं। मानव-जगत् अर्थात् भेड़ों और भेड़ियोंका यह जमघट बहुत दिनोंतक सभ्यताका स्वांग नहीं निभा सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकारकी बौद्धिक अवनति सभ्यताके विकासके सर्वथा प्रतिकूल है। इसमें सभ्यताका जो कुछ आभास देख पड़ता है वह अस्थिर है और मनुष्यको समाज-रूपमें ग्रथित नहीं कर सकता।

तीसरा अध्याय

सनातन प्रश्न

पिछले दोनों अध्यायोंमें मैंने जो कुछ लिखा है उसमें कोई नयी बात नहीं है। उसकी विशेषता यही है कि वह आजकलके जगत्का सच्चा चित्र है इसीलिए प्रत्येक विचारशील मनुष्य उससे सहमत होगा। धर्म, मज़हब, क़ानून, राज, यह सब बड़े नाम हैं। इनके लिए हमारे हृदयोंमें बड़ा आदर है। इसलिए यह माननेमें चित्तको ठेस लगती है कि यह सब संस्थाएँ कुछ समुदायोंके, जो हमारे आदरके पात्र नहीं हो सकते, स्वार्थोंकी साधक हैं। बार बार दुहराना बुरा होता है, पर यह बात अच्छी तरह हृदयपर अंकित कर लेनेकी है कि इस समय विघटन ही विघटन देख पड़ता है और जो कुछ थोड़ा बहुत सम-अजन था भी उसे छोड़कर मनुष्योंका जगत् हिंस्र और स्वार्थी पशुओंकी वनस्थली बनता जा रहा है।

कुछ लोग तो इतना कहकर ही अपना परितोष कर लेंगे कि यह कलिकाल है, इसमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। परन्तु ऐसा मानकर बैठ रहना तो तामस अकर्मण्यता है। जिन लोगोंकी बुद्धि सात्विक है, उनके चित्तमें हठात् एक प्रश्न उठता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। देश-काल-पात्रके भेदसे प्रश्नके रूपमें भेद हो सकता है, उत्तरमें भी निःसन्देह भेद होता है परन्तु उसका मूल रूप एक ही है। यह वही प्रश्न है जो मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे किया था, जिसका उत्तर पानेके लिए शङ्कराचार्य संन्यासी हुए, जो कुमार सिद्धार्थके चित्तमें उठा था। वह प्रश्न आज भी प्रत्येक विचार-शील मनुष्यको क्षुब्ध करता है। आजकलके शब्दोंमें उसका स्वरूप यह हो सकता है: "संसारमें इतना दुःख क्यों है? खाद्य पदार्थोंकी अपार राशि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, मिलोंसे वस्त्रोंका पहाड़ निकल रहा है, लाखों वर्ग कोस बसने योग्य भूमि पड़ी हुई है, एक देशमें उत्पन्न वस्तु सुगमतासे दूसरे देशोंमें पहुँच सकती है, घातक रोगोंपर चिकित्साशास्त्र विजय पाता जा रहा है, फिर भी इतने नंगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यों हैं? ऐसी अन्धी प्रतियोगता किस लिए हो रही है? सुख और शान्तिके इतने साधनोंके होते हुए इतनी बेचैनी, इतनी अशान्ति क्यों है? सुखके साधन थोड़ेसे लोगोंको ही क्यों लभ्य हैं? जिस सम्पत्तिकी वृद्धिमें इतने लोगोंके हाथ लगते हैं उसका उपभोग सब क्यों नहीं कर सकते? राष्ट्रोंकी स्वतंत्रताका क्यों अपहरण किया जाता है? युद्ध क्यों होते हैं? मनुष्य, जल, वायु और विद्युत्को अपने वशमें कर सकता है, अरबों कोस दूरकी नीहारिकाओंको दृष्टिगत कर सकता है और अगोचर परमाणुओंकी गतिविधिकी गणना कर सकता है पर उसकी बुद्धि अपने जीवनको संघटित क्यों नहीं कर सकती?" हमने देखा है कि जो अशान्ति मानव-जीवनको नष्ट कर रही है उसकी तहमें स्वार्थ है। प्राचीन कालमें भी दुःखका मूल एक तृष्णा, तन्हा, बतलायी जाती थी। पर इस स्वार्थ या तृष्णाका विकास कैसे हुआ है? इस विकासको कैसे रोका जा सकता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्यको सुखी कैसे बनाया जा सकता है? किस प्रकार मनुष्य-को संघटित करके 'समाज' के रूपमें लाया जा सकता है?

चौथा अध्याय

कुछ उत्तर

जो प्रश्न पिछले अध्यायमें सामने रखा गया है उसके, जैसा कि हम पहिले भी कह चुके हैं, कई प्रकारके उत्तर हैं। जिस समस्याने इस प्रश्नको जन्म दिया है वह सनातन है, इसलिए प्रश्न भी सनातन है और प्राचीन कालसे ही बुद्धिमानोंने इसके उत्तर भी दिये हैं। यहाँ हम उन सब उत्तरोंपर विचार नहीं कर सकते परन्तु दो-तीनपर विचार करना परमावश्यक है।

पहिला उत्तर तो यह हो सकता है कि जगत्में जो कुछ हो रहा है वह कुछ दैवी शक्तियोंकी लीला है, जिसमें हस्तक्षेप करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें नहीं है। ईश्वर या तत्सम कुछ देव-गणके हाथमें जगत्का नियमन और नियंत्रण है। उनके बनाये हुए कुछ नियम हैं। उनका अनुसरण करनेसे सुख और उल्लङ्घन करनेसे दुःख होता है। बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि देवाज्ञा पालन करनेवाले दुःख और उल्लङ्घन करनेवाले सुखका अनुभव करते हैं। इसके लिए यह उत्तर है कि सुख-दुःखका हिसाब मृत्युके पीछे स्वर्ग-नरकमें पूरा होता है। इसपर एक आक्षेप यह हो सकता है कि दैवी नियमोंको पूरा-पूरा जानना कठिन है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि यह नियम किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मग्रंथमें लिखे हैं तो पृथ्वीके ऐसे बहुतसे प्रदेश हैं जिनके पास तक इन ग्रंथोंकी आवाज़ नहीं पहुँची है। जहाँ पहुची है वहाँ भी सब लोगोंकी बुद्धि ऐसी नहीं है कि सब बातें समझ सकें। अबोध बालक तो कहीं कुछ भी समझ नहीं सकते। फिर भी कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जो जन्मना दुःखी हैं। दैवी नियमोंके अनुसार तो यह होना चाहिये था कि सब मनुष्योंका एक ही परिस्थितिमें जन्म होता, सबको एक ही प्रकारसे उनका ज्ञान होता और प्रत्येक व्यक्ति यथाकृत्य पुरस्कार या दण्ड पाता। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि कर्मका प्रवाह अनादि है। मनुष्य जो कुछ एक जन्ममें करता है उसका फल जन्मान्तरमें भोगता है। अतः यदि कोई इस जन्ममें जन्मना दुःखी या अल्पबुद्धि है तो यह उसके पूर्वजन्मोंके कर्म्मोंका फल है। इसके लिए उसको सन्तोषसे काम लेना चाहिये और इस जन्ममें ऐसे कर्म्म करने चाहियें कि भावी शरीरमें दुःख न झेलना पड़े।

उपर्युक्त उत्तरमें कहाँतक सत्यका अंश है यह इन प्रश्नान्तरोंके उत्तरपर निर्भर करता है—ईश्वर है या नहीं? देवगण हैं या नहीं? जगत्के लिए कोई दैवी विधान है या नहीं? इस दैवी विधानके जाननेके साधन हैं या नहीं? पुनर्जन्म होता है या नहीं? यहाँपर मैं इन विवादास्पद विषयोंकी विवेचना नहीं करूँगा क्योंकि ईश्वरादि हों या न हों, मूल प्रश्न तो यह है कि मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थितिको बदल सकता है या नहीं?

यदि ऐसा माना जाय कि मनुष्य अपनी परिस्थितिका दास है, वह दैवी शक्तियोंका क्रीड़ाकन्दुक है तो फिर उन्नतिका मार्ग ही बन्द हो जाय। रोगीके लिए औषधोपचार करना, अशिक्षितको पढ़ाना, अपनी आयवृद्धिके लिए व्यवसाय करना यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब प्रयत्न निरर्थक हो जायँ। परन्तु पागलको छोड़कर कोई भी मनुष्य इन प्रयत्नोंसे विमुख नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि सब लोगोंको ऐसा विश्वास है कि अपनी अवस्था सुधारी जा सकती है। इस विश्वासकी दार्शनिक व्याख्या चाहे जो कर ली जाय परन्तु इसीके अनुसार काम होता है। साधु-महात्मा धर्मप्रवर्तक जो उपदेश देते हैं उसके भीतर भी यह बात मान ली गयी है कि जिसको उपदेश दिया जाता है वह यदि चाहे तो अपने जीवनके प्रवाहको पलट सकता है। परिस्थिति और प्रयत्नके संघर्षमें, सम्भव है, प्रयत्नको पूर्ण सफलता न मिले पर कुछ तो मिलेगी ही और पूर्ण सफलताकी भी सम्भावना है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने प्रारब्ध या किसी दैवी विधानका पूर्णतया दास नहीं है। उसकी परिस्थिति चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो उसको उसके बदलनेकी सामर्थ्य है। वह दास नहीं वरन् स्वतंत्र व्यक्ति है।

यह बड़े महत्त्वकी बात है। इससे मनुष्योंकी सुदशा-दुर्दशाकी कुंजी उनके ही हाथोंमें आ जाती है। जो बात एक व्यक्तिके लिए सत्य है वह समूहके लिए भी सत्य है। यदि एक व्यक्ति अपनी परिस्थितिको बदलनेका प्रयत्न कर सकता है तो समुदाय भी कर सकता है और समुदायके प्रयत्नमें सफलताकी भी अधिक सम्भावना है। 'संघे शक्तिः' यह बड़ा ही सच्चा सिद्धान्त है। संघकी कार्यशक्ति अपने अवयवोंकी शक्तियोंका घनफल नहीं वरन् गुणनफल होती है।

प्राचीन आर्य्यदर्शनने तो इस बातको बराबर ही माना है। प्रारब्ध अर्थात् पूर्वसञ्चित कर्म्मोंके कुछ परिपक्व भागके संस्कारोंकी प्रधानता, अर्थात् उनके द्वारा मनुष्यकी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियोंके बँधे होने, को स्वीकार करते हुए भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने मनुष्यको स्वतंत्र माना है। दूसरे लोगोंने ऐसा स्पष्ट कहा हो या न कहा हो पर यदि वह मनुष्यको स्वतंत्र न मानेंगे तो फिर उसको पुरस्कार या दण्ड दिया जाना दैवी नियमोंका आततायीपन होगा। 'स्वतंत्र' का अर्थ केवल इच्छा करनेकी स्वाधीनता नहीं वरन् प्रयत्न करनेकी भी स्वाधीनता है और प्रयत्नका अर्थ है सफलताकी सम्भावना।

यह मानते हुए देखना यह है कि इसके आधारपर लोगोंको उपदेश क्या दिया गया। दुःखका अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। उसका स्वरूप दिखलाकर ही वैराग्यका उपदेश दिया जाता है। दुःखकी निवृत्तिके लिए कुछ तो किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका आदेश है। उसपर हम यहाँ विचार नहीं कर सकते। उपासकोंका ऐसा विश्वास है कि उपासनासे आगन्तुक दुःख रोका और आगत दुःख दूर या कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बतलाया जाता है उसका निचोड़ है सन्तोष और आत्मसंयम।

सन्तोष न तो आनेवाले दुःखको दूर कर सकता है न आये हुए दुःखको; तनुपर उसका प्रभाव वही होता है जो बेहोशीकी दवाका, अफीमका, होता है। दुःखकी चोट कम लगती है या लगती ही नहीं। यदि कोई अपनेको यह समझा सके कि मुझे दुःख सहना ही है, यह दुःख टल नहीं सकता तो फिर वह अपनेको यह भी समझायेगा कि रोना व्यर्थ है, इसे शान्तिपूर्वक सह लूँ। अपनेको ऐसा समझाना उसका कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि इससे दुःखकी कटुता कुछ कम हो जाती है। यदि नश्तर लगकर शरीरका कोई अंग कटना ही है तो बेहोशीकी दवा सूँघकर पीड़ा तो कुछ कम कर लेनी ही चाहिये। इसी प्रकार यदि वह दुःख जिनसे इस समय मानव-जगत् त्रस्त हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा है अनिवार्य्य हों तो सन्तोष ठीक ही है। 'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्रदोषः' की नीतिके अनुसार यदि सब प्रकारसे प्रयत्न करके भी सफलता न प्राप्त हो तो रोने-कलपनेके बदले गम्भीरतासे दुःखको सह लेना चाहिये। यह भी सन्तोषका ही स्वरूप है।

परन्तु सन्तोषका जो रूप लोगोंके सामने आता है उसका तो यह तात्पर्य है कि रोग, दारिद्र्य, विषमता, अस्पृश्यता, दासता अनिवार्य्य हैं। इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता, अतः इनके सामने सिर झुकाना ही श्रेयस्कर है।

जिस कालमें विज्ञानका शैशव था उस समय यह भाव स्यात् ठीक रहा हो। मनुष्य प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने मिट्टीका बेबस ढेर था। पर आज यह बात नहीं है। आज तो वह प्रकृतिके बहुतसे रहस्योंको जान गया है और इस ज्ञानकी बदौलत प्रकृतिपर हुकूमत करता है अर्थात् प्रकृतिसे अपना काम निकालता है। ऐसी अवस्थामें दैन्य उसको शोभा नहीं देता। बड़े बड़े रोगोंको अपने वशमें लाकर विज्ञान आज लोगोंकी जीवनाशा बढ़ा रहा है। अभी ऋतुओंपर नियंत्रण नहीं प्राप्त हुआ है परन्तु यदि किसी कारणसे सारी पृथ्वीपर एक साथ ही ऋतु-प्रकोप न हो जाय तो अनावृष्टि आदि ईतियोंसे पहिले जैसा बुरा प्रभाव अब नहीं पड़ सकता। अब रही दासता, अस्पृश्यता, दरिद्रताकी बात। यह बातें दैवी क्यों मानी जायँ? मनुष्य काना, लँगड़ा, अंधा, बहरा पैदा होता है पर अस्पृश्य, दास या दरिद्र नहीं पैदा होता। हाँ, दास, अस्पृश्य या दरिद्र बने हुओंके घरमें जन्म लेने मात्रसे भले ही वह स्वयं ऐसा माना जाने लगे। पर आजकल तो जन्मान्ध, जन्मबधिर तकके सहज दोष दूर या कम हो सकते हैं, फिर मनुष्यके बनाये यह कृत्रिम दोष क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूर नहीं हो सकते ? देखते देखते कई दास जातियाँ स्वतंत्र हो गयीं। पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षोंमें छः-सात स्वतंत्र राष्ट्रोंकी सृष्टि हुई है। मुसलमान या ईसाई बन जानेसे तो अस्पृश्यता दूर हो ही जाती थी। आजकल तो बिना सम्प्रदाय बदले भी यह दोष दूर होता जा रहा है। थोड़ेसे आन्दोलनकी कमी थी। दरिद्रता भी किसी कुल या जातिके माथेपर सदाके लिए नहीं लिखी है। यह कोई दावेके साथ नहीं कह सकता कि अमुक रोगी अवश्य अच्छा हो जायगा, अमुक दास जाति अवश्य स्वतंत्र हो जायगी, अमुक निर्धन अवश्य धनी हो जायगा पर यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न करनेसे रोगी स्वस्थ, दास स्वाधीन और निर्धन सम्पन्न हो जाते हैं। परन्तु प्रयत्न तभी सम्भव है जब रोगी, दास और निर्धन अपनी दशाको सदाके लिए दैवनिर्मित न समझ बैठें। उनको यह समझनेकी आवश्यकता है कि मनुष्योंका बलप्रयोग, मनुष्योंके बनाये क़ानून, बातकी बातमें लाखों-करोड़ोंको सम्पन्न और साधिकार, लाखों-करोड़ोंको विपन्न और निरधिकार बना देते हैं। एक ज़माना था जब नरेशोंके हाथमें सारी शक्ति थी। उनके विरुद्ध कोई चूँ नहीं कर सकता था। उनके हाथों कोई लाख सताया जाय पर उनके लिए सन्तोष ही उपाय बतलाया जाता था। आज मनुष्योंके ही प्रयत्नने नरेशोंका या तो अस्तित्व ही मिटा दिया है या उनको परकैंच कर दिया है। फ्रांसीसी क्रान्ति तथा रूसी क्रान्तिने पुराने शक्तिधरोंको मिट्टीमें मिलाकर नये समुदायोंको उनका उत्तराधिकारी बनाया। इसलिए जो दलित, प्रपीड़ित, विपन्न, अधिकार-वञ्चित है उसे सन्तोषका पाठ पढ़ाना भूल है। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य्यसिद्धि न हो तो रोना-कलपना आत्मगौरव और बुद्धिमत्ताके विरुद्ध है। असफलताको धैर्य्यसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहन करना जहाँतक सन्तोष है वहाँतक तो वह उपादेय गुण है, अन्यथा अपनी परिस्थितिसे असन्तुष्ट रहना, उसको बदलने-का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है। नीतिकी यह शिक्षा सर्वथा ठीक है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

जो उद्योगी पुरुष-सिंह है उसे ही श्री प्राप्त होती है, दैव देगा ऐसा तो कायर कहा कहते हैं।

सन्तोषका उपदेश जो लोग देते हैं उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो तोतेकी भाँति पुरानी पोथियोंकी उक्तियाँ दुहरा दिया करते हैं; उनकी तो कोई बात नहीं है, वह तो बेचारे बे-समझे-बूझे बोलते हैं पर उनके अतिरिक्त बहुतसे उपदेशक ऐसे हैं जिनका आचरण शुद्ध दम्भसे प्रेरित है। वह धनिकोंको सन्तोषकी शिक्षा नहीं देते, शक्तिशालियोंको सन्तोषका गुण नहीं सुनाते, अपना सारा उपदेश धन और अधिकारसे वञ्चितोंके लिए रखते हैं। धनी और अधिकारी मृत्यु जैसी दो-एक विपत्तियोंको छोड़कर दूसरे अवसरपर हाथपर हाथ रखकर बैठनेको तय्यार भी नहीं होता। परन्तु वह अपनेपाससे पैसे खर्च करके मन्दिर-मस्जिदमें या अपने घरपर कथा-कीर्तन कराता है और 'जनता'-को उपदेशका पाठ पढ़वाता है। सरकारें भी ऐसे उपदेशकोंकी पीठ ठोंकती हैं जो लोगोंमें सन्तोषवृत्तिको स्थिर बनानेका प्रयत्न करते हैं। सन्तोषी व्यक्ति अन्याय और उत्पीड़नको चुपचाप सहता है पर सिर नहीं उठाता। उसको यह भरोसा है कि मैं अपने कुकर्मोंका फल भोग रहा हूँ, मरनेके बाद स्वर्ग या अगले किसी जन्ममें मुझे सुख मिल ही रहेगा। फिर यदि अन्यायीको दण्ड देना ही है तो जिस भगवान्ने गजकी गुहार लगकर ग्राह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को मारा था वह आपही मेरी सहायता करेगा 'राखनहार जो है भुजचार, तो का होइहै भुज द्वैके बिगाड़े'। भुजचारको तो जो कुछ करना होगा करते होंगे पर इतना तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आजकलके ग्राह, चाहे वह महाजन, ज़मीनदार, अहलकार, सरकार जो कोई हों, निष्कण्टक मज़े करते हैं। यदि वह कथावाला ग्राह सन्तोष करके जीवनसंग्राममें विमुख हो जाता तो उसका आज कोई नाम भी न जानता।

दूसरा उपदेश आत्मसंयमका है। जिस मनुष्यको संसाराग्नि तप्त कर रही है, जो जन्ममरणके बन्धनसे मुक्त होना ही जीवनका लक्ष्य समझता है, उसके लिए वैराग्य श्रेयस्कर हो सकता है पर यहाँ हम उसके विषयमें विचार नहीं कर रहे हैं। रहा प्रश्न आत्मसंयमका। आत्मसंयम मनुष्यका भूषण है। इन्द्रियोंका दमन और वासनाओंका शमन करना प्रत्येक समझदार मनुष्यका, जो अपने मनुष्यत्वका अनुभव करना चाहता है, कर्तव्य है। विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षमें जो सुखकी प्रतीति होती है वह अस्थिर है और उस सुखका सजातीय है जो पशुपक्षियोंको भी प्राप्त है। इसके विपरीत दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा कलाके द्वारा मनुष्य जिस आनन्दका अनुभव करता है वह इतर प्राणियोंको अलभ्य है। परन्तु इस आनन्दकी प्राप्ति उसी सीमातक हो सकती है जिस सीमातक कि मनुष्य अपनेको पाशव-जीवनके ऊपर उठा सकता है अर्थात् अपने चित्तको विषयोंसे पराङ्मुख करके अन्तर्जगत्की ओर प्रेरित कर सकता है। दूसरे शब्दोंमें इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियोंपर वशी होना मनुष्योचित सुखोंकी प्राप्तिके लिए आवश्यक है। इन्द्रियोंके व्यापारका अंशतः निरोध—पूर्ण निरोधसे तो जगत्के व्यापारका ही अभाव हो जायगा—बलात् भी कराया जा सकता है। जेलका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क़ैदी बहुतसे विषयोंके उपभोगसे दूर रहता है परन्तु इससे वास्तविक लाभ नहीं होता। शरीर बेकार कर दिया जा सकता है पर चित्त घूमकर वहीं पहुँच जायगा। ज़रूरत इस बातकी है कि चित्त वशमें किया जाय। इसीका नाम आत्मसंयम है। चित्तको शून्य रखनेके विफल प्रयासकी अपेक्षा उसको किसी विषयमें लगानेसे संयममें सहायता मिलती है।

संयमके लिए संप्रदायोंने बड़ी बड़ी युक्तियाँ बतायी हैं जिनमें न्यूनाधिक उपयुक्तता भी होगी ही पर जो लोग किसी भी विषय-विशेषमें अभिरुचि रखते हैं वह प्रायः स्वयं ही आत्म-संयमका अभ्यास करते हैं। अतः यदि लोगोंको अधिक संस्कृत, कार्यकुशल या परिष्कृतबुद्धि बनानेके उद्देश्यसे आत्यसंयमका उपदेश दिया जाय तो यह सर्वथा उचित होगा। गणित, राज-नीति, साहित्य, कला, दर्शन, शिल्प, किसी भी मानसिक या शारीरिक व्यवसायमें सफलता प्राप्त करनेके लिए आत्मसंयम-की आवश्यकता है। घोर नास्तिक और अनीश्वरवादी भी अपने अपने क्षेत्रमें सिद्धिके लिए आत्मसंयमका अभ्यास करते हैं।

परन्तु जो लोग आत्मसंयमकी शिक्षा देते हैं उनमेंसे कुछ-को छोड़कर शेष उतने ही बेईमान हैं जितने सन्तोषका उपदेश देनेवाले। वह ग़रीबों और दुर्बलोंको ही आत्मसंयम सिखलाते हैं, धनिकों और बलवानोंको नहीं। विषयपरता छोटेके लिए दूषण है, बड़ेके लिए भूषण। इस प्रकारका आत्मसंयम वास्त-विक आत्मसंयमकी भाँति हितकर नहीं होता वरन् उलटे दम्भ फैलाता है।

जहाँ विपन्नोंको सन्तोष और आत्मसंयमका उपदेश दिया जाता है वहाँ उनके स्वामियोंको दानकी शिक्षा दी जाती है। उनसे यह कहा जाता है कि जो नंगे, भूखे, निराश्रय, रोगी हों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी यथाशक्य सहायता करो। प्रत्युपकारका विचार हृदयसे निकालकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे जो दान दिया जाता है वही उत्कृष्ट दान है।

जो आपन्न है, दुर्बल है, उसकी सहायता करना मनुष्यकी शोभा और उसका एक स्वाभाविक गुण है। स्वयं कष्ट उठाकर भी लोग दूसरेकी सहायता करते हैं। इससे उसका काम तो निकलता ही है जिसकी सहायता की जाती है, सहायता देनेवालेको भी लाभ पहुँचता है। उसके चरित्रका विकास होता है। कमसे कम थोड़ी देरके लिए वह अहम् और ममकी सङ्कुचित परिधिके वाहर निकलकर दूसरेके सुख-दुःखका अनुभव करता है, दूसरेके साथ तन्मयता प्राप्त करता है। अतः जहाँतक इस शुद्ध सात्विक भावसे दान दिया जाता है वह अच्छी चीज़ है।

परन्तु व्यक्तियोंमें ऐसा भाव भले ही हो, आजकल और आजकल ही नहीं, प्राचीन कालमें भी दानकी तहमें एक और वात थी। भेद इतना ही है कि आज वह बात अधिक स्पष्ट हो गयी है। धनिक समुदाय जानता है कि निर्धनोंकी संख्या अधिक है। उसे यह भी पता है कि निर्धन असंतुष्ट हैं। वह यह भी समझता है कि सन्तोष और आत्मसंयमकी लाख शिक्षा दी जाय, सहनकी भी एक सीमा होती है। अतः एक दिन बाँध टूट जायगा और निर्धन आक्रमण कर बैठेंगे। उस समय राजकी शक्ति लगाकर चाहे उन्हें एक बार दबा भी दिया जाय पर जीत अन्तमें उनकी ही होगी, क्योंकि उनकी संख्या वहुत अधिक है। यह अवस्था धनिक समुदाय लाने नहीं देना चाहता। इसलिए वह समय समयपर निर्धनोंके सामने टुकड़े फेंकता रहता है। इन टुकड़ोंकी बदौलत उनका असन्तोष उबलने नहीं पाता। इस टुकड़ा फेंकनेका नाम दान है। बड़े बड़े लक्ष्मीपुत्र जानबूझकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा दान करते हैं, कम समझवाले उनका अनुकरण करते हैं और अपनेको यह प्रतारणा दे लेते हैं कि हम सचमुच उदारभाव-से प्रेरित होकर दान दे रहे हैं, परन्तु वस्तुतः दान अमीरोंके लिए एक प्रकारका बीमा है, जो गरीबोंके असन्तोषको सक्रिय विद्रोहका रूप धारण करनेसे रोकता है। यह दान व्यक्तिके उदार हृदयका परिचायक नहीं, सम्पन्न समुदायकी स्वरक्षार्थ निर्मित संस्था हो जाता है। दान 'दातव्यमिति' शास्त्रीय आदेश-के अनुसार नहीं दिया जाता प्रत्युत उसको अपनी नाम-बड़ाई-का साधन तो बनाया ही जाता है, यह हिसाब लगा लिया जाता है कि इससे आगे चलकर कितना काम निकलेगा। जो सचमुच उदारहृदय हैं उनकी निन्दा करना मेरा उद्देश्य नहीं है, परन्तु यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि दानका परिणाम और एक प्रधान लक्ष्य दरिद्रोंके उचित असन्तोषको दबाना रहा है। जो टुकड़े उनके सामने फेंके जाते हैं उनसे दाताओंको कोई कष्ट नहीं होता, न उनके चरित्रका कोई विकास होता है। वह तो ऊपरकी बचतमेंसे उसी प्रकार दिया जाता है जिस प्रकार बीमा कम्पनीकी किस्त। जिस तरह व्यापारका संघटन है, उसी प्रकार दान भी संघटित है। कौन दे, कितना दे, किसके कहने पर दे इन सबके नियम हैं। सरकारोंके अधीन संघटित दानके विभाग होते हैं।

इसीसे मिलती-जुलती वह सलाह है जो महात्मा गान्धी धनिकोंको दिया करते हैं। उनसे कहा जाता है कि बहुतोंकी कौड़ी कौड़ी जुड़कर यह तुम्हारी धनराशि एकत्र हुई है। इस-लिए तुम अपनेको इसका एकमात्र स्वामी मत समझो। तुम्हारा इसके साथ वही सम्बन्ध है जो किसी नाबालिगकी सम्पत्तिके साथ उसके अभिभावकका होता है। तुम रखवाली करनेके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उचित पारिश्रमिक ले सकते हो पर यह थाती तो उसीके हितके लिए खर्च होनी चाहिये जिसकी यह है। कुछ भारतीय समझते हैं कि यह कोई नयी उपज है पर वस्तुतः यह बहुत पुराना उपदेश है। न केवल भारत वरन् अन्य देशोंके भी ऋषि, मुनि, धर्माचार्य्य ऐसी ही बातें कहते आये हैं।

इसके सम्बन्धमें कई बातें विचारणीय हैं। पहिली आपत्ति तो यह है कि श्रुतिमधुर होने पर भी इसपर चलनेको कोई तय्यार नहीं है। मुँहसे हाँ हाँ कह देना दूसरी बात है पर कोई धनिक यह माननेको प्रस्तुत नहीं है कि जो सम्पत्ति उसके क़ब्जेमें है वह उसकी नहीं प्रत्युत लाखों निर्धनोंकी धरोहर है, व्यासजीने इसीसे घबराकर कहा था—

ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्चकामश्च, स धर्म्मः किं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर चिल्लाता हूँ कि धर्म्मसे ही अर्थ और कामकी सिद्धि होती है फिर धर्म्मका सेवन क्यों नहीं किया जाता, पर कोई मेरी बात नहीं सुनता। इस बातकी कोई आशा नहीं है कि आजके धनिक पहिलेके धनिकोंसे अधिक धार्मिक हैं। एक और बात है। यदि कोई एकाध व्यक्ति इस सीखपर चलनेवाला निकल भी आया तो भी अधिक संख्या तो उन्हीं लोगोंकी होगी जो धन और अधिकारको अपनी सम्पत्ति समझेंगे। इन लोगोंको दण्ड देनेकी तो कोई व्यवस्था है ही नहीं, यह बे-रोकटोक मुनाफ़ा करेंगे और अपने अधिकारकी वृद्धि करते जायँगे। इनके सामने वह बेचारे जो सम्पत्तिको जनताकी धरोहर समझेंगे घाटेमें रहेंगे। अतः चार दिन भी यह व्यवहार टिक न सकेगा।

दूसरे वह अभिभावकवाला दृष्टान्त यहाँ घटता भी नहीं। अभिभावक उसी समयतक काम करता है जबतक कि सम्पत्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का स्वामी अपनी जायदादको सँभाल नहीं सकता पर यहाँ तो धनिक-समुदाय ही धनको खर्च करेगा, जिन लोगोंकी थाती वह धन है उनके हाथमें वह कभी भी नहीं आनेवाला है। वह चाहे कितना भी उदार क्यों न हो पर अपनी बुद्धिसे ही काम लेगा। ऐसी दशामें मीठे मीठे शब्दोंके होते हुए भी वस्तुतः सारा व्यवहार वैसा ही होगा जैसा कि सम्पत्तिको अपनी माननेवालोंका होता है।

यदि थोड़ी देरके लिए मान लिया जाय कि धनिक लोग अधिक उदारता बरतने लगेंगे तब भी क्या होगा? अधिकसे अधिक इतना हो सकता है कि निर्धनोंको रोटीके दो टुकड़े मिल जायँ और उनके साथ कुछ अधिक सहानुभूति दिखलायी जाय। पर वह रहेंगे दरिद्र और अधिकारवञ्चित ही। महात्मा गान्धीने स्वयं कहा है कि जिस स्वराज्यकी वह कल्पना करते हैं उसमें राजा और रंक दोनोंके न्याय्य स्वत्वोंकी रक्षा होगी अर्थात् उसमें राजा और रंक यानी अधिकारयुक्त और अधिकारविहीन, सम्पन्न और भिखमंगे दोनों ही होंगे।

साधारणतः धर्म्माचार्य्योंने जो उपाय बतलाये हैं वह यहीं-तक आते हैं। दीन-दुखियोंकी दशाका कुछ सुधार हो जायगा। दरिद्र यदि आत्मसंयमसे काम लेंगे तो उनकी आवश्यकताएँ कम हो जायँगी। बहुत थोड़ेमें उनका काम चल जायगा। उधर उनको सन्तोषी बननेका भी उपदेश दिया जाता है। इससे यह होगा कि वह यदृच्छालाभतुष्ट रहेंगे। जो कुछ थोड़ा बहुत मिल जायगा उसीपर सन्तुष्ट हो जायँगे। इसका तात्पर्य्य यह है कि विषमता रहेगी परन्तु विषमताके शिकारोंको ऐसी शिक्षा दी जायगी कि उन्हें अपनी कुदशाको बदलनेकी इच्छा ही न हो वरन् वह अपनी अवस्थाको कष्टमय होते हुए भी अपने लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेयस्कर समझें। उधर धनीमानी लोग भी दानी हों अर्थात् उदारतासे अपार धनराशिमेंसे कभी कभी ग़रीबोंकी ओर भी टुकड़े फेंक दिया करें। इसमें उनको तो कोई विशेष कष्ट न होगा परन्तु दरिद्रोंकी तात्कालिक मुसीबत कुछ कम हो जायगी और इन सौभाग्यशाली व्यक्तियोंपर क्रोध करनेके स्थानमें वह कृतज्ञ होंगे। इसी उपायसे हिन्दुओंकी ऊँची जातियोंने करोड़ों मनुष्योंको अस्पृश्य बना रखा है। अभी चार दिनकी बात है कि भारतवासी अपनी दासतापर मस्त होकर माँ-बाप सरकारके फेंके हुए टुकड़ोंके लिए सौ सौ जानसे न्योछावर होते थे। 'जादू वह जो सिरपे चढ़के बोले'—इन्हीं उपदेशोंके बलपर बलियोंकी सत्ता बनी हुई है।

अतः यह स्पष्ट है कि यह उत्तर हमारे प्रश्नका समीचीन उत्तर नहीं है। प्रायः सभी सम्प्रदायों और धर्म्माचार्य्योंने किसी न किसी रूपमें इसीका प्रतिपादन किया है। पर यह अपर्य्याप्त है। इस उपायसे आध्यात्मिक उन्नति भले ही होती हो, वैषम्य-जनित कटुता कुछ घट जाती हो, संघर्षकी सम्भावना कम हो जाती हो, पर मूल परिस्थिति जिसको देखकर हमारे प्रश्न उठे थे ज्योंकी त्यों रहती है। धनी और निर्धनका भेद बना रहता है, धन और अधिकारके लिए प्रतियोगिता बनी रहती है। मीठे मीठे शब्द बीचमें आ जाते हैं पर शोषक और शोषित, पीड़क और पीड़ितका अस्तित्व बना रहता है। यह मानना भूल है कि बिना परशोषणके विपुल धन इकट्ठा किया जा सकता है। जैसा कि महाभारतमें कहा है :—

नाच्छित्वा परमर्म्माणि, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरेके मर्मस्थानका छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म किये,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिना मछुवाहेकी तरह निर्दय होकर हिंसा किये, महती श्री प्राप्त हो ही नहीं सकती।

परन्तु हमने तो यह समस्या रखी थी कि वैषम्य दूर हो जाय, सुख सबको प्राप्त हो। इसका प्रबंध इस धार्मिक उत्तरमें नहीं है। बड़ी भारी कमी इसमें यह है कि किसी प्रकारका संघटन नहीं है। उपदेश कैसे ही अच्छे क्यों न हों पर मनुष्यों-को उनके अनुसार चलानेकी या न चलनेवालेको दण्ड देनेकी कोई व्यवस्था नहीं है और न ऐसे भौतिक वातावरणको उत्पन्न करनेकी कोई व्यवस्था है जिसमें इस पथपर चलनेमें सुविधाका अनुभव हो।

वर्णाश्रम धर्म्म

इस प्राचीन उत्तरके अतिरिक्त दो-तीन और भी हैं। इनमें सबसे पुराना, गम्भीर और विचारणीय वह है जिसका आवि-ष्कार भारतमें हुआ था। संक्षेपमें इस उत्तरका नाम है 'वर्णा-श्रम धर्म्म'। भारतीय दर्शन और संस्कृतिका दम भरनेवाले बड़े बड़े प्राच्य विद्या-विशारदोंने भी आज इस धर्म्मके तत्त्वको समझने-समझानेका प्रयत्न छोड़ दिया है। जो पुरानी रूढ़िके क्रीतदास पण्डित हैं वह तो स्मृतियोंके शब्दोंको पालतू तोतोंकी भाँति दुहराना जानते हैं। उनकी एकमात्र धारणा यह है कि वर्णाश्रम धर्म्म सर्वश्रेष्ठ है और आजकलकी परिस्थितिमें भी उसे हठात् मनवानेमें ही जगत्का कल्याण है। वह एक एक शब्दको, एक एक शब्दकी पुराने टीकाकारों द्वारा की हुई व्याख्याको, ज्योंका त्यों रखना चाहते हैं। वह लोग आगम प्रमाणके आधारपर चलते हैं, इसलिए इस बातका प्रयत्न भी नहीं करना चाहते कि तर्क द्वारा वर्णाश्रम धर्मकी महत्ता सिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करें। उनके लिए 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्म्मं वेद नेतरः (जो तर्कके द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म्मको जानता है, दूसरा नहीं) का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जिन्होंने यह मान लिया है कि वर्तमान-कालमें स्मृतिसम्मत वर्णाश्रम धर्म्म अव्यवहार्य्य ही नहीं हानिकारक और राष्ट्रके लिए घातक है, अतः जितनी जल्दी इसका नाम मिट जाय उतना ही अच्छा होगा।

इन दोनों वर्गोंसे भिन्न वह लोग हैं जो ऐसा मानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म्म जिन मनोवैज्ञानिक आधारोंपर अवलम्बित है वह नित्य हैं अतः इस धर्म्मके मूलसिद्धान्त नित्य और अटल हैं परन्तु देशकाल-पात्रके अनुसार इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या और व्यावहारिक रूपोंमें हेरफेर करना आवश्यक है। यदि बुद्धिसे काम लिया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म्म हमारी सारी समस्याओंको सुलझा सकता है। जो लोग इस विचारके हैं उनमें श्रीभगवान्दासजी अग्रगण्य हैं। मनुस्मृतिका आपने जो अनुशीलन किया है वह अपूर्व है और शिक्षित जनताके सामने, वह भी न केवल भारत प्रत्युत विदेशोंमें भी, वर्णाश्रम धर्म्मको वर्तमान जगत्की बुराइयोंके दूर करनेका एक मात्र साधनके रूपमें रखनेका श्रेय आपको ही है। अपनी पुस्तक 'ऐंशेण्ट वर्सेस माडर्न साएण्टिफ़िक सोशलिज़्म' में आपने इसका जिस प्रकार निरूपण किया है हम उसीको अपना आधार मानकर चलेंगे।

यह जगत् द्रष्टा और दृश्य—अहम् और अनहम्, मैंऔर न-मैं—के साहचर्य्यका फल है। दृश्य त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्, रज और तमोगुणमय है। द्रष्टा जब उसके साथ सम्बद्ध होता है तब उसे सुख-दुःखात्मक भोगकी प्राप्ति होती है, उसकी ओर-से पराङ्मुख होने पर उसे मोक्षका अनुभव होता है। इसीलिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांख्याचार्य्योंने दृश्यको पुरुषके 'भोगापवर्गार्थम्' कहा है। द्रष्टा न सुखी है न दुःखी, न राजा है न रंक, न लोभी है न त्यागी। उसमें यह सब गुण दृश्यके कारण उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जिस प्रकार भाँति भाँतिकी रंगीन वस्तुओंके सामने आनेसे श्वेत स्फटिकमें तत्तत् रंगकी प्रतीति होती है। द्रष्टा और दृश्यका यह सम्बन्ध अनादि है। इस अनादि सम्बन्धके कारण द्रष्टा असंख्य शरीरोंको धारण करता और उनमें असंख्य शुभाशुभ कर्म्म करता चला आया है। इस अविछिन्न कर्म्मप्रवाहके कारण किसी शरीर विशेषमें सत्, किसीमें रज और किसीमें तमकी विशेष अभिव्यक्ति होती है, शेष गुण दबेसे रहते हैं। इन प्राकृत संस्कारोंके कारण ही इन शरीराभिमानी द्रष्टाओं अर्थात् जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और यों तो षट्विकार काम, क्रोध, लोभ इत्यादि सभीमें पाये जाते हैं परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें इनकी मात्राएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जितनी इच्छाएँ मनुष्योंको होती हैं उनको 'एषणा' कहते हैं। एषणाएँ यों तो सहस्रों प्रकारोंकी हो सकती हैं परन्तु उनको तीन मुख्य वर्गोंमें डाल सकते हैं: पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा। मेरी सन्ततिका उच्छेद न हो, संसारमें मुझे मानमर्य्यादा-प्रतिष्ठा प्राप्त हो और मेरे पास सम्पत्ति रहे इन्हीं तीन बातोंके लिए मनुष्यके सारे प्रयत्न होते हैं। यों तत्त्वदृष्ट्या यह तीन भी एक ही सूत्रमें बँधी हुई हैं। सन्ततिमें भी मनुष्य अपनेको देखता है—आत्मावै जायते पुत्रः। सन्ततिकी वृद्धिमें अपनी वृद्धिका अनुभव होता है। वित्त और मानमर्य्यादा तो अपने लिए होती ही है। अतः इन सब एषणाओंमें अपने ही उत्कर्षकी इच्छा निहित है। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि पुत्रादि अपने लिए नहीं किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माके लिए प्रिय होते हैं। जहाँतक उनके साथ तन्मयता होती है वहाँतक उनमें सुखका अनुभव होता है। आत्मविस्तारमें जहाँ सफलता होती है वहाँ सुख और जहाँ आत्मसंकोच (अर्थात् आत्मविस्तारमें बाधा) होता है वहाँ दुःखका अनुभव होता है। सुख और दुःखके अनुशयी राग और द्वेष हैं अर्थात् जो सुख देता है उसके प्रति राग और जो दुःख देता है उसके प्रति द्वेष होता है।

एषणाओंके लिए तीन मार्ग हैं। एक मार्ग तो भोगका है। एषणाओंके अनुसार काम करके इनको तृप्त करना ही भोग है। पर इसमें एक कठिनाई है। भोगसे एषणाओंकी ज्वाला उसी प्रकार बढ़ती है जैसे घी देनेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। शरीर निकम्मा हो जाय पर भोगकी लिप्साका शमन नहीं होता। भर्तृहरिके शब्दोंमें 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'। भोगसामग्रीके संग्रहके प्रयत्नमें, भोगकालमें और भोगके उपरान्त यदि कुछ सुखका अनुभव होता भी हो तो वह दुःखमिश्रित है। जैसा कि पतञ्जलिने कहा है 'सर्वं दुःखमयं विवेकिनः'। दूसरा मार्ग यह है कि जो मानसिक और शारीरिक शक्ति एषणाओंकी तृप्तिमें व्यय होती है, वह दूसरे कामोंमें लगायी जाय। आजकलके मनोविज्ञानवेत्ता इसे 'सब्लिमेशन'—उन्नयन—कहते हैं। भक्ति, वाङ्मय, कला, इन सबकी उन्नति इसी प्रकार हुई है। योगसिद्धिके लिए भी ऊर्ध्व रेता होने—कामशक्तिको योगसंवेगमें परिणत करने—की आवश्यकता है। यह मार्ग सर्वोत्तम है पर सुकर नहीं है। सब इसपर चल नहीं सकते। फिसलनेका डर रहता है। तीसरा मार्ग एक और है। कुछ लोग हठात् एषणात्मक भावोंको दबानेका प्रयत्न करते हैं। इस तामस तपसे उनको एषणाओंपर विजय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो प्राप्त होती नहीं, उलटे उनका सारा जीवन दूभर हो जाता है। जो भाव दबाये जाते हैं वह रह रहकर मनमें उठते हैं। सामनेसे हटा भी दिये जायँ तो मस्तिष्कमें दबे पड़े रहते हैं और जीवनकी सारी क्रियाओंको अपने रंगमें रँगते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति सदैव मलिनवदन और क्षुब्धचित्त रहता है। उसके स्वप्नतक इन दबे विचारोंके द्वारा दूषित होते रहते हैं। अतः यह मार्ग भी श्रेयस्कर नहीं है। इन्हीं बातोंको देखकर बुद्धदेवने 'मध्यम मार्ग', श्री कृष्णने 'युक्ताहारविहार' रहनेका उपदेश दिया है। साधारण मनुष्यके लिए यही हितकर है कि वह अपनी प्रवृत्तियोंको नियंत्रित करे। कुछ दूरतक भोग हो और कुछ दूर-तक शमदम।

जो बात व्यक्तियोंके लिए लागू है वही व्यक्ति-समूहोंके लिए भी ठीक है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी वित्तादि एषणाओंको निरंकुश रूपसे तुष्ट करनेकी चेष्टा करने लगे, तो यह पृथ्वी पूरी वनस्थली बन जाय। इसलिए राष्ट्रोंके आभ्यन्तर और अन्ताराष्ट्रिय जीवनको नियंत्रित करनेकी नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकारके नियंत्रणके अभावके कारण ही आज मनुष्योंकी ऐसी भीषण दुर्दशा हो रही है।

वर्णाश्रम धर्म्म वैयक्तिक और सामूहिक जीवनके नियंत्रण-का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आर्य्य महर्षियोंने यह देखा कि वित्त और लोक-एषणाओंकी तृप्ति धन, अधिकार और प्रतिष्ठा द्वारा होती है। उन्होंने यह भी देखा कि एक ही व्यक्तिमें तीनों महा-विद्याओं—लक्ष्मी, सरस्वती और काली—की शक्तियोंका केन्द्री-भूत होना ठीक नहीं है। जो धनवान् हो, वह शक्तिशाली और प्रतिष्ठाभोगी भी हो यह समुदायके लिए बड़ा ही अहितकर होगा। एक तो मात्स्यन्याय यों ही चल रहा है, बड़ा छोटेको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खाये डालता है, पर जब दूसरेको शोषित करनेके इतने साधन एक ही व्यक्तिमें सन्निहित हो जायँगे तब तो निर्धनों और निर्बलों-का कहीं ठिकाना न रहेगा। इसलिए उन्होंने जनताको चार विभागोंमें बाँटा। यह विभाजन कृत्रिम नहीं था, मनुष्योंकी सहज प्रवृत्तियोंको देखकर किया गया था। इसीलिए यद्यपि आज इसका थोड़ा बहुत पालन केवल भारतमें ही हो रहा है पर धर्म्माचार्योंके मतानुसार मनुष्यमात्र प्रकृत्या चार वर्णोंमें विभक्त हैं। गीतामें श्री कृष्णने कहा है 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्म्मविभागशः'—मैंने गुणकर्म्मको देखकर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की। सबसे पहिले शूद्र वर्ण है। इसमें वह अपरिपक्व जीव हैं जिनको अभी अपनेसे उत्कृष्ट लोगोंके संसर्गमें रहकर पावन और संस्कृत बनना है। यह लोग शारीरिक या निम्नकोटिका मानसिक श्रम करके समु-दायकी सेवा करते हैं। इनके बाद वैश्यवर्ण है। यह लोग धन उपार्जन करते हैं। इनका उद्देश्य समुदायको समृद्ध करना होता है। तीसरा वर्ण क्षत्रियोंका है। 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः'—जो समुदायकी रक्षा करता है, शासन करता है, वह क्षत्रिय है। अन्तमें ब्राह्मण वर्ण है। ब्राह्मण तपोनिष्ठ और विद्वान् होता है। वह दूसरे वर्णोंको धर्म्ममार्गपर रखता है, समुदायका शिक्षक है और उसके समस्त जीवनपर नियंत्रण रखता है। ब्राह्मण सबसे अधिक प्रतिष्ठा पाता है, उसको भूदेवकी पदवी प्राप्त है पर न उसके हाथमें अधिकार है न धन। क्षत्रियके पास अधिकार है और वैश्यके पास सम्पत्ति। जो लोग अभी इन शक्तियोंका उप-योग करने योग्य नहीं हैं वह शूद्रवर्णीय हैं। चारके अतिरिक्त कोई पाँचवाँ विभाग हो नहीं सकता; मनुके शब्दोंमें 'पञ्चमो नैव विद्यते'। आजकल प्राचीन व्यवस्था बिगड़ गयी है, इसलिए ऊँच-नीचका भाव उत्पन्न हो गया है और चारके स्थानमें सैकड़ों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ण-उपवर्ण देख पड़ते हैं। परन्तु सिद्धान्त-दृष्टिसे वर्णोंमें उतना ही ऊँचा-नीचापन है जितना शरीरके अवयवोंमें। शरीरके लिए सभी अवयव आवश्यक हैं। सबके ठीक ठीक काम करने पर ही शरीरका स्वास्थ्य और उसका सुचारु सञ्चालन निर्भर है। फिर भी महत्तामें थोड़ा बहुत भेद है। मस्तिष्कको उत्तमांग कहते हैं। और अंगोंमें थोड़ा बहुत विकार आ जाने पर भी काम चल सकता है परन्तु मस्तिष्कके बिगड़नेसे तो मनुष्यका मनुष्यत्व ही लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अवयवोंका भी सापेक्ष महत्त्व है। ऐसा ही सम्बन्ध वर्णोंमें है। श्रुतिने ब्राह्मणादिको भगवान्के विराट् स्वरूपका अवयव बतलाया ही है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत॥

ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय बाहुद्वय, वैश्य ऊरुद्वय और शूद्र पदस्थानीय है। ब्राह्मण बड़ा भाई है, शेष क्रमात् उससे छोटे भाई हैं।

यदि इस प्रकार सामूहिक जीवनका सञ्चालन किया जाय तो वह बुराइयाँ जो वर्तमान कालमें देख पड़ती हैं लुप्त हो जायँगी। जो धन उत्पन्न करनेवाले हैं वह धन उत्पन्न करेंगे परन्तु राजका शासन या सर्वोपरि प्रतिष्ठा न पा सकेंगे। जो शासनकर्ता हैं वह अपनी भृति मात्र ले सकेंगे, अधिकारके द्वारा धन न बटोर सकेंगे। इन दोनों वर्गोंपर नियंत्रण रहेगा ब्राह्मणोंका अर्थात् वृद्ध, तपस्वी, निःस्वार्थ विद्वानोंका, जिनको न धनसे सरोकार होगा न शासनाधिकारसे। इनके दबावसे न तो क्षत्रिय अपने अधिकारका दुरुपयोग कर सकेंगे, न वैश्य अपने धनका। अधिकार और धनका उपयोग समुदायकी सेवाके लिए होगा और शेष सभी वर्ण शूद्रोंको, जिनके श्रमके आधार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर समुदायका जीवन निर्भर होगा, अन्न-वस्त्रादिसे परितुष्ट रखना अपना कर्तव्य समझेंगे। ऐसी सुसंघटित योजनाके रहते हुए एकके द्वारा दूसरेका शोषण हो ही नहीं सकता। यह सम्भव है कि पुत्र पिताके आचरणका अनुकरण करे पर वर्णोंका भेद जन्मना नहीं कर्म्मणा होगा। जिसका जैसा गुण-कर्म्म-स्वभाव देखा जाय वह प्रौढ़ होने पर उसी वर्णमें रखा जायगा। सामूहिक जीवनकी भाँति वैयक्तिक जीवनके नियमनकी भी आवश्यकता है। यह नियमन आश्रम-धर्म्म द्वारा होता है। जिस प्रकार सामूहिक जीवनमें चार वर्ण हैं, उसी प्रकार वैयक्तिक जीवनमें चार आश्रम हैं। पहिला ब्रह्मचर्य्याश्रम है। यह प्रायः चौबीस वर्षके वय तक जाता है। इसमें विद्याध्ययनके द्वारा आगेके लिए तय्यारी की जाती है। इसके पीछे गार्हस्थ्य है। इसमें अपनी तीनों ही एषणाओंको भोग द्वारा तृप्त करनेका प्रयत्न किया जा सकता है परन्तु यहाँ भी बन्धन रखे गये हैं। किसके साथ विवाह करना, कैसे विवाह करना, इस विषयमें मनमानापन नहीं है। किस वर्णवाला कौन व्यापार कर सकता है, यह भी निश्चित है। अपनी आयका कमसे कम कितना अंश दान अर्थात् लोकसेवाके लिए लगाना चाहिये, इसका भी विधान है। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। प्रायः पचास वर्षके वयमें घरका प्रबन्ध लड़केको सौंपकर इस आश्रममें प्रवेश होता है। वनस्थ रुपया कमाना छोड़ देता है। उसके भरण-पोषणका भार उसके पुत्रादिपर होता है पर वह अपने परिपक्व अनुभव द्वारा समुदायकी सेवा करता है। चतुर्थ आश्रम संन्यास है जिसमें व्यक्ति वर्णधर्म्मोंका अतिक्रमण करके अनिकेतन स्वच्छन्द घूमता है और स्वयं मोक्ष-प्राप्तिके उपायमें संलग्न रहता हुआ अपने धार्मिक उपदेशसे दूसरोंको भी उस मार्गकी ओर ले चलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजकल वर्णों और आश्रमोंका घोर व्यभिचार है। अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले शूद्रकर्म्मा देखे जाते हैं और शूद्र कहे जानेवालोंमें ब्रह्मस्वभाववाले पुरुष पाये जाते हैं। विद्यार्थी-जीवनमें रुपया कमाना आरम्भ होता है और यह परम्परा बुढ़ौतीतक चली जाती है। ब्रह्मचर्य्याश्रम आरम्भ होने नहीं पाता कि गृहस्थाश्रम लग जाता है। प्राचीन महर्षियोंने न कहीं वर्णोंके अधिकारोंका नाम लिया है न आश्रमोंके। उन्होंने केवल धर्म्मोंकी, कर्तव्योंकी, चर्चा की है। ब्राह्मणको यह करना चाहिये, गृहस्थको यह करना चाहिये, ऐसे ही वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं। यदि सब अपने कर्तव्योंका पालन करें तो सबको अपने अपने अधिकार आप ही मिल रहेंगे। पर आज सबको अपने अधिकारोंकी ही धुन है। मुझे यह करना चाहिये इसे तो लोग भूल गये हैं, दूसरोंको मेरे प्रति ऐसा बर्ताव करना चाहिये यह स्मरण है। धन और अधिकारके लिए वर्ण वर्णकी, आश्रमी आश्रमीकी अनियंत्रित घुड़दौड़ है। इसीसे यह अशांति और दुरवस्था है।

श्री भगवान्दासजी बराबर कहते आ रहे हैं कि यह योजना सर्वथा व्यवहार्य है। सारी बुराइयोंकी जड़ वही सनातन मानस विकार—षड्रिपु, रागद्वेष, एषणा, वासना—है अतः उनकी औषध भी वही है। ब्योरेकी बातोंमें भेद होगा पर मूल ढाँचा वही होगा जिसका निर्देश प्राचीन शास्त्रकार, मुख्यतः मनु कर गये हैं। मनुप्रोक्त-पद्धति सभी देशों और कालोंके लिए उपयुक्त है। वह आर्योंके लिए पहिले अवतरित हुई पर जब स्वयं वेद कहता है कि 'कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम्', तब तो उसका क्षेत्र सारे विश्वमें है।

परन्तु आज तो वर्णोंका घोर व्यभिचार है। प्रत्येक तथोक्त वर्णमें ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जिनमें न तो उस वर्णके अनुरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणशील है, न जीविका। अतः मनुष्य-जगत्का पूरा मन्थन करना होगा। सैकड़ों वर्णोंको हटाकर पुनः चार वर्ण स्थापित करने होंगे और प्रत्येक व्यक्तिके लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ निकालना होगा अर्थात् जो जिस गुण-कर्मवाला होगा उसको उस वर्णमें रखना होगा। एक बार जब लोग इस प्रकार बँट जायँगे तब आगेके लिए सुगमता हो जायगी। फिर सामूहिक और वैयक्तिक जीवनका नियंत्रण होता रहेगा।

प्रश्न यह होता है कि यह पुनर्व्यूहन कैसे होगा। एक उपाय यह हो सकता है कि राज अपने ऊपर इस कामको ले और सरकारी कर्मचारियों द्वारा जाँच-पड़ताल करके लोगोंको वर्णोंमें बाँटे तथा आगे भी ऐसा प्रबन्ध करे कि लोगोंके गुणकर्म्मकी बराबर जाँच होती रहे और वह उपयुक्त सूचियोंमें सम्मिलित किये जाते रहें। यह काम कठिन है। आजकल किसी राजके अधिकारी स्यात् इन विचारोंको पूरा पूरा मानते ही नहीं। सनातनधर्म्मके नामपर पेट पालनेवाले कुछ पंडित तो ऐसा चाहते हैं कि राजदण्डके ज़ोरपर वर्ण-व्यवस्थाका वर्तमान रूप स्थिर रखा जाय अर्थात् ब्राह्मण नामधारियोंकी महत्ता और तथाकथित हीन वर्णोंकी हीनता बनी रहे पर श्री भगवान्दासजी ऐसा नहीं चाहते। उनकी यह इच्छा है कि विद्वान्, तपस्वी, लोकहितैषी, निःस्वार्थ व्यक्ति अपने ऊपर यह काम लें और निरन्तर उपदेश और परामर्शके द्वारा लोगोंको समझाकर यह व्यवस्था प्रचलित करावें।

मुझे विश्वास है कि मैंने वर्णाश्रम धर्मका जो चित्र खींचा है वह निष्पक्ष और ठीक है। जिस विस्तारके साथ मैंने उसका निरूपण किया है वह अनुचित नहीं है क्योंकि अबतक वर्णाश्रम धर्मके सिवा समाज-संघटनकी दूसरी सर्वाङ्गीन योजना हमारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने नहीं आयी है। चाहे किसी भी समयमें इसपर पूरा पूरा काम न हुआ हो पर जिन लोगोंने योजना बनायी है उन्होंने इसको निर्दोष और सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेका पूरा प्रयत्न किया है।

फिर भी हमको दुःखके साथ कहना पड़ता है कि यह योजना भी हमें अपर्य्याप्त और आजकलकी परिस्थितिको सँभालनेके लिए अनुपयुक्त प्रतीत होती है। ऐसा कहकर हम मनु या अन्य किसी प्राचीन शास्त्रकारके प्रति असम्मान नहीं व्यक्त कर रहे हैं। केवल वस्तु-स्थिति हमको यह कहनेपर विवश करती है कि उनकी योजनासे आज हमारा काम नहीं चल सकता।

यह सत्य है कि सब मनुष्य एक ही गुण-स्वभाववाले नहीं होते, यह भी सत्य है कि सब एक ही प्रकारकी जीविकाके योग्य नहीं होते, यह भी सत्य है कि एषणाओंकी तुष्टिका नियंत्रण होना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं है कि एक ही व्यक्तिमें धन, बल और प्रतिष्ठाका केन्द्रीभूत होना अच्छा नहीं होता। यह भी निर्विवाद है कि समूहके जीवनकी देखरेख निःस्वार्थ, विद्वान्, तपस्वी व्यक्तियोंकेहाथमें होनी चाहिये। परन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी आज चातुर्वर्ण्य-विभागकी उपयुक्तता सिद्ध नहीं होती। मनुष्योंका विभाग केवल मनोविज्ञानके आधारपर नहीं किया जा सकता। आर्थिक और राजनीतिक वस्तुस्थिति, चाहे वह हमारी समझमें गर्हित ही क्यों न हो, भुलायी नहीं जा सकती। जिस प्रकार अधिकांश मनुष्योंके कर्म्म अशुक्लाकृष्ण अर्थात् पाप-पुण्य मिश्रित होते हैं, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य वित्त, मान और अधिकार तीनों ही चाहते हैं अतः उनको पृथक् कक्षाओंमें डालना कठिन होगा। और भी कठिनाइयाँ हैं। बहुतसे ऐसे पद हैं जिनमें शासन भी होता है और व्यवस्थापन भी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनपर जो लोग नियुक्त होंगे वह ब्राह्मण कहलायँगे या क्षत्रिय? धन उपार्जन करनेका क्या अर्थ है? जो स्वयं खेती करता है या गऊ पालता है, या दूकानपर बैठता है और अपना पेट काटकर पूँजी जमा करके उसे व्यवसायमें लगाता है या खानसे खनिज निकालता है वह तो धनका उपार्जन करता है पर बड़े बड़े बैंकर, पूँजीपति, कम्पनियोंके मनेजर क्या करते हैं? यह तो दूसरोंके रुपयोंका ही प्रबंध करके पूँजी बनाते हैं। फिर इन्हें वैश्य मानें या क्षत्रिय? निजी व्यापारियोंके अतिरिक्त, सरकारी व्यवसायों जैसे रेलोंके छोटे बड़े कर्म्मचारी इन दोनोंमेंसे किस वर्णमें हैं? ज़मीनदारका क्या वर्ण है? वह कृषि करता है या शासन? जो स्वयं शिल्पी है उसकी बात तो समझमें आती है पर मिलमें काम करके धन उपार्जित करनेवाले वैश्य हैं या शूद्र? इस समय भी यूरोप और अमेरिकाके बड़े पूँजीपति स्वयं शासन-की डोर अपने हाथमें नहीं लेते वरन् अपने रुपयोंके ज़ोरपर राज-पुरुषोंको नचाते हैं अर्थात् अधिकारका रूप न रहते हुए भी अधिकारका उपभोग करते हैं। आजकल कारखानोंका युग है। व्यापारियों, महाजनों, मिल-मालिकोंके पास अपार धनराशि रहती है। वह राजपुरुषों और विद्वानोंको मोल ले सकते हैं। यह बात कैसे रोकी जायगी? 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' तो पुरानी उक्ति है। जो धन एकत्र कर सकेगा वह शक्ति और प्रतिष्ठासे कैसे दूर रखा जायगा? आज क्या यह सम्भव है कि थोड़ेसे पेशेवाले सैनिक देशकी रक्षा कर सकें? फिर जब देश-रक्षाका भार सबपर है तो क्षत्रिय कौन है? कारखानोंमें काम करनेवाले लाखों संघटित मज़दूर, जो शिक्षित भी होते हैं, इस बातको कैसे स्वीकार कर लेंगे कि बिना उनसे पूछे उनसे कर लिया जाय और व्यय कर दिया जाय, युद्ध छेड़कर लाखों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य कटवा दिये जायँ, व्यापारादिकी मनमानी व्यवस्था कर दी जाय ? फिर जब शासनमें तथा क़ानून बनानेमें इनका हाथ होगा तो यह लोग क्षत्रिय होंगे या ब्राह्मण ? यह स्मरण रहे कि यह केवल शब्दोंका झगड़ा नहीं है, अधिकारों और कर्तव्योंका, समाजके संघटनका, प्रश्न है। यह तो हो सकता है कि योगी लोग अपनेको निर्लिप्त रख सकें पर साधारण विद्वान्, जिनका भरण-पोषण धनिकों और साधिकारोंके हाथमें रहता है, कहाँ तक इनपर नियंत्रण कर सकेंगे ?

बात यह है कि यह योजना जिस समय बनी थी उस समय जो आर्थिक परिस्थिति थी वह अब नहीं है। उस कालमें सम्पत्तिका मुख्य स्वरूप और साधन भूमि थी। जिसके पास कृषि-योग्य या गोचर-भूमि थी वही सम्पन्न था। जनसंख्या थोड़ी थी और भूमि अधिक। इसलिए कृषकका इतना शोषण नहीं हो सकता था। मशीनें नहीं थीं, इसलिए कारीगर स्वतंत्र थे। एक ही जगह बहुत पूँजी लगाकर बहुतसे आदमियोंको जमा करके रुपया कमानेका साधन नहीं था। इसलिए न तो धनिक वर्ग बहुत पूँजी जमा कर पाता था, न बहुत आदमियोंका शोषण कर सकता था, न बहुतोंपर अधिकार पा सकता था। इसीलिए भूमिपतियोंके हाथमें शासनका सूत्र था। आज धनोत्पादनका मुख्य साधन भूमि नहीं है। लक्ष्मीका निवास अब बंक, कल-कारखाने और कम्पनियोंके दफ्तरोंमें है। अतः इनके स्वामियोंके हाथमें अधिकारका रहना अवश्यम्भावी है। इनका अपने स्वार्थसे प्रेरित होना भी अवश्यम्भावी है और, फलतः, संघर्ष तथा अशान्ति भी अवश्यम्भावी है।

फिर, बिना राजके पूरा ज़ोर लगाये अर्थात् बिना बलप्रयोगके इसका व्यवहारमें लाया जाना भी असम्भव है। आज श्रमि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोंको जो थोड़ा बहुत व्यवस्थापनका स्वत्व अर्थात् ब्राह्मणत्व मिला है, वह उसे इच्छासे न छोड़ेंगे, न धनिक वर्ग अपने धनको लोकसम्पत्ति मानकर राजनीतिक क्षेत्रसे विरत होगा। वही निरंकुश वैयक्तिक और सामूहिक प्रतिद्वन्द्विता जो आजकल जगत्को नष्ट कर रही है तब भी जारी रहेगी। थोड़ेसे विद्वानोंके उपदेश मात्रका प्रभाव अरण्यरोदनके प्रभावसे अधिक न होगा।

सच बात यह है कि किसी भी समयमें धनोपार्जनका मुख्य साधन जिस समुदायके हाथमें होगा वही प्रमुख समुदाय होगा। उसका नाम और काम कुछ भी हो, वास्तविक अधिकारकी डोर उसके ही हाथमें रहेगी। पहिले यह स्थान क्षत्रियोंको प्राप्त था, आज वैश्योंको प्राप्त है। आजका सत्ताधारी समुदाय अर्थात् पूँजीवाला समुदाय पहिलेके क्षत्रियोंसे अधिक बलवान् है क्योंकि लाखोंकी जीविका उसके हाथमें है। प्राचीन कालमें क्षत्रियोंपर ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता चल जानेका एक मुख्य कारण यह था कि लोग समझते थे कि परलोककी कुंजी ब्राह्मणोंके हाथमें है। इसलिए यदि कभी ब्राह्मण किसी बातपर अड़ जाते थे तो जनता उनका साथ देती थी। इसीलिए बिना अड़े ही क्षत्रिय उनसे दबते थे। इसका परिणाम यह था कि स्वयं सम्पन्न न होते हुए भी ब्राह्मण क्षत्रियादिसे आश्रितकी भाँति डरता न था वरन् साहसके साथ उनकी भी भर्त्सना कर सकता था। आज बहुतोंको परलोकपर विश्वास ही नहीं है। जिनको है भी वह ब्राह्मणोंको इहामुत्रके बीच मध्यस्थ माननेको तय्यार नहीं हैं। अतः विद्वत्समुदायको दूसरोंके आश्रित रहकर ही काम करना पड़ेगा और उनमें वह पहिले जैसी स्वतंत्रता नहीं हो सकती, कमसे कम मज़हब उनकी मदद नहीं कर सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्हीं सब कारणोंसे हम वर्णाश्रम धर्मको भी अपूर्ण और अपने कामके लिए असमीचीन पाते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनुस्मृति आदि धर्म्मग्रंथ निरर्थक हैं। ऐसा नहीं है। उनमें शमदमादि धर्मके जो दस सार्वभौम लक्षण बतलाये गये हैं वह सर्वोपयोगी हैं; अन्य बहुतसे विषयोंपर भी बहुत ही सुन्दर और लाभकारी उपदेश भरे पड़े हैं; पर इससे अधिक नहीं माना जा सकता।

लोकतंत्र शासन और व्यापक मताधिकार

कुछ लोगोंका ऐसा विश्वास है कि व्यापक मताधिकार हमारे समस्त रोगोंके लिए रामबाण औषध है। इस समय अधिकांश स्वतंत्र देशोंमें किसी न किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभा, पार्लिमेण्ट या कांग्रेस होती है। सरकारी मंत्री किसी न किसी रूपमें उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वह लोग अपनी इच्छासे चाहे और जो कुछ कर सकें परन्तु खर्च मंजूर करना इस सभाके, जिसमें प्रजाके प्रतिनिधि होते हैं, अधीन होता है। इसलिए कोई सरकार व्यवस्थापिका सभाकी, अर्थात् उसके बहुमतकी, इच्छाके विरुद्ध नहीं चल सकती। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि जिन लोगोंको प्रतिनिधि चुननेका अधिकार नहीं है, उनके मतका निरूपण व्यवस्थापिका सभामें हो ही नहीं सकता, अतः उनके हितोंकी रक्षा हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, जिन लोगोंको मत देनेका अधिकार है वह अपने मनके प्रतिनिधि भेजकर अपने हितोंकी रक्षा करा सकते हैं। अतः यदि सभी पूर्णवयस्क नागरिकोंको मताधिकार प्राप्त हो जाय तो सरकारपर सबका समान रूपसे प्रभाव पड़ेगा वरन् साधारण लोगोंकी संख्या अधिक होनेके कारण उनका प्रभाव अधिक पड़ेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए सरकार सदैव उनके अनुकूल होगी या यों कहिये कि सरकार निष्पक्ष रूपसे सबके हितका साधन करेगी। फलतः अन्यायपूर्ण संघर्ष और कलह एवं तज्जनित अशान्तिकी जड़ ही कट जायगी।

इस विचारकी तहमें सत्यका अंश है पर बहुत थोड़ा सा। लोकतंत्र शासनप्रणाली और व्यापक मताधिकार आजकल उन लोगोंके लिए जो अमेरिका और पश्चिमी यूरोप, विशेषतः ब्रिटेन, की विचारधारासे प्रभावित हुए हैं एक प्रकारके मंत्रसे हो रहे हैं। साधारण पढ़े-लिखोंको इनपर बड़ी श्रद्धा है और कट्टरसे कट्टर साम्राज्यवादी भी इन पवित्र नामोंकी दुहाई देते हैं। परन्तु वस्तुतः इनके भीतर बड़ा खोखलापन है। मताधिकार मिलने पर राजनीतिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो सब बराबर हो जाते हैं पर यह बराबरी किसी कामकी नहीं होती। संयुक्तराज (अमेरिका) इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहाँ मताधिकार प्रायः सभी-को है पर आर्थिक विषमता प्रचंड है। इस आर्थिक विषमताके आगे राजनीतिक समताकी एक नहीं चलती। लोकतंत्रात्मक शासनप्रणालीके लिए कमसे कम दो राजनीतिक दलोंका होना आवश्यक है। चुनावके समय दोनों दल अपने अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और लोग अपना मत देकर जिसको ठीक समझते हैं चुनते हैं। प्रत्येक दल यह चाहता है कि उसके उम्मीदवार चुन जायँ क्योंकि इसीपर उसका बहुमत होना और सरकारी लगामका उसके हाथमें आना निर्भर है। अतः प्रत्येक दल मत-दाताओंको अपने उम्मीदवारोंकी योग्यता और अपने सिद्धान्तों-की उत्कृष्टता समझानेका प्रयत्न करता है। इस काममें विपुल धनराशि फूँक दी जाती है। जिस दलका प्रचारकार्य्य जितना अच्छा होता है उसकी सफलताकी उतनी ही अधिक सम्भावना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है। जो उम्मीदवार स्वतन्त्र रूपसे खड़े होते हैं उनके चुने जानेके तो बहुतही कम अवसर हो सकते हैं। परन्तु प्रचार-कार्यमें जो रुपया भस्म होता है वह धनिकोंकी जेबसे निकलता है। स्वयं पीछे रहकर धनिक लोग राजनीतिक दलोंको अपने रुपयोंसे खरीद लेते हैं, अपने मन लायक उम्मीदवारोंको खड़ा कराते हैं और चुनाव हो जाने पर इन प्रतिनिधियोंसे, जो उनके बोझसे दबे होते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार काम लेते हैं। मत-दाता भले ही यह समझ ले कि इनको मैं चुनता हूँ पर यह होते हैं उन धनिकोंके प्रतिनिधि जो उन्हें रुपया देकर खड़ा करते हैं और इनके दलकी सहायता करते हैं। राजनीतिक समता और मताधिकार बाहरी ढकोसला है।

धनिक समुदाय बहुत समझदार होता है। वह राजनीतिक नेताओंसे काम लेना जानता है। उसे यह ज्ञात है कि जबतक उनकी स्वाधीनता ऊपरसे बनी रहेगी तभीतक उनसे सहायता ली जा सकती है। इसलिए उनको भाषण-स्वातंत्र्य खूब ही दिया जाता है। दलोंके नेता लम्बे लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं और पत्रोंमें लम्बे लेख निकाल सकते हैं। सिद्धान्त और नीतिकी बातोंमें कोई रुकावट नहीं डाली जाती। ऐसी ही श्रुतिमधुर बातोंसे तो जनताको धोखा दिया जा सकता है। एक ही बन्धन है—कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया जा सकता जिससे धनिक और साधिकार समुदायोंके सामूहिक हितोंको क्षति पहुँचती हो। बहुमत होने और अपना मंत्रिमण्डल बना लेने पर दलोंको थोड़ा-बहुत सुधार भी करने दिया जाता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सारी क़लई खुल जाय। यदि किसी सुधार-योजनासे कुछ दिनके लिए धनिकोंको थोड़ीसी आर्थिक हानि भी हो जाय तो वह सह ली जाती है। नकेल अपने हाथमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखी जाती है, ऊँट यदि थोड़ासा इधर उधर सिर हिला ले तो इसमें कोई हर्ज नहीं है।

इतना ही नहीं, कभी कभी अपने विरोधियोंतकको अधिकार पाने दिया जाता है। इसका उदाहरण ब्रिटेनमें मिलता है। वहाँ-के मज़दूर नेता अपनेको समाजवादी कहते हैं। पर वह क्रान्ति-के विरोधी हैं। उनका विश्वास है कि पार्लिमेंटके द्वारा धीरे धीरे क़ानून बनवाते बनवाते समाजवादी व्यवस्था जारी हो जायगी। अब यदि उनको कभी पार्लिमेंटमें स्थान ही न मिले या उनको मंत्रिमंडलमें आनेका अवसर ही न मिले तो उनकी श्रद्धा पार्लि-मेंटपरसे उठ जायगी और वह भी क्रान्तिकारी बन जायँगे। ब्रिटेनके पूँजीपतियोंको यह अभीष्ट नहीं है। अतः वह उन्हें मंत्रिमंडलतक बनाने देते हैं पर अबतक मज़दूर दलने कोई ऐसा काम नहीं किया है जिससे कि धनिक वर्गके हितोंको कोई आघात पहुँचे। आजसे १५ वर्ष पहिले (१९८१ वि०) इस दलका बहुमत था। ज्यों ही धनिक-समुदायने देखा कि यह लोग अपने समाजवादी सिद्धान्तोंको कार्य्यान्वित करना चाहते हैं, उसने ऐसा प्रबंध किया कि बहुमत अल्पमत हो गया। इधर तो उसने ऐसे हथकंडे दिखलाये हैं कि मज़दूरदल छिन्नभिन्न-सा हो गया है। यह बात स्वाभाविक भी है। यह मानना भी भूल है कि थोड़ेसे मतोंके इधर उधर हो जानेसे विभूतिका भोग करनेवाले अपने स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दे देंगे। इसलिए लोकतंत्र शासन और व्यापक मताधिकारसे कुछ नहीं हो सकता। घोर आर्थिक विषमताके रहते हुए राजनीतिक समता व्यर्थ है। लोकतंत्र शासनका अर्थ होता है संघटित सम्पन्न वर्गोंकी इच्छाके अनु-कूल शासन, परन्तु इस प्रकार कि साधारण जनता समझे कि शासनमें हमारा भी हाथ है। इससे लोगोंका असन्तोष उभड़ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं पाता। यह आशा बँधी रहती है कि इस बार नहीं तो अगली बार अच्छे प्रतिनिधियोंको चुनकर सब बातें ठीक कर लेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि यदि राजनीतिक समताके साथ साथ न्यूनाधिक आर्थिक समता भी हो, शोषक और शोषितका भेद न हो और जनता शिक्षित तथा कर्तव्यपरायण हो तो लोकतंत्र शासन सर्वोत्तम होता है और मताधिकार बहुमूल्य अधिकार हो सकता है पर यह 'यदि' इतना बड़ा है कि आजकल व्यावहारिक दृष्टिसे लोकतंत्र शासन और मताधिकार निरर्थकसे हैं। यह बात निर्धनों, अधिकारहीनों, दुर्बलोंकी दृष्टिसे कही गयी है, धनवानों, बलवानों और अधिकारवालोंको तो यह दोनों चीजें बड़ी ही प्रिय हैं।

फ़ासिज़्म

आजकल जर्मनी और इटलीका उत्कर्ष देखकर कुछ लोगोंकी यह भावना हो गयी है कि फ़ासिज़्मसे पृथ्वीका कल्याण है, पर यह भ्रम है। फ़ासिज़्ममें स्वतंत्रता और शान्तिका क्या स्थान है वह इसी बातसे प्रकट होता है कि राष्ट्रसंघ और सारे सभ्य जगत्की पुकारको ठुकराकर इटलीने अबीसीनियाकी हजारों वर्षकी सञ्चित स्वाधीनताको नष्ट करके उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया है। कहा गया है कि इटली और अबीसीनियाको लड़ाई सभ्यता और बर्बरताकी लड़ाई थी। यदि विषैली गैस, द्रवाग्नि, बम, विस्फोटक गोलियाँ, अस्पतालोंपर गोलाबारी यह सब ही सभ्यताके लक्षण हैं तो बर्बरता क्या बुरी चीज़ है। इस प्रकार तो शान्ति नहीं हो सकती। फ़ासिज़्मका एकमात्र सिद्धान्त है अपने राष्ट्रका बल और आधिपत्य बढ़ाना, इससे दूसरे राष्ट्रोंका चाहे जो कुछ हिताहित हो। अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशके भीतर फ़ासिस्ट सरकारें इस समय ऊपरी शान्ति क़ायम किये हुए हैं पर वह शान्ति श्मशानकी या महामेघ-गर्जनके पूर्वकी शान्ति है। मज़दूर संस्थाएँ तोड़ दी गयी हैं, उनके नेता मार डाले गये हैं या जेलोंमें हैं, उनके पत्र बन्द कर दिये गये हैं। असन्तोष भीतर भीतर सुलग रहा है, एक दिन फूटेगा। जब किसी देशमें अशान्ति बहुत फैल जाती है तो वहाँका धनिक समुदाय लोकतंत्रके थोथे स्वांगको दूर फेंककर शासन सीधे अपने हाथमें ले लेता है। जैसा कि एक अवसरपर इटलीके सर्व-सर्वा मुसोलिनीने कहा था 'रूस और इटली दोनों देशोंमें यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सभी उदार विचारोंके बाहर, ऊपर और विरुद्ध चलकर शासन करना सम्भव है। समष्टि-वाद या फ़ासिज़्म दोमेंसे एककी भी स्वाधीनताके साथ ज़रा भी सजातीयता नहीं है। फ़ासिज़्मको यह घोषित करनेमें किञ्चि-न्मात्र डर नहीं है कि वह अनुदार या उदारता-विरोधी है। फ़ासिज़्म एक बार स्वतंत्रताकी देवीके न्यूनाधिक सड़े हुए शरीरपरसे गुज़र चुका है और यदि आवश्यकता हुई तो ऐसा फिर करनेको तैयार है।' जिस वादके प्रधान आचार्य्य ऐसी बातें कह सकते हैं उससे जगत्‌के कल्याणकी आशा रखना बालू-से तेलकी आशा रखनेके बराबर है।

प्रति-मशीन वाद

एक और 'वाद' है जिसपर थोड़ासा विचार करना है। कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि यदि मशीनें उठा दी जायँ तो फिर सुख-शान्ति हो जाय। मशीनोंके कारण ही बड़े बड़े कलकार-ख़ाने खुलते हैं और थोड़ेसे लोगोंको बहुतसा धन संग्रह करने और दूसरोंको अपना अर्थदास बनानेका अवसर मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि मशीनें न होंगी तो फिर वही पहिलेकी भाँति कारीगर अपने घरोंपर वस्त्रादि तय्यार करेंगे। न आज जैसी प्रतियोगिता होगी, न कलह, न उत्पीड़न, न असन्तोष, न अशान्ति।

इसके भीतर भी सत्यका कुछ अंश है। यदि आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्वकी आर्थिक अवस्था फिरसे ला दी जाय तो आजकी अपेक्षा उत्पीड़न और वैषम्यमें अवश्य कमी हो जायगी। परन्तु इसमें दो आपत्तियाँ हैं। एक तो यह कि अब मशीनोंका तुड़वाना सम्भव नहीं है। सभ्य राष्ट्र आपसमें लड़कर इस प्रकार तबाह हो जायँ कि मशीनोंके चलानेकी विद्या ही लुप्त हो जाय तो दूसरी बात है, अन्यथा शौकसे कोई मशीनोंको तोड़नेपर राज़ी न होगा। फिर, जिस वैज्ञानिक उन्नतिके द्वारा धनोपार्जन और उत्पीड़नके साधनोंका आविष्कार हुआ है उसीने सुखवर्द्धक यन्त्रोंको भी सम्भव बनाया है। कपड़ा सीनेकी मशीन, कुएँसे पानी निकालनेकी मशीन, बिजलीको रोशनी देनेवाला डाइनमो—यह भी तो मशीनें हैं। रोगीके पासतक डाक्टरको ले जानेवाली मोटर और दुर्भिक्ष-पीड़ितोंके पासतक अन्न पहुँचानेवाली रेल भी मशीन हैं। इनमेंसे किस किसको तोड़ें? यदि इनको रखना है तो इनके बनानेवाले कारख़ाने भी रहेंगे। फिर तो कोई नयी बात न हुई। आज मशीनोंके कारण बहुतसा काम थोड़े समयमें हो सकता है और मज़दूरोंको भी पढ़ने-लिखनेका अवसर मिल जाता है। यदि किसी प्रकार सब मशीनें तोड़ ही दी जायँ तो संस्कृतिकी यह सारी बातें दूर हो जायँगी। सब काम हाथसे होंगे। काम करनेवाले मज़दूर अशिक्षित और असंस्कृत हो जायँगे। मस्तिष्कोंपर पुनः ताले पड़ जायँगे। पर यह भी किसीको अभीष्ट नहीं है। यदि मनुष्य अपने श्रमको कम करने, अपने स्वास्थ्यको बढ़ाने, सर्वत्र अन्नवस्त्रादि पहुँचाने, के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधनोंका आविष्कार कर सकता है, तो उसको ऐसा करनेसे रोकना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि वह अपनी बुद्धिका सदुपयोग करके इन साधनोंको अपनी तबाहीके उपकरण न बना ले।

मुझे विश्वास है कि मैंने संक्षेपमें उन सब उपायोंकी आलोचना की है जो साधारणतः हमारे प्रश्नके उत्तरमें पेश किये जाते हैं। मैंने इस बातका भी यथाशक्य प्रयत्न किया है कि आलोचना करते समय किसीके साथ अन्याय न करूँ। फिर भी, मैं इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि जो विकट परिस्थिति हमारे सामने है उसका निवारण इनमेंसे किसीके भी द्वारा नहीं हो सकता। हमारे सामने समस्या यह है कि लोगोंकी शिक्षा और संस्कृतिमें, मस्तिष्कके विकास और तज्जनित भौतिक तथा बौद्धिक सुखोंमें, कोई कमी न होपर दारिद्र्य, वैषम्य, उत्पीड़न, शोषण, का अभाव हो जाय। हमारी इच्छा यह है कि यह पुराना आशीर्वाद सफल हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

पाचवाँ अध्याय

एक और उत्तर

तीसरे अध्यायमें जो सनातन प्रश्न उठाया गया है उसके प्रचलित उत्तरोंकी जो विवेचना हमने की उसका परिणाम नकारात्मक निकला। यदि इस गाँठको खोलनेका कोई और साधन नहीं है तो मानव-जगत्का भविष्य बड़ा ही तमः-आच्छादित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे थोड़ा बहुत सुधार इधर उधर हो जाय पर किसी मौलिक परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है। यह हमारे सौभाग्यकी बात है कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आजके युगके सामने एक और योजना, एक और उत्तर, है जो अन्य योजनाओंके दोषोंसे मुक्त है। इसका नाम है 'समाजवाद'। अधिक स्पष्टीकरणके लिए इसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' भी कहते हैं। हिन्दीमें 'साम्यवाद' शब्द अधिक प्रचलित हो गया है पर उसकी अपेक्षा 'समाजवाद' अधिक सार्थक है।

'वैज्ञानिक' विशेषण देनेका कारण है। अपनेको समाजवादी कहना प्रगतिशीलताका चिह्न माना जाने लगा है, इसलिए बहुत-से लोग समाजवादी कहलाने लगे हैं। भारतमें ही ऐसे सज्जन हैं जो रूसके कम्यूनिस्ट दल, भारतके कांग्रेस समाजवादी दल तथा देश-विदेशके दूसरे सङ्घटित समाजवादी दलोंके प्रायः सभी सिद्धान्तोंको नापसन्द करते हैं पर अपनेको समाजवादी कहते हैं। यह बात रोकी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि कोई व्यक्ति अपनेको समाजवादी कहना ही चाहता है तो उसे ऐसा करनेका पूरा अधिकार है। पर यह स्वाभाविक है कि ऐसे सब लोगोंके विचार एकसे नहीं होते। इसलिए इनके मुँहसे इस शब्दका प्रयोग बहुत ही भ्रामक होता है।

आजकल ही नहीं प्राचीन कालमें भी ऐसे उदारचेता व्यक्ति हुए हैं जिनके हृदय मनुष्योंके पारस्परिक कलह, उत्पीड़न, शोषण, वैषम्य,को देखकर व्यथित हो उठे हैं। वह ऐसी बातोंको न्याय और मनुष्यता तथा धर्म्मके विरुद्ध समझते हैं। उन्होंने ऐसे जगत्के मानस चित्र खींचे हैं जिनमें यह बातें न होंगी, जिनमें सभी सुखी, सभी बराबर होंगे। ऐसे काल्पनिक जगत्का वर्णन करनेवाली पुस्तकें भी हैं। अंग्रेज़ीमें सर टामस मोरकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'यूटोपिया' इस विषयकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पुराणोंमें 'उत्तरकुरु' का जो वर्णन है वह इसी ढङ्गका है। यूटोपिया हो या उत्तरकुरु यह काल्पनिक प्रदेश एक प्रकारके आदर्श हैं जिनमें यह दयार्द्र हृदय जगद्धितैषी इस पाशवाचारमयी पृथ्वीको परिणत करना चाहते हैं। इनमेंसे कुछ लोगोंने इतनेसे ही सन्तोष नहीं किया है वरन् अपने आदर्शोंको कार्य्यान्वित करनेका भी प्रयत्न किया है। यूरोपमें ऐसी कई समाजवादी बस्तियाँ बसायी गयीं जिनमें लोगोंने इन आदर्शोंके अनुसार जीवन बितानेकी यथाशक्य चेष्टा की पर यह सब प्रयत्न विफल हुए। सभी बस्तियाँ उजड़ गयीं। इन लोगोंकी सहृदयता सर्वथा प्रशंसनीय है परन्तु इनके विचारोंके आधार ही ग़लत हैं, इसलिए उनमें व्यावहारिकता नहीं है। इस प्रकारके विचारोंको उत्तरकौरव या यूटोपियन समाजवाद कहते हैं। इसमें जो त्रुटियाँ हैं वह वैज्ञानिक समाजवादके वर्णनके साथ आप ही स्पष्ट हो जायँगी।

जो समाजवाद हमको अभिमत है, जिसका निर्देश हमने वैज्ञानिक समाजवादके नामसे किया है, वह वर्तमान युगकी आविष्कृति है। आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले, जब मशीनोंका निर्माण नहींके बराबर था और पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक यातायातके साधन संकुचित थे, वह परिस्थिति थी ही नहीं जिसमें इसकी आवश्यकता पड़ती। रोग था ही नहीं, औषध किस लिए दी जाती। आजकलकी वैज्ञानिक सभ्यताने जिस प्रकार उत्पीड़न, दरिद्रता, शोषण, बेकारी, युद्ध, अशान्ति आदिको जन्म दिया है, उसी प्रकार इनके शमनके लिए उसने वैज्ञानिक समाजवादकी भी सृष्टि की है।

समाजवादी विचारकी कई धाराएँ हैं पर इनमें सबसे प्रौढ़ वह है जिसके प्रवर्तनका श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को है। यह दोनों ही जर्मन थे। इनके ग्रन्थ और लेख वैज्ञानिक समाजवादके प्रामाणिक प्रस्थान हैं। उनमें न केवल समाजवादके सिद्धान्त दिये गये हैं वरन् व्यावहारिक आदेश भी हैं। मार्क्स और एंगेल्सके विचारोंकी महत्ता इसीसे सिद्ध होती है कि आज 'समाजवादी' शब्दसे उसी व्यक्तिका निर्देश होता है जो इनके सिद्धान्तोंका माननेवाला हो, किसी दूसरे ख़यालको माननेवाले-के लिए कोई न कोई विशेषण जोड़ना पड़ता है।

यों तो मार्क्स, एंगेल्स तथा इनके शिष्योंने समाजवादके विषयमें बहुत कुछ लिखा है परन्तु दो ग्रन्थ विशेषतया प्रामाणिक हैं, एक तो मार्क्स और एंगेल्स लिखित 'कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो' (सं० १९०५ में प्रकाशित) और दूसरी मार्क्स लिखित 'दास कापिताल' (१९२४ से १९५१ तक प्रकाशित)। मैनिफ़ेस्टोका हिन्दी अनुवाद झाँसीके श्री अयोध्याप्रसादने किया था पर सरकारने उसे ज़ब्त कर लिया; कापितालका कोई हिन्दी अनुवाद अबतक नहीं हुआ है।

वैज्ञानिक समाजवादी न्याय और मनुष्यताके नाते पीड़ितोंकी अवस्थामें सुधार नहीं कराना चाहता। वह धनिकों और अधिकारवालोंसे दयाकी भिक्षा नहीं माँगता और न उनके हृदयोंके परिवर्त्तनकी चेष्टा करता है। वह संसारके लिए क्या उचित और न्याय्य है, इसका आदर्श बनाने भी नहीं बैठता और न किसी उत्तरकुरुको अपना लक्ष्य मानता है। उसकी परिपाटी वही है जो एक कुशल वैद्यकी होती है। वैद्य रोगीकी परीक्षा करते समय अपने मस्तिष्कके किसी सिद्धान्तसे काम नहीं लेता; यह देखता है कि रोगीका शरीर क्या बतलाता है। नाड़ी देखकर, चाहे यंत्रोंकी सहायता लेकर, सबसे पहिली और आवश्यक बात रोगका निदान है। मूलरोगके उपलक्षण अनेक होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है पर मूलरोगको ही पहिचानना और पकड़ना चाहिये। उसके शमनके बाद उपरोग और उपलक्षण आप ही शान्त हो जायँगे। वैद्य यह भी जानता है कि यद्यपि शरीरमें रोगके कीटाणु या अन्य बाह्य-वस्तुका प्रवेश हो जाता है पर शरीर स्वयं अपनेको नीरोग करनेका प्रयत्न करता है। ज्वर स्वयं कोई रोग नहीं है वरन् इस बातका सूचक है कि शरीरके भीतर रोग और रोग-नाशक शक्तियोंमें, जो रोगके साथ ही जागरित हो उठती हैं, संघर्ष हो रहा है। इसलिए कुशल वैद्य यह प्रयत्न करता है कि प्रकृतिका अध्ययन करके उसकी सहायतासे काम ले। जो औषध यों ही मनमाने ढंगसे दे दी जायगी वह प्रकृतिकी रोग-नाशक शक्तियोंको कुण्ठित कर देगी और रोगीका प्राण ही ले लेगी। औषध देनेवालेके सद्भाव रोगीको नहीं बचा सकते। जो औषध प्रकृतिके साथ चलनेवाली होगी, जिस दिशामें प्रकृति शरीरको ले जाना चाहती है उस दिशामें चलनेमें सहा यक होगी, वह उपयोगी होगी। जो वैद्य ऐसी औषध दे सकता है अर्थात् जो प्रकृतिकी गतिविधिको पहिचान कर उसके अनु-कूल काम करना जानता है वही कुशल चिकित्सक है।

यह सब केवल रूपक बाँधनेके लिए नहीं कहा गया है। वैज्ञानिक समाजवादीकी यही पद्धति है। वह मनुष्य-समाजकी हज़ारों ख़राबियोंको देखता है पर इनमेंसे एक एकके पीछे नहीं दौड़ता क्योंकि वह समझता है कि इनमेंसे अधिकांश गौण और उपलक्षण मात्र हैं। वह मूलरोगको पकड़नेका प्रयत्न करता है और यह देखता है कि समुदायके भीतर वह कौनसी शक्तियाँ हैं जो स्वतः इस रोगके उच्छेदका प्रयत्न कर रही हैं। उसको यह अनुभव है कि व्यक्तिकी भाँति समूहमें भी रोगके साथ ही उसको उन्मूलन करनेवाली शक्तियाँ भी जाग उठती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वह इन्हींको दृढ़ करना चाहता है। प्रकृति जिस अवस्थाको उत्पन्न करना चाहती है उसीको सामूहिक स्वास्थ्य मानकर वह अपना लक्ष्य बनाता है। इसीलिए उसकी प्रक्रिया वैज्ञानिक कहलाती है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि इसी पद्धतिका अनुसरण करनेसे मनुष्यता और सच्चे न्यायकी भी पुष्टि होती है।

वैद्यके पास रोगके निदान, रोगके वृद्धि-क्षयक्रम, रोगकी चिकित्सा, शारीरिक रसोंके सञ्चय और व्यय आदिके विषयोंका एक शास्त्र है। इसको चिकित्सा दर्शन कह सकते हैं। यह शास्त्र उसके प्रकृति-निरीक्षण और अनुभवके आधारपर बना है। इसी प्रकार समाजवादका भी दर्शनशास्त्र है जो उसको सामूहिक जीवनके विकास और परिवर्त्तनको समझने और तदनुसार अपनी कार्य्यप्रणाली निश्चित करनेमें सहायता देता है। इसका नाम है ऐतिहासिक भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद*। 'ऐतिहासिक' और 'द्वन्द्वात्मक' का अर्थ तो अगले अध्यायमें दिखलाया जायगा पर यहाँ इतना कह देना चाहिये कि 'भौतिकवाद' शब्द भ्रामक है। समाजवादी दर्शन उस अर्थमें भौतिक नहीं है जिस अर्थमें चार्वाक मत या अन्य कई भारतीय या विदेशीय दर्शन भौतिक हैं। इसका विकास हीगेलके अध्यात्मवादके† प्रतिवादमें हुआ, इसलिए यूरोपियन प्रथाके अनुसार इसका 'भौतिकवाद' ऐसा नामकरण हुआ। भारतकी बात होती तो स्यात् इसे अनात्मवाद या कुछ ऐसा ही नाम देते। अनात्मवाद हमारे लिए कोई नयी वस्तु नहीं है। परम आस्तिक सांख्य-

---

* Historical Materialism or Dialectical Materialism.

† Idealism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन अनीश्वरवादी है और सारा बौद्धधर्म्म अनात्मवादकी नींवपर खड़ा है। सब लोगोंको यह अनात्मवाद अभिमत नहीं है पर इस अनात्मवादमें औदार्य्य, तप, ज्ञानके लिए उतना ही स्थान है जितना कि कोई अन्य दर्शन दे सकता है। यह उस बार्हस्पत्य अनात्मवादसे सर्वथा भिन्न है जो यह उपदेश देता है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

इसीलिए कुछ विद्वान् इसे भौतिकवादके स्थानमें 'वस्तुवाद' या 'याथातथ्यवाद'* कहते हैं। मैं स्वयं 'द्वन्द्वात्मक-प्रधानवाद' नाम पसन्द करता हूँ।

मैं जानता हूँ कि ऐसे बहुतसे लोग हैं जो समाजवादके व्यावहारिक कार्य्य-क्रमके बहुतसे अंशोंसे सहमत हैं पर उसके दार्शनिक आधारको स्वीकार नहीं करते। इसका कुछ कारण तो यह है कि यह दर्शन उनके सामने ठीक तरहसे रखा नहीं गया है। दूसरी बात यह है कि यदि कोई व्यावहारिक कार्य्य-क्रम मानते हुए दार्शनिक आधार नहीं मानता तो उसके लिए इस कार्य्य-क्रमके लिए उपयुक्त दार्शनिक आधार ढूँढ़ना चाहिये। इसलिए मैं संक्षेपमें इस दर्शनका ही कुछ थोड़ा-सा निरूपण करूँगा।

---

* Realism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छठाँ अध्याय

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

यह जगत् सत्य* है। कुछ लोग इसको स्वप्नवत् मिथ्या मानते हैं पर यह उनकी भूल है। इसके मिथ्यात्वका कोई प्रमाण नहीं है। उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता द्रष्टासापेक्ष न हो अर्थात् जिसकी सत्ता किसी साक्षीपर निर्भर न हो। मैं अपने कमरेमें बैठा हूँ। मेरे सामने एक पुस्तक है। यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तकरूपी दृश्य मेरे अन्तःकरण-रूपी द्रष्टाकी अपेक्षा करता है अर्थात् यदि मैं इसका अनुभव

*दर्शनका अध्ययन पाश्चात्य देशोंमें केवल सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होता है। लोग यथासम्भव जगत्का स्वरूप, उसका कारण, उसका विकास, जीव-अजीवका रहस्य आदि समझना चाहते हैं। भारतमें दर्शनके अध्ययनका उद्देश्य मोक्ष है। समाजवादीका उद्देश्य इन दोनोंसे भिन्न है। वह जगत्का रहस्य इसलिए जानना चाहता है कि उसको समझकर जगत्को परिवर्तित कर सके। वह जगत्की वर्तमान अवस्था-का सुधार ईश्वर, प्रारब्ध या नियतिपर नहीं छोड़ना चाहता। जैसा कि मार्क्सने कहा है 'दार्शनिकोंने जगत्को अनेक प्रकारसे समझनेकी चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसको परिवर्तित कैसे किया जाय'।

मेरा यह दावा नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्सके दार्शनिक विचार-की जो व्याख्या मैं कर रहा हूँ वह उनके सभी अनुयायियोंको अभिमत है पर इसके साथ ही मेरा यह विश्वास है कि मैंने उसको कहीं विकृत नहीं किया है। भारतीय पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मेरी सम्मतिमें सर्वथा उचित है और भारतीय विचारधारासे तुलना करनेमें सहायता देता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेवाला न होता तो इस पुस्तकका अस्तित्व लुप्त हो जाता। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि मैं हूँ या न हूँ पुस्तक रहेगी। इसके जवाबमें यह कहा जाता है कि मैं न सही, कोई न कोई अन्तःकरण तो उसका अनुभव करनेवाला होगा। यदि यह बात ठीक हो कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता किसी न किसी अनुभव करनेवाले अन्तःकरणकी अपेक्षा करती है तो क्या उस जगह जहाँ अनुभव करनेवाला पशु-पक्षी-मनुष्य किसीका अन्तःकरण नहीं है वहाँ जगत् नहीं है? या जिस समय मनुष्यादि प्राणधारी नहीं थे, उस समय जगत्का अभाव था? यदि किसी समय ऐसे सब अन्तःकरण प्रसुप्त या विलीन हो जायँ तो क्या जगत् न रहेगा? क्या सचमुच जगत् मनोराज्य है? जहाँ कोई अन्तःकरण नहीं है, वहाँ मनोराज्य कैसे होगा? वहाँ तो केवल शून्यदिक् और शून्यकाल रहेगा। पर दिक् और काल भी तो अन्तःकरण द्वारा अनुभूत या अनुमित होते हैं या कुछ लोगोंके विचारके अनुसार अन्तःकरणके ही धर्म्म हैं, फिर जहाँ अन्तःकरण न होगा वहाँ दिक् और कालकी सत्ता कैसे रह सकती है? इन सब प्रश्नोंके तीन प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि वस्तुतः जगत् मिथ्या है। उसका अस्तित्व है ही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि ईश्वर त्रिकालका साक्षी है। उसके अन्तःकरणमें जो संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं वह जगत्-रूपसे प्रतीत होते हैं। जहाँ और जिस समय और कोई साक्षी नहीं होता उस समय भी ईश्वर रहता है, इसलिए उसके मनोराज्य-स्वरूप जगत् रहता है। जब मनुष्यादि कोई प्राणी नहीं था, तब भी ईश्वर था, इसलिए जगत् था। यही बात भविष्यकालके लिए लागू है। मार्क्स इन दोनों सिद्धान्तोंको नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य है अर्थात् जब कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभव करनेवाला अन्तःकरण नहीं था, तब भी था और जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण न होगा तब भी रहेगा।

जगत्‌के सत्य होनेका अर्थ यह है कि जगत्-प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज है वह पहले न रहा होगा, आगे भी न रहेगा। उसमें तो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन-शीलता उसका मुख्य लिङ्ग है। यह प्रश्न तो निरर्थक है कि जगत्‌की उत्पत्ति किससे हुई। इस प्रश्न करनेका तात्पर्य यह होगा कि एक दूसरा प्रश्न जगत्‌की उत्पत्तिके हेतुके विषयमें पूछा जाय। यदि कोई स्रष्टा माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि उसने सृष्टि क्यों की? इस सम्बन्धमें सभी देशोंके दार्शनिकोंने बहुत विचार किया है जिसको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही बतला देना पर्य्याप्त है कि मार्क्स जगत्‌का कोई आरम्भक या स्रष्टा नहीं मानते। जगत्‌का विकास अर्थात् उसके स्वरूपमें परिवर्तन किसी बाहरी शक्तिके अधीन नहीं है। उसकी भीतरी शक्ति, उसका स्वभाव ही, उसके लिए प्रेरक है। इसलिए जगत्‌की प्रगति किसी विशेष दिशामें नहीं है। उसका कोई विशेष, निश्चित, उद्देश्य नहीं है।

जगत्‌के विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि जगत् किसी लौकिक या अलौकिक व्यक्ति-का मनोराज्य या उद्देश्यप्रसूति होता तो हम उस व्यक्तिके अन्तःकरणके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उसको यथावत् जान लेते। वेदान्तके शब्दोंमें हमारा ज्ञान हस्तामलक ज्ञान होता पर जो पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता रखता है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है उसको बुद्धिमें बाँधा नहीं जा सकता। पर ज्यों ज्यों हमारे ज्ञानके करणोंमें उन्नति होती जाती है त्यों त्यों हमारा ज्ञान यथार्थज्ञानके सन्निकट आता जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत्‌का मूल स्वरूप क्या था ? इसके सम्बन्धमें दो प्रकारके उत्तर हो सकते हैं। एक प्रकारका उत्तर तो यह है कि मूल पदार्थ एक ही था। दूसरा यह है कि जीव और अजीव, चेतन और जड़, दो पदार्थ थे। इसीसे मिलता-जुलता योग-दर्शनका यह सिद्धान्त है कि मूलमें पुरुष, ईश्वर और प्रकृति तीन पदार्थ थे। एक पदार्थ माननेवाला अर्थात् अद्वैतवादी सिद्धान्त भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो यह कि मूल पदार्थ चेतन था। यह शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तका विशुद्धाद्वैतवाद है। इसीके अन्तर्गत वह सब सिद्धान्त हैं जो ब्रह्म या तत्सम किसी पदार्थकी विकृतिसे जगत्‌का विकास मानते हैं। मार्क्स और एंगेल्स इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते। वह अद्वैतवादी हैं पर उनका जगन्मूल अद्वय पदार्थ चेतन नहीं है। उनके अनुसार इस जगत्‌का मूल स्वरूप 'मैटर' था। इस पाश्चात्य 'मैटर' शब्दका पर्याय कुछ लोग भूत या तत्त्व करते हैं। मैटर पञ्चमहाभूतके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है पर दार्शनिक परिभाषामें यह वह पदार्थ है जिससे जगत्‌का विकास हुआ है और जो स्वतः जड़ है। भारतीय दर्शनमें उस पदार्थको जिससे अन्य पदार्थ निकलते हैं प्रकृति कहते हैं। जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे निकला है उसे विकृति कहते हैं। अधिकांश पदार्थ प्रकृतिविकृति हैं अर्थात् वह किसी पदार्थसे निकले हैं और उनसे कोई पदार्थ निकलता है। परन्तु जगत्‌का मूल केवल प्रकृति है। इसीसे इसे मूल प्रकृति कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रधान जड़ है। उसकी सत्ता है पर उसमें चेतना नहीं है। उसका स्वरूप चित् नहीं केवल सत् है। यह प्रधान ही उच्च कोटिके यूरोपियन दर्शनका 'मैटर' है।

इस प्रधानसे जो मूलतः अव्यक्त है सारे जगत्‌का विकास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। सारा जगत्—सारा चराचर विश्व—एक साथ ही नहीं निकल आता। क्रमशः एक पदार्थके पीछे दूसरा पदार्थ, एक अवस्थाके पीछे दूसरी अवस्था प्रकट होती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तुएँ, कीटाणुसे लेकर मनुष्यतक, परमाणुके अङ्गभूत विद्युत्कणसे लेकर आकाशस्थ महासूर्य्यतक, रासायनिक तत्त्वोंसे लेकर बुद्धितत्त्व और चेतनातक, सभी इसीमेंसे अभिव्यक्त हुए हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रधानका रूप विकृत कैसे होता है, उसमें परिवर्तन कैसे होता है?

प्रधानकी कोई भी अवस्था ले ली जाय, वह कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियोंकी साम्यावस्था होती है। यह विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रसुप्त हों या उदार, पर जबतक यह एक दूसरीको सँभाले रहती हैं तबतक अवस्था एकसी रहती है। सांख्यके अनुसार भी सत्व, रज, तम अर्थात् तीनों परस्पर विरोधी गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रधान है। प्रत्येक अवस्थामें विपरीत धर्म्म एक दूसरेमें समवेत रहते हैं। इस विपरीत समवाय*के द्वारा ही आगे चलकर विकास या परिवर्तन होता है। पर यह साम्यावस्था बहुत दिनोंतक नहीं रह सकती। जिन विपरीत तत्त्वोंका समावेश उस अवस्थामें होता है उनमें स्वभावतः क्षोभ उत्पन्न होता है। धीरे धीरे एक कुछ प्रबल होने लगता है। उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब कि प्रधानकी वह पूर्वावस्था बदल कर नयी ही अवस्था, नया ही स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रक्रियाको 'मात्राभेदसे गुणभेद' † कहते हैं। उदाहरणके लिए जलको ले लीजिये। एक

* Interpenetration of contradictories.

† The changing of quantity into quality.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति है जो जलके परमाणुओंको एक दूसरेकी ओर आकृष्ट किये हुए है। दूसरी शक्ति उनको एक दूसरेसे पृथक् करती है। दोनोंकी साम्यावस्थामें जलका रूप रहता है। जब वियोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ने लगती है तो बढ़ते बढ़ते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब जलके गुणके स्थानमें दूसरे गुण प्रतीति होने लगते हैं और जलके स्थानमें भाप आ जाती है। यदि संयोजक शक्तिकी मात्रा बढ़ती तो गुणान्तरकी प्रतीति होती और जलके स्थानमें बर्फ देख पड़ती। यह नयी अवस्था प्रथम अवस्थासे विपरीत होती है अतः इसे उसका विपरिणाम * कहते हैं। परन्तु कुछ काल में जिस प्रकार पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था बनी थी उसी प्रकार इस दूसरी अवस्थामें भी साम्यावस्थाका प्रणाश अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। क्रमात् यह भी बदलती है। इसका भी विपरिणाम उत्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था पहली अवस्थाके विपरिणामका विपरिणाम † होती है। जिस प्रकार द्वितीय अवस्था प्रथम अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है उसी प्रकार तृतीय अवस्था द्वितीय अवस्थामें बीजरूपसे वर्तमान है। प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्तीके विपरीत होती है पर अपने गर्भमें उसका कुछ अंश ले आती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्थामें प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्थाका कुछ अंश विद्यमान रहता है। जो विपरिणामका विपरिणाम होता है उसमें मूल और विपरिणाम दोनोंका समन्वय होता है अर्थात् वह दोनोंके मुख्यांशोंकी साम्यावस्था होता है। इसके बाद उसकी दशा स्वयं मूल अवस्था जैसी होती है। क्रमात् उसका विपरिणाम

---

* Negation. † Negation of the negation.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और फिर विपरिणामका विपरिणाम उत्पन्न होता है। यों ही परम्परा चलती रहती है और तत्त्वसे तत्त्वान्तर, अवस्थासे अवस्थान्तर बनता रहता है। यही इस जगत्‌के विकासका क्रम है।

मूल अवस्थाको वाद*, विपरिणामको प्रतिवाद† और विपरिणामके विपरिणामको युक्तवाद‡ भी कहते हैं। यह शब्द शास्त्रार्थकी प्रक्रियासे लिये गये हैं। शास्त्रार्थ करते समय पूर्वपक्षी जो कुछ कहता है वह वाद है। सम्भवतः उसमें सत्यका अंश है परन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। उत्तरपक्षी उसके उत्तरमें जो कहता है वह प्रतिवाद है। सम्भवतः इसमें भी सत्यका अंश है। अब यदि कोई निर्णायक होगा तो वह वाद और प्रतिवाद दोनोंका समन्वय करेगा। इस प्रकार सत्यका जो रूप स्थिर होगा वह युक्तवाद होगा और यथार्थ नहीं तो उसके समीपतर अवश्य होगा।

यूरोपमें पहले-पहल हीगेलने इस सिद्धान्तका प्रवर्तन किया था कि जगत्‌का विकास इस वाद-प्रतिवाद-युक्तवाद या मूल अवस्था-विपरिणाम-विपरिणामका विपरिणाम-क्रमसे होता है। विवर्तनके इस प्रकारको द्वन्द्वात्मक §कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वाद अपने द्वन्द्वस्वरूप प्रतिवादको अपने गर्भसे उत्पन्न करता है। यह हो ही नहीं सकता कि वाद हो और प्रतिवाद न हो। प्रतिवादकी अभिव्यक्ति देरमें हो पर वह बीज रूपसे अवश्य रहता है, कमसे कम वह आभ्यन्तर क्षोभ जो आगे चलकर विपरिणामके रूपमें व्यक्त होता है साम्यावस्थाके स्थापित होनेके साथ ही आरम्भ हो जाता है। हाँ, यदि विपरीत धर्मोंका ही किसी प्रकार अभाव हो जाय तो वादके पीछे प्रतिवाद नहीं आ सकता। यह बात तो व्यावहारिक नहीं है परन्तु विकासकी किसी विशेष

---

* Thesis. † Anti-thesis ‡ Synthesis. § Dialectical.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लड़ीको निःसन्देह तोड़ा जा सकता है। बीज वाद है। पृथ्वीमें पड़कर उससे जब अंकुरादिका प्ररोहण हुआ तो उसका विपरिणाम या प्रतिवाद हुआ। जब फिर नये बीज बने तो यह नये बीज युक्तवाद अर्थात् मूल बीजके विपरिणामके विपरिणाम हैं। वह विकासका क्रम है। पर यदि कोई बीज विशेष दग्ध कर दिया जाय तो उसके विकासकी शृङ्खला समाप्त हो जायगी।

हीगेलके अनुसार जगत्का मूल पदार्थ न केवल सत् प्रत्युत चित् भी है। उसका स्वरूप है अहम्—मैं। वह मूलवाद है। उसने अपने प्रतिवाद अनहम्—न-मैं—को व्यक्त किया। अहम् चित् है, अतः अनहम् जड़ है। इस अहम् अनहम्के युक्तवादकी द्वन्द्वात्मक प्रसूति ही यह जगत् है।

यद्यपि शारीरक भाष्यमें शङ्करने 'प्रधानमल्ल निवर्हणन्यायेन' सांख्यके मतका खण्डन किया है पर बहुतसे अद्वैतवादी सांख्यके विकास-क्रमको मानते हैं। उनके अनुसार सांख्य और वेदान्तका जो समन्वय होता है उसमें भी यह द्वन्द्वात्मक पद्धति ही मानी गयी है।

जगत्का मूल स्वरूप ब्रह्म है। ब्रह्म अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र है। उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता है अतः वह नेति, नेति, वाच्य है। ब्रह्म वाद है। वह अपने प्रतिवाद स्वरूप मायाको अभिव्यक्त करता है। माया ब्रह्मसे भिन्न पर अभिन्न है। वह ब्रह्मका स्वभाव है, अचित् है। ब्रह्म और मायाका युक्तवाद ईश्वर है। ईश्वर अपने प्रतिवाद स्वरूप आद्या, अविद्या, को अभिव्यक्त करता है। ईश्वर और अविद्याका युक्तवाद पुरुष है। पुरुष अपने प्रतिवाद स्वरूप मूल प्रकृतिको व्यक्त करता है। इन दोनोंका युक्तवाद महत् है। इसी प्रकार क्रमशः स्थूल भूतोंतक विकास होता जाता है। मेरे कहनेका यह तात्पर्य्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है कि किसीने इस द्वन्द्वात्मक या एतत्सम किसी दूसरे शब्दका प्रयोग किया है पर जो विकासक्रम दिखलाया गया है उसकी तहमें यह बात निःसन्देह प्रतीत होती है।

मार्क्स और एंगेल्सने हीगेलसे इस विकासक्रमको तो ले लिया है पर जगत्का मूल उनके अनुसार कोई चेतन अहम् पदार्थ नहीं वरन् अचेतन प्रधान था। इसीलिए इनका सिद्धान्त प्रधानवाद कहलाता है। ऊपर बतलाये हुए कारणसे उसके नामके साथ 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण लगा हुआ है। *

जब जगत्का मूल अचेतन था तो फिर किसी नित्य आत्मा-के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। इसीलिए इसे द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद भी कह सकते हैं। 'द्वन्द्वात्मक' जोड़े रहना अच्छा है, अन्यथा बौद्ध जैसे अनात्मवादी दर्शनोंसे भ्रान्ति होनेका डर है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन पुनर्जन्मको मानता है पर अबतक मार्क्स और एंगेल्सके अनुयायी ऐसा नहीं मानते।

नित्य आत्मा हो या न हो पर जगत्में चेतनाका अनुभव तो होता ही है। चेतनाके दो लक्षण हैं, ज्ञान और इच्छा—स्वयं प्रभावित होना और प्रभावित करना। जहाँ चेतना है वहाँ किसी न किसी प्रकारका अन्तःकरण है। किसी न किसी प्रकार मन अहङ्कार और बुद्धिका क्षेत्र है। अन्तःकरणकी विकसित अवस्थामें उसके गुण, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध, औदार्य्य, दया, त्याग, प्रेम इत्यादि भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। प्रधानवादी इनमेंसे किसीकी भी सत्ताको अस्वीकार

---

* इसके दो एक प्रचलित नामोंकी ओर हम पिछले अध्यायमें संकेत कर चुके हैं। एक और नाम 'भौतिक विवर्तनवाद' है पर मुझे ऊपर दिये हुए कारणोंसे यह नाम ठीक नहीं जँचते।

स–६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं करता। वह केवल दो बातें कहता है। पहिली तो यह कि इनमेंसे कोई भी किसी नित्य आत्माका गुण नहीं है। दूसरी यह कि जैसे प्रधानके विकास द्वारा अनेक पदार्थों, जैसे सोना, ताँबा, कोयला, की उत्पत्ति हुई है वैसे ही अन्तःकरण और उसके गुणोंकी भी उत्पत्ति हुई है। पृथ्वी करोड़ों वर्षोंतक प्रज्वलित वाष्पोंका पिण्ड थी। उसके भी करोड़ों वर्ष पीछे वह इस योग्य हुई कि उसपर कोई प्राणी रह सके। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई तब प्रधानसे अन्तःकरणकी भी अभिव्यक्ति हुई। ज्यों ज्यों परिस्थिति अनुकूल होती गयी त्यों त्यों अन्तःकरणकी अभिवृद्धि होती गयी। किसी भी सभ्य देशका शिक्षित व्यक्ति करोड़ों वर्षोंकी उन्नतिका दायाद है।

परिस्थितिके अनुसार ही अन्तःकरणके गुणोंका अभिव्यञ्जन होता है। जैसे परिस्थितिके अनुसार प्रधानसे कहीं हिमालय पहाड़ निकला है, कहीं प्रशान्त महासागर, कहीं आकाशगङ्गा और कहीं ऋण विद्युत्कण, उसी प्रकार परिस्थितिके अनुसार कहीं क्रूरता व्यक्त होती है, कहीं उदारता, कहीं क्षमा और कहीं क्रोध। मनुष्य ऐसा समझता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने संकल्पके अनुसार काम करता हूँ। यदि मेरी इच्छा होती है तो खड़ा होता हूँ, नहीं तो बैठा रहता हूँ। यहाँ तक तो ठीक हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि सङ्कल्प करनेका स्वातन्त्र्य कहाँ तक है? मेरा ऐसा संकल्प हुआ इसलिये मैं खड़ा हुआ पर क्या मैं दूसरे प्रकारका संकल्प कर सकता था? क्या मेरे अन्तःकरणमें सिवाय खड़े होनेके कोई दूसरा संकल्प उठ भी सकता था? जो लोग नित्य आत्मा मानते हैं उनके लिए ऐसा मानना सम्भव है, यद्यपि उनमेंसे भी बहुतसे संकल्प-स्वातन्त्र्यको भगवदिच्छा या अदृष्ट या क़िस्मतसे बँधा मानते हैं। प्रधानवादी कहता है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधानकी समस्त सन्तति एक ही सूत्रमें बँधी है। जो द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम परमाणुओं और पहाड़ोंकी गति-विधिका नियन्त्रण करता है वही कीटसे लेकर मनुष्यतकके अन्तःकरणका नियमन करता है। किसी समय-विशेषकी अवस्था जिन तत्त्वोंकी साम्यावस्था है उनमें मनुष्योंके अन्तःकरण भी हैं। परिस्थितिके अनुसार इस साम्यावस्थामें क्षोभ होगा अर्थात् इसके भौतिक और मानस दोनों प्रकारके अवयव क्षुब्ध होंगे। अन्तमें जो विपरिणाम उत्पन्न होगा, उसमें भौतिक और मानस दोनों प्रकारके तत्त्वोंकी नयी अवस्था होगी। पानीका विपरिणाम भाप और बर्फ़ दोनों हो सकता है। यह बाहरकी परिस्थितिपर निर्भर है कि किसी काल और स्थान विशेषमें पानी किसमें परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार परिस्थिति इसका निश्चय करती है कि अन्तःकरण कालान्तरमें कौनसा रूप धारण करेगा अर्थात् किस धर्म्मविशेषसे आच्छादित देख पड़ेगा। यदि स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता होती तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते परन्तु प्रधानके लिए तो एक ही नियम है।

जो नियम व्यष्टिके लिए है वही समष्टिके लिए लागू है। जो द्वन्द्वमान विकृति प्रणाली भौतिक और व्यक्तियोंके मानस जगत्को परिचालित करती है, उसीके अनुसार व्यक्तियोंके समूहोंमें भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सभी अवस्थाएँ इसी प्रणालीके अनुसार बदलती रहती हैं। लोग समझते हैं कि इतिहासका प्राङ्गण थोड़ेसे बड़े आदमियोंकी मनोवृत्तियोंका क्रीड़ाक्षेत्र है। ऋषि-मुनि, धर्म्म-प्रवर्तक, राजा, बादशाह, सेनापति, विद्वान्, नेता, बस इनके मनमें तरंगें उठती हैं और लाखों मनुष्योंके सुखदुःखका वारा-न्यारा हो जाता है। इसलिए इतिहासकी पोथियोंमें इन्हीं लोगोंके जीवन और कृत्यों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का विस्तृत वर्णन रहता है, साधारण लोगोंका ज़िक्र यों ही गौण रूपसे आ जाता है।

प्रधानवादी ऐसा नहीं मानता। वह कहता है कि बड़े आदमी और आदमियोंके समूह द्वन्द्वमान प्रणालीके बाहर नहीं जा सकते। परिस्थितिके अनुसार उनमें भी परिवर्तन होता है। पर हाँ, जो पदार्थ जितना ही उन्नत होगा, उसके विकासको समझना भी उतना ही कठिन होता है।

मानव-समुदायोंके इतिहासपर किस परिस्थितिका प्रभाव पड़ता है? ऋतु, देशकी भौगोलिक बनावट, समीपस्थ वृक्ष और पशुपक्षी, इन सबका प्रभाव पड़ता है पर यह न्यूनाधिक स्थायी हैं। इनमें परिवर्तन होता भी है तो देरमें, अतः इनके प्रभावसे समूहका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवर्तन प्रायः नहीं होता। मार्क्स और एंगेल्सका कहना है कि समुदायका सांस्कृतिक जीवन आर्थिक व्यवस्थापर निर्भर है और यह आर्थिक व्यवस्था उत्पादनविधिपर निर्भर है। यह इतिहास-सिद्धान्त इन लोगोंका विशेष आविष्कार है। हठधर्मीके कारण बहुत लोग अभी इसे स्वीकार नहीं करते पर इसके सिवाय कोई दूसरा सिद्धान्त है भी नहीं जो इतिहासके परिवर्तनोंको वैज्ञानिक ढंगसे समझा सके। उदाहरणके द्वारा इसको समझनेमें सुगमता होगी।

आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले पृथ्वीभरमें भूमि ही सम्पत्तिका मुख्य रूप थी। भारतमें यह अवस्था आज भी देखी जा सकती है। उत्पादनका मुख्य साधन कृषि थी। थोड़ी बहुत कारीगरी थी पर देशके आर्थिक जीवनमें उसका स्थान गौण था। इस कृषिमूलक आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल यहाँकी सारी संस्कृति थी। यह आवश्यक था कि लोग यथासम्भव गाँवमें और घर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर रहें। इसलिए ग्रामसंघटन सुदृढ़ था और सम्मिलित परिवार होते थे। मज़दूरोंकी विशेष आवश्यकता न थी या जितने मज़दूर चाहिये थे वह गाँव नहीं छोड़ने पाते थे। मज़दूरी रुपयेमें नहीं, अन्नादि कृषिसे पैदा हुई चीजोंमें दी जाती थी। शरीरसे काम करनेवालोंको विशेष शिक्षाकी आवश्यकता न थी। शासनका अधिकार नरेशों या बड़े जागीरदारोंके हाथमें था। मज़हब और क़ानून इस व्यवस्थाकी रक्षा करते थे। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियोंकी साम्यावस्था थी। क्रमशः उत्पादनकी शैलीमें परिवर्तन हुआ। इसका भी कारण है पर उसे हम यहाँ छोड़ते हैं। अब उत्पादन खेतोंके स्थानमें मिलोंमें होने लगा। इसके लिए इस बातकी आवश्यकता हुई कि बहुतसे मज़दूर एक जगह एकत्र हों। जहाँ जहाँ मज़दूर एकत्र होंगे वहाँ वहाँ उनके लिए बाज़ार, अस्पताल, निवास-स्थान बनेंगे अर्थात् नगर बसेंगे। इसके साथ ही ग्रामोंसे खिंचकर मज़दूर नगरोंमें आवेंगे अर्थात् गाँव उजड़ेंगे। सम्मिलित परिवार टूट जायेंगे, लोग जीविकाकी तलाशमें दूर दूर जायेंगे और बसेंगे। जिन क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी बन्धनोंसे गाँवके निवासी, विशेषतः मज़दूर, बाँधकर गाँवमें रखे जाते थे वह शिथिल होंगे। मज़दूरी नगरमें तो रुपयेमें मिलेगी ही, ग्रामोंमें भी मज़दूर रुपया ही चाहेंगे क्योंकि जहाँ पहले उनकी सब आवश्यकताएँ गाँवमें पूरी हो जाती थीं वहाँ उन्हें अब पैसा देकर बहुतसी वस्तुएँ मोल लेनी पड़ती हैं। राजनीतिक अधिकार भी सामन्त-सरदारोंके हाथसे निकलकर नगरोंके रहनेवाले वकीलों, व्यापारियों, महाजनोंके हाथमें आ जायगा और लोकतन्त्रपर ज़ोर दिया जायगा। मज़हबका वह रूप जिसमें राजाको भगवान्‌का स्वरूप मानना और लोक-परलोकके मध्यस्थ पुरोहितों व पुजारियोंकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा-पूजा करना मुख्य कर्तव्य होता था, अब रोचक नहीं प्रतीत होगा। जो हज़ारों आदमी एक साथ रहेंगे उनमें शिक्षा भी होगी, उनके मनमें भाँति भाँतिके प्रश्न उठेंगे। कृषक प्रकृतिका दास रहता है। हवा, पानी, आँधी, बिजलीके आगे वह हार जाता है अतः उसकी मनोवृत्ति दीन, शक्तिसे दबनेवाली होती है। उसकी बुद्धिमें नयी बातें जल्दी प्रवेश नहीं करतीं। पर विज्ञान तो प्रकृतिपर विजय पाता है और उसमें नित्य नयी उन्नति होती रहती है। अतः मशीनोंसे काम लेनेवाला साहसी, निर्भय और नवीनताके लिए उत्सुक रहता है। तात्पर्य्य यह है कि उत्पादन-विधिमें परिवर्तन हो जानेसे वह साम्यावस्था जिसपर पुरानी अवस्था टिकी हुई थी नष्ट हो जाती है और प्रसुप्त शक्तियाँ जागरित हो उठती हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी व्यवस्था उलट-पुलट हो जाती है। मज़हबका कलेवर बदल जाता है। लोगोंकी मनोवृत्ति दूसरे प्रकारकी हो जाती है। इस सांस्कृतिक परिवर्तनके साथ साथ शासन-व्यवस्था भी बदलती है। पुरानी अवस्थाका विपरिणाम नयी अवस्था स्थापित होती है। नयी साम्यावस्था पुनः घटित होती है। इस सारी परिवर्तनमालाका नाम इतिहास है। यह जीता-जागता इतिहास हम अपनी आँखों भारतमें देख रहे हैं। जो अवस्था आजकल है उसको पूँजीवादी अवस्था कहते हैं। पर इसमें भी क्षोभ उत्पन्न हो गया है। विपरिणामका विपरिणाम उदीयमान है। कहनेका सारांश यह है कि आर्थिक व्यवस्था, जो उत्पादनके स्वरूपपर निर्भर है, ऐतिहासिक अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक परिवर्तनोंकी प्रेरक होती है।

प्रधानवादी यह नहीं कहता कि लोग प्रतिक्षण आर्थिक बातोंको सोचकर उनके अनुसार काम करते हैं। देश या मज़-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हव या इज़्ज़तके लिए मरमिटनेवाले, पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले, रुपयों या रोटियोंके लिए यह सब नहीं करते। प्रत्यक्षतया तो वह ऊँचे नैतिक भावोंसे ही प्रेरित होते हैं और प्रधानवादी ऐसे भावोंका समादर करता है। वह चाहता है कि लोगोंमें ऐसे भाव रहें। पर वह यह जानता है कि इन भावोंका उदय होना विशेष परिस्थितियोंपर ही निर्भर है। आज भारतमें जैसे देशसेवा, त्याग, आत्मबलिके भाव फैल रहे हैं वह कुछ समय पहिले नहीं फैल सकते थे। जो लोग इन भावोंसे प्रभावित हो रहे हैं उनके सामने तो ऊँचे उद्देश्य और आदर्श हैं पर उद्देश्यों और आदर्शोंको विशेष आर्थिक परिस्थितियोंने ही सम्भव बनाया है। अन्तःकरणपर इन परिस्थितियोंका जो प्रभाव पड़ रहा है वही प्रशस्त उदार भावोंको जगा रहा है। यह प्रभाव ज्ञात नहीं है पर सत्य है।

ऊपर जो कुछ समासेन कहा गया है उसे इतिहासकी आर्थिक व्याख्या* कहते हैं। इसमें इतिहासको बदलनेका श्रेय किसी अलौकिक व्यक्तिकी इच्छाको नहीं दिया गया है। यह भी नहीं कहा गया है कि एक विशेष निर्दिष्ट दिशामें विकास होगा। केवल यह कहा गया है कि ऐतिहासिक परिवर्त्तनोंकी प्रेरणा आर्थिक हेतुओंसे मिलती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि जब ऐतिहासिक परिवर्तन इस प्रकार होते हैं तो क्या हमको पहलेसे उनका ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर हाँ भी है और नहीं भी। किसी समय-विशेषमें जो अवस्था होती है उसके अङ्गीभूत भौतिक पदार्थ--धातु, लकड़ी, परमाणु--या भौतिक शक्तियाँ--ताप,

---

* Economic or Materialist Interpretation of History.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्युत्, प्रकाश इत्यादि भी होते हैं और अन्तःकरण भी। भौतिक पदार्थों और शक्तियोंमें सजातीय समता होती है। एक टुकड़े सोनेका व्यवहार दूसरेसे भिन्न नहीं होता; प्रकाशके नियम सर्वत्र एकसे ही होते हैं। अतः किसी एक अवस्थाके पीछे इनकी क्या अवस्था होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु अन्तःकरणोंमें विषमता होती है। दावेके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक विशेष अन्तःकरण ठीक अमुक प्रकारसे व्यवहार करेगा। अन्तःकरण बाहरी परिस्थितिसे प्रभावित होता है पर उसको प्रभावित करता भी है। फिर अन्तःकरण तो लाखों हैं। इसलिए वादको देखकर प्रतिवादके विषयमें यथार्थ भविष्यद्वाणी नहीं की जा सकती।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि व्योरेवार भविष्यद्वाणी चाहे न की जा सके पर जो द्वन्द्वमान विकासक्रमको समझता है वह किसी अवस्था-विशेषका विश्लेषण करके यह समझ सकता है कि इसकी साम्यावस्था किस दिशामें भग्न होनेवाली है। वह उसके भीतरकी शक्तियोंकी गतिविधि और परिस्थिति-से यह अनुमान कर सकता है कि अब इनमेंसे कौन-सी शक्तियाँ जागरित और उग्र होने जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिवादके स्वरूपका चित्र खींच सकता है।

इस सिद्धान्तकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य सिद्धान्तोंके सत्यासत्यका निर्णय तर्कसे ही हो सकता है। वेदान्त तर्कको तो नहीं मानता, तर्काप्रतिष्ठानात्, पर अपनी सत्यताकी कसौटी स्वसंवेद्य अनुभवको ठहराता है। परन्तु यह प्रधानवाद अपनी सत्यताकी परीक्षा व्यवहारसे करता है। इसमें 'सिद्धान्त और व्यवहारकी एकता' * पर विशेष प्रकारसे ज़ोर दिया

* Unity of Theory and Practice.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। अपनी बुद्धिसे केवल तर्कके आधारपर सिद्धान्तका आविष्कार करनेके बदले जगत्के व्यवहारका वैज्ञानिक अनुशीलन करके सिद्धान्त स्थिर करना चाहिये और फिर इस सिद्धान्तसे जगद्व्यापार चलाना चाहिये। साधारण सुधारक उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायकी कसौटीपर कसकर जो बात ठीक जँचती है उसे कार्य्यमें परिणत करना चाहता है। प्रधानवादी ऐसा नहीं करता। वह वैज्ञानिक शैलीसे चलता है। जिस प्रकार विज्ञानवेत्ता प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनके अनुसार काम करता है और लाभ उठाता है, उसी प्रकार द्वन्द्वमान प्रधानवादका विद्यार्थी परिस्थितिका अध्ययन करके देखता है कि परिस्थिति स्वयं किधर झुकनेवाली है। उसी दिशामें प्रयत्न करता है। जो शक्तियाँ दबनेवाली हैं उनको दबाकर जो प्रदीप्त होनेवाली हैं उनके जागरणमें सहायता करता है। अतः जो प्रतिवाद प्रकृत्या देरमें आता उसे जल्द ही स्थापित करा देता है। यहीं उद्योगकी उपयुक्तता सिद्ध होती है, अन्यथा द्वन्द्वमान विकास तो स्वतः होता ही रहेगा।

इस प्रणालीमें महापुरुषोंके लिए स्थान है या नहीं? अवश्य है। पहले तो जिसकी प्रतिभा जितनी ही तीव्र होगी, वह द्वन्द्वात्मक विकास-गतिको समझकर भावी परिवर्तनके रूपको पहिचानेगा और तदनुकूल उद्योग करेगा और करायेगा। उसका उद्योग तथा उद्योग-फल भी उसकी प्रतिभाके अनुरूप होगा। पुनः महापुरुष अपने युगका प्रतीक और समसामयिक शक्तियोंका नाभिविन्दु होता है। पानीमें नमक या शक्कर या फिटकिरी घोल देनेसे कुछ कालके बाद रवा जमने लगता है पर यदि एक कण उस घोलमें पड़ जाय तो बड़ी जल्दी रवा जम जाता है। महापुरुष ऐसे कणका काम करता है। जो प्राकृ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिक नियम स्वतः देरमें काम करते वह उसके चारों ओर केन्द्री· भूत हो जाते हैं। वह परिस्थितिसे स्वतन्त्र नहीं है पर परि-स्थितिको औरोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावित कर सकता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति हज़ारों साधारण व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक मूल्य रखता है। पर हम महापुरुष उत्पन्न नहीं कर सकते। जिन प्राकृतिक शक्तियोंने महाद्रि और महासूर्य्योंकी रचना की है, वह कभी कभी ऐसे महापुरुषोंको भी जन्म दे देती हैं। हम उन शक्तियोंको तो थोड़ा बहुत पहिचानते हैं पर उनका नियन्त्रण हमारे हाथमें नहीं है। जगत्का साधारण काम साधा-रण व्यक्तियोंके ही भरोसे चलता है।

इसपर बहुत ज़ोर दिया जाता है कि समझदार राजनीतिज्ञ या राजनीतिक दलको 'दृश्यगत' परिस्थितिके अनुसार काम करना चाहिये, इस पदका अर्थ ठीक ठीक समझ लेना अच्छा है। वेदान्तके अनुसार प्रत्येक वस्तुकी सत्ता तीन प्रकारकी हो सकती है। एक तो उसकी वास्तविक सत्ता है। इसको पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। जैसे रस्सोकी पारमोर्थिक सत्ता ब्रह्म है। दूसरी वह सत्ता जो साधारणतः लोगोंको प्रतीत होती है, जिसके अनुसार जगत्का व्यापार होता है। इसको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। रस्सीकी व्यावहारिक सत्ता रस्सी है। पर कभी कभी किसी विशेष कारणसे वस्तु अपने व्यावहारिक रूपमें नहीं प्रत्युत किसी अन्य रूपमें प्रतीत होती है। इस तीसरी सत्ताको प्राति-भासिक सत्ता कहते हैं। जैसे यदि कभी रस्सीको देखकर सर्पकी भ्रान्ति हो तो उस समय रस्सीके इस टुकड़ेकी प्राति-भासिक सत्ता सर्प होगी।

पाश्चात्य दर्शनमें दो प्रकारकी ही सत्ता मानी जाती है। एक तो वह जो वास्तविक हो, दूसरी वह जो प्रतीत होती हो। 'जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तविक हो' के अन्तर्गत पारमार्थिक सत्ता भी है, यद्यपि वह लोग प्रायशः व्यावहारिक सत्ताको ही महत्त्व देते हैं। जो प्रतीत होती हो उसके अन्तर्गत व्यावहारिक सत्ता भी हो सकती है और प्रातिभासिक सत्ता तो है ही, परन्तु प्रातिभासिक सत्ताके अतिरिक्त भी कुछ है। जैसे, चाँदीकी एक चेन पड़ी है। चाँदीकी चेन, यह तो उसकी अपनी वास्तविक सत्ता हुई। अब वह यदि मुझे सर्पके रूपमें देख पड़ती है तो यह दूसरी सत्ता हुई। पर जब वह मुझे सर्पवत् देख पड़ेगी उस समय मेरे अन्तःकरणमें केवल सर्पकी आकृति ही न होगी, उसके साथ साथ सम्भवतः भय भी होगा या क्रोध होगा। सम्भवतः किसी पिछले अवसरकी, जब सर्प निकला होगा, स्मृतिकी झलक भी होगी। यदि चेन मुझे सर्पके स्थानमें चेनके रूपमें ही प्रतीत होती तब भी उसकी आकृतिके साथ लोभ या परिग्रहकी इच्छा और किसी प्रकारकी स्मृति लगी होती। पाश्चात्य दार्शनिक द्वितीय सत्तामें, जो साक्षीके अन्तःकरणमें होती है, यह सब मानस विकार अन्तर्भूत मानते हैं। यह स्पष्ट ही है कि यह प्राच्य दर्शनकी प्रातिभासिक सत्ता नहीं है।

अतः इन दोनों प्रकारकी सत्ताओंके लिए दो स्वतन्त्र शब्द होने चाहिये। पहिलीको, जो उस वस्तुविशेषकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, जो किसी साक्षीपर निर्भर नहीं है, जो साधारणतः सभी निर्दोष इन्द्रियवालोंको प्रतीत होती है, दृश्यगत* सत्ता कहते हैं। दूसरी, जो प्रत्येक द्रष्टाके लिए कुछ न कुछ भिन्न है, क्योंकि वही वस्तु किसीको प्यारी, किसीको बुरी लगती है, किसीमें कोई स्मृति जगाती है, किसीमें कोई भाव उठाती है, उस वस्तुकी द्रष्टृगत† सत्ता है।

* Objective † Subjective.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी समय-विशेषमें जो परिस्थिति होगी उसके भी दो अंश हो सकते हैं। कोई केवल व्यक्तियोंके भाव और आवेश, उनके राग, द्वेष, क्रोध, महत्त्वाकांक्षा आदिपर अर्थात् द्रष्टृगत जगत्पर ध्यान दे सकता है। कोई केवल राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं, तोपों, बन्दूकों, सेनाओं, मिलोंपर दृष्टि डालता है। परिस्थितिमें यह दोनों ही हैं और दोनों ही उसको प्रभावित करते हैं। प्रधानवादी यह भले ही मानता हो कि जड़ प्रधानसे बुद्धि आदिका विकास हुआ है और आर्थिक शक्तियाँ मानस जगत्के भावोंको भी रञ्जित करती हैं पर वह जड़वादी नहीं है। वह उन लोगोंमें नहीं है जो समझते हैं कि भौतिक तत्त्व ही सब कुछ है, अन्तःकरण कोई महत्त्व नहीं रखते। वह जानता है कि व्यक्तियोंके अन्तःकरण भी किसी काल-विशेषकी परिस्थितिके बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश हैं। जो कोई परिस्थितिका अध्ययन करना चाहता है उसे भौतिक पदार्थ भी देखने पड़ेंगे और अन्तःकरण भी। सच तो यह है कि अन्तःकरणके द्वारा ही भौतिक जगत् प्रभावित और परिवर्तित किया जा सकता है। जो ऐसा ठीक ठीक समझता है वही दृश्यगत परिस्थितिको* ठीक ठीक समझ सकता है और उससे लाभ उठा सकता है।

प्रधानवादी यह भले ही मानता हो कि प्राचीन कालमें कुछ लोगोंने ऊँचे भावोंको जगाकर उनसे हीन उद्देश्य सिद्ध कराये हैं पर वह स्वयं ही शौर्य्य, धैर्य्य, तप, त्याग, अपरिग्रह, आदि सद्भावोंको जगाना चाहता है। वह भी यही चाहता है कि लोग निष्काम भावसे काम करें।

---

* Objective Situations.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन पिछली पंक्तियोंको विशेष रूपसे लिखनेकी आवश्यकता यह पड़ी कि किन्हीं कारणोंसे यह भ्रान्ति फैल गयी है कि समाजवादमें बुद्धिके सात्विक धर्म्मोंके लिए कोई स्थान नहीं है। यह भ्रम है। द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद चार्वाक और तत्सम अनात्मवादोंसे सर्वथा भिन्न है।*

सातवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व (१)—भूमि

समाजवादी—मैं अभी इस शब्दकी कोई व्याख्या नहीं करूँगा—जब इस जगत्की नाड़ीपर हाथ रखता है तो उसे इसके समस्त रोगोंकी तहमें दो तीन मूल रोग मिलते हैं। उपरोग और उपलक्षण तो बहुत हैं। अन्य लोग उनमेंसे ही एकाधको पकड़ बैठते हैं और उन्हींका उपचार करने लग जाते हैं पर गम्भीर विश्लेषण करने पर समाजवादी इसी परिणाम-पर पहुँचा है कि दो तीन बातें मुख्य हैं। इनपर ही ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यदि इनकी सुव्यवस्था हो जाय तो शेष बातें आप ही सुधर जायँगी, अन्यथा यही दुरवस्था बनी रहेगी।

इनमें सबसे पहिली बुराई है उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व। उत्पादनके साधनोंमें भूमि, पूँजी, इत्यादि हैं। है तो

---

* 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' मानता हुआ भी प्रधान-वादी यह नहीं कह सकता—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य भी एक साधन ही, पर उसे हम यहीं छोड़ते हैं। 'इत्यादि' को भी छोड़ते हैं।

भूमि उत्पादनका बहुत बड़ा साधन है। भूमिसे ही खेती होती है जिससे सबका पेट पलता है। भूमिपर ही वह गाय-भेड़-बकरी पलती हैं जिनका दूध पिया जाता है और मांस खाया जाता है। भूमिपर ही वह पशु चरते हैं जिनके रोएँ और बाल काममें आते हैं। भूमिपर ही कपास, सन, पटुआ इत्यादि उत्पन्न होते हैं जिनसे कपड़े, बोरे तथा अन्य वस्तुएँ बनती हैं। भूमिसे ही लोहा, कोयला, सोना मिट्टीका तेल आदि निकलते हैं जिनपर सारी सभ्यता निर्भर है।

पृथ्वीके कुछ थोड़ेसे भागोंको छोड़कर अधिकांश भूमि काममें आ रही है। इसमें हम सुविधाके लिए उसका भी विचार छोड़े देते हैं जिसमेंसे खनिज निकलते हैं या जिसपर किरायेके मकान खड़े हैं। शेष भूमिपर खेती होती है। खेती करनेवाला कृषक है। कृषकको कुछ न कुछ तो देना ही पड़ता है पर जो देना पड़ता है उसके तीन मुख्य रूप हैं। एक तो यह है कि वह अपनी भूमिका एक मात्र स्वामी है। सरकारको जो देता है वह आमदनीके टैक्सके रूपमें देता है। यह प्रथा बहुत कम जगह है। दूसरी प्रथा यह है कि भूमि राजकी है। कृषक उसपर खेती करता है और सरकारको लगान देता है। इसे रैयतवारी प्रथा कहते हैं। यह भारतके कई भागों, मुख्यतः दक्षिणमें प्रचलित है। तीसरी प्रथामें कृषिकी ज़मीन कृषक और राजके बीचमें एक तीसरे व्यक्तिकी मानी जाती है जिसे ज़मीनदार कहते हैं। ज़मीनदारके मालगुज़ार, तअल्लुक़ेदार आदि कई पर्य्याय हैं। कृषक ज़मीनदारको लगान देता है। इसके बाद ज़मीनदार राज-को कुछ मालगुज़ारी देता है। अभी दुनियाके बहुतसे भागोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही प्रथा चालू है। ज़मीन किसी न किसी ज़मीनदारकी सम्पत्ति मानी जाती है। न केवल भारत वरन् भिन्न भिन्न देशों-में नियम पृथक् पृथक् हैं पर किसी न किसी अवस्थामें ज़मीन-दार कृषकको निकाल सकता है और ज़मीन दूसरेको दे सकता है।

चूंकि भूमि ज़मीनदारकी है इसलिए लगान और टैक्समें एक बड़ा अन्तर होता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आमदनीको अपने पास रखनेका पूरा अधिकार है। पर राजका काम भी रुपयेके विना चल नहीं सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति आयका कुछ भाग राजको दे देता है। यही आय-कर या टैक्स है। लगानके लिए यह वात नहीं है। ज़मीन जिसकी है उसको पूरा अधिकार है कि उसका उपभोग करे। वह ऐसा न करके दूसरेको, अपने असामी या रैयतको, देता है। यह केवल इसलिए कि असामी अपना पेट पाल सके। इसके ऊपर जो वचता है वह भूमिके स्वामीका है। अतः जहाँ टैक्सके रूपमें वहुत कम वसूल किया जा सकता है, लगानमें सिद्धान्ततः कृषकको पेट भरने भर रखकर और सव कुछ दे देना चाहिये।

अव प्रश्न यह होता है कि ज़मीनदारको भूमिका स्वाम्य कैसे प्राप्त हुआ? प्राचीन ग्रंथोंके देखनेसे प्रतीत होता है कि भारतमें आर्य्य शासनकालमें ज़मीनदार नहीं थे। राज और कृषकके मध्यमें कोई विचवैया न था। पठान और मुग़लकालमें भी ज़मीन-दार न थे। मराठोंने भी अपने राज्यमें ज़मीनदारी-प्रथा स्था-पित न की। इस देशमें यह चीज़ अंग्रेज़ लाये। कहीं कहीं तो छोटे छोटे नरेशोंके राज्य नष्ट करके उन्हें ज़मीनदार वनाया पर विशेषतः यह काम विधिसे उत्तर-भारतमें किया गया। उस समयके दुर्बल नवाबोंने कृषकोंकी मालगुज़ारी उठानेके ठेके दे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखे थे। नवाबोंकी दुर्बलतासे लाभ उठाकर कुछ ठेकेदार, जैसे महाराजा बनारस, स्वतंत्र नरेश बन गये। शेष नरेश तो नहीं हो पाये पर इतने बलवान् अवश्य हो गये थे कि उनसे ठेका छीनना नवाबोंके लिए असम्भव था। इनमेंसे कुछकी स्थिति ज़मीनदारों जैसी हो चली थी। यह ठेकेकी भूमिके मालिकसे बन गये थे। ठेका पुश्तैनी सा हो गया था, वह भी जब बहुत दबाव पड़ा तब दे दिया, नहीं न दिया। अंग्रेज़ोंको ऐसे भारतीयोंकी आवश्यकता थी जो पुराने नवाबोंके भक्त न हों, बलवान् और प्रभावशाली हों, प्रजाको दबा सकें। उन्होंने इन ठेकेदारोंको अपने अपने टुकड़ेका स्वामी मान लिया। अंग्रेजोंके देशमें बड़े बड़े ज़मीनदार होते थे, उसीकी नक़ल उन्होंने यहाँ भी चलायी। भारतमें ज़मीनदारी-प्रथाका यही संक्षिप्त इतिहास है। कहीं कहीं नया देश जीतने पर विजेता-नरेशोंने उसके बड़े बड़े टुकड़े अपने सेनापतियोंमें बाँट दिये हैं और यह लोग पुश्तैनी ज़मीनदार हो गये हैं। कभी कभी देशकी बहुत बड़ी सेवा करनेके लिए जागीर मिलती थी। इसके विपरीत अपने देशवासियोंसे लड़ने और विदेशियोंकी सहायता करनेके लिए भी कभी कभी पुरस्कारमें ज़मीन-दारियाँ मिली हैं अंग्रेज़ोंने भारतमें ऐसी बहुतसी ज़मीनदा-रियाँ बाँटी हैं।

पर चाहे इनमेंसे किसी भी प्रकारसे ज़मीनदारी चली, हमारा प्रश्न अभी रह गया—ज़मीनदारको भूमिपर स्वाम्य कहाँसे मिला?

इसका एक सीधा उत्तर तो यह है कि यह स्वाम्य आरम्भमें अपने बाहुबलसे मिला। ताक़त थी, जितनी दूर तक कृषकोंको दबा सके, दबाया, उनके ज़मीनदार बन गये। यह उत्तर है तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीधा पर दुधारी तलवार है। जो वस्तु बाहुबलसे आयी है वह उसी मार्गसे जा भी सकती है। कृषक ज़बर्दस्ती निकालनेका भी अधिकारी है। इसीलिए यह उत्तर स्पष्ट रूपसे कम ही पेश किया जाता है। बलसे प्राप्त किया गया स्वाम्य ठीक ठीक स्वाम्य है नहीं, कमसे कम लोग कोई और सभ्य उत्तर देना चाहते हैं।

यदि यह कहा जाय कि राजने दिया तो कई प्रश्न खड़े होंगे। पहिले तो यह कि राजको देनेका अधिकार था भी या नहीं अर्थात् भूमि राजकी थी भी? विजित राजकी भूमिका बँटवारा तो कदापि उचित नहीं हो सकता। आज इटली-नरेश अपने सेनापतियोंको अबीसीनियामें ज़मीनदारियाँ बाँट दें तो क्या इस दानसे जो ज़मीनदारियाँ बनेंगी वह न्याय्य होंगी? इटलीको अबीसीनियापर हक़ ही क्या है? या जो भूमि ठेकेदारोंको दी गयी उसके देनेका क्या अधिकार था? भारतमें तो ज़मीनदारियाँ प्रायः ऐसे ही बनी हैं। वह ज़मीन कम्पनी या अंग्रेज़ सरकारकी थी ही नहीं, ठेकेदार स्वामी होता ही नहीं, फिर इन ज़मीनदारियोंका न्याय्य आधार क्या है?

जो भूमि राजकी रही हो उसके लिए भी यह देखना होगा कि वह किस कामके लिए दी गयी। जो भूमि देशके प्रत्यक्ष हितके लिए नहीं दी गयी, उसका दान तो माना जा सकता ही नहीं। जो भूमि वास्तविक देशहितके लिए कभी दी गयी थी, उसके विषयमें भी सोचना होगा कि क्या वह लोकसेवा इतनी थी कि उसका पुरस्कार उस व्यक्तिके वंशज भी भोगते जायँ? कालिदासने 'शकुन्तला' लिखकर जगत्का बड़ा उपकार किया। इसके लिए कहा जाता है कि राजा भोजने उन्हें लाखों रुपया दिया। आज कोई व्यक्ति आकर कहे कि मैं कालिदासका वंशज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हूँ, मुझे उतने ही रुपये मिलने चाहिये, तो उसकी माँगपर कौन ध्यान देगा ? जागीरदार इससे भिन्न क्या कहता है ?

बहुतसे ज़मीनदारोंकी ओरसे कहा जायगा कि ज़मीनदारी-प्रथाकी जड़ भले ही ख़राब हो पर हमने न तो किसीको लूटा है, न किसीसे दान पाया है। सीधे रुपया देकर ज़मीनदारी ख़रीदी है। सरकारके यहाँ रजिस्ट्री करायी है। हमारा स्वाम्य तो वैसा ही पक्का है जैसा कि किसी औरका हो सकता है।

यह उत्तर औरोंकी अपेक्षा कुछ निर्दोष है और जो लोग सचाईसे यह उत्तर देते हैं, उनके साथ हमको थोड़ीसी सहानुभूति भी हो सकती है पर यह उत्तर स्वतः पर्य्याप्त नहीं है। इसमें बहुत कुछ विचारणीय है। कोई वस्तु दाम देकर ली गयी केवल इतनेसे ही वह लेनेवालेकी सम्पत्ति नहीं हो सकती। मैं यदि रुपया लेकर दूसरेका घर किसीके हाथ बेच दूँ तो वह बिक्री कहीं मानी थोड़े जायगी ? यदि मैं चोरीका माल किसीके हाथ बेचूँ तो मोल लेनेवाला भी दंड्य हो सकता है। इसलिए केवल रुपया देना पर्य्याप्त नहीं है। यह भी देखना होगा कि बेचनेवालोंको उस वस्तुपर सचमुच न्याय्य स्वाम्य था या नहीं। जिसका ज़मीनदारी स्वत्व स्वतः विवदमान है उसको रुपया देनेवालेका स्वत्व निर्विवाद नहीं माना जा सकता। फिर राजकी अनुमतिसे बिक्री होना भी न्याय्य माने जानेके लिए पर्य्याप्त नहीं है। कई देशोंमें ग़ुलाम—जीते-जागते स्त्री-पुरुष—बिकते थे। केवल इतनेसे मनुष्यका क्रय-विक्रय न्याय्य नहीं हो सकता। माण्टेकालोंमें सरकारी देख-रेखमें जुआ होता है पर यह देख-रेख जुएको उचित कर्म्मोंकी तालिकामें सम्मिलित नहीं करा सकती। जहाँकी सरकार जिस समय जिस बातको होने देती है, वह बात वहाँ उस समय वैध हो जाती है पर वैध होनेसे वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात उचित नहीं हो जाती। रुपया देकर सरकारके यहाँ रजिस्ट्री करा लेने मात्रसे ज़मीनदारीका स्वत्व न्याय्य नहीं हो सकता।

अतः हमारा प्रश्न ज्योंका त्यों रहा। इसपर लगानके सिद्धान्तसे भी प्रकाश पड़ सकता है। आख़िर कृषक लगान क्यों देता है? जो उत्पादक है वह स्वामी कैसे नहीं है? किसी भूमिका लगान अधिक, किसीका बहुत कम क्यों होता है? इसके कई उत्तर हैं पर रिकार्डोका सिद्धान्त ही सबमें समीचीन जँचता है।

वह कहते हैं कि आजसे कई हज़ार वर्ष पीछेका ज़माना ले लिया जाय। कोई भी देश हो, भूमि बहुत थी और आबादी कम। जिस व्यक्तिने जङ्गल साफ़ करके जितनी भूमिपर कब्ज़ा कर लिया उतनी उसकी हो गयी। कोई टोकनेवाला न था क्योंकि सबके लिए पर्याप्त भूमि थी। इस प्रकार कुछ कालमें सभी भूमि घिर गयी होगी। भूमि घिरने पर भी जो सबसे उपजाऊ भूमि होती होगी उसमें ही खेती होती होगी और उतनेसे काम चल जाता होगा। उसमें भी बहुतसी परती पड़ी रहती होगी। अभीतक यह लोग भूमिके स्वामी होते हुए भी ज़मीनदार नहीं थे। पर जब जन-संख्यामें वृद्धि होगी तो कृषिजन्य पदार्थोंकी भी माँग बढ़ेगी और भूमिके खोजियोंमें भी वृद्धि होगी। पर भूमि मिले कहाँसे, वह तो पहिलेसे घिर चुकी है। अतः विवश होकर इन्हें उन भू-स्वामियोंके पास जाना पड़ता है और अपने भरण-पोषणके लिए भूमि माँगनी पड़ती है। इनकी यही शर्त रहती होगी कि भरणपोषणसे ऊपर जो बचेगा वह आपको दे देंगे। उन दिनों भरणपोषणके अतिरिक्त और आवश्यकताएँ भी थोड़ी ही होती थीं। भू-स्वामी भी सोचता होगा, मैं अकेला इस सारी भूमिका उपयोग तो कर नहीं सकता, जहाँ बेकार पड़ी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थी वहाँ अब कुछ दे तो चली। बस वह भी राज़ी हो जायगा। यहींसे ज़मीनदारी और लगानका श्रीगणेश होता है।

पहिले पहिल सबसे बढ़िया भूमियाँ इस प्रकार काममें लायी गयी होंगी पर इसके बाद क्रमशः उससे निकृष्ट और निकृष्टतर भूमियोंका उपयोग किया गया होगा और लगानमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी होगी। यह बात एक काल्पनिक उदाहरणसे समझमें आ सकती है। मान लीजिये प्रथम श्रेणीकी भूमिके ५ बीघेसे १०० मन अन्न उत्पन्न करनेमें १००) व्यय होता है। इसमें बीज, खुदाई, सिंचाई इत्यादि सब शामिल है। यह भी मान लीजिये कि कृषकके भरणपोषणमें १२०) लगता है, तो उसका व्यय २२०) पड़ा। वह अपने अन्नको इससे कममें बेच नहीं सकता। यदि उसने उसे २५०) में बेचा, तो ३०) ज़मीनदारको लगानमें मिले। अब यदि माँग दूनी हो गयी अर्थात् जन-संख्या दूनी बढ़ गयी तो उससे घटिया प्रकारकी भूमि काममें लायी जायगी। मान लीजिये इस भूमिमें उतना ही अन्न पैदा करनेमें ड्यौढ़ा ख़र्च पड़ता है तो उत्पादन-व्यय १००) का १५०) हो गया। कृषकका भरण-पोषण-व्यय उतना ही रहा तो उसका कुल ख़र्च २७०) हो गया। वह अपने अन्नको २७०) से कममें नहीं बेच सकता। पर जो दाम उसको मिलेगा वही पहिली ज़मीनवाले कृषकको भी मिलेगा। यदि माल बहुत अधिक होता और ग्राहक कम, तब तो भाव गिरता, पर अभी तो आवश्यकताके अनुसार माल है अतः जब दूने अन्नकी माँग है तो सभी अन्न खप जायगा। अतः जो मूल्य एक कृषकको मिलेगा वही दूसरेको भी मिलेगा। यदि पहिला अर्थात् निकृष्ट भूमिवाला अपने अन्नको ३००) में बेचता है, तो वह अपने ज़मीनदारको ३०) लगान देता है। पर उसी अन्नका दूसरे कृषकको भी, जिसका कुल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ख़र्च २२०) पड़ा है, ३००) मिलता है। अतः उसके पास ८०) बचता है जो ज़मींनदारके पास चला जायगा। पहली भूमिके लगानमें वृद्धि हो गयी। ज्यों ज्यों माँग बढ़ती जायगी और निकृष्ट कोटिकी भूमियाँ काममें आती जायँगी त्यों त्यों ऊपरकी कोटिकी भूमियोंका लगान विना परिश्रम बढ़ता जायगा। जब कोई पूछनेवाला न था उस समय कुछ लोगोंके कब्ज़ेमें कुछ भूखण्ड आ गये थे। अब उनके वंशजों या उनसे पैसा देकर मोल लेनेवालोंको विना प्रयास ही वर्द्धमान रक़में मिलती जाती हैं। इसीलिए लगानको अनर्जित वृद्धि *—विना कमायी हुई बढ़तीकहते हैं।

यह उदाहरण सरल है, व्यवहारमें कुछ पेचीदगियाँ आयेंगी, पर इससे आदिमें ज़मींनदारी प्रथाकी उत्पत्ति और लगानकी उत्पत्ति तथा उसकी वृद्धि समझनेमें पूरी सहायता मिलती है। रिकार्डोका यह सिद्धान्त हमारे मूल प्रश्नपर प्रकाश डालता है पर उसकी विवेचना करनेके पहिले ज़मींनदारी और लगानके दो एक अन्य पहलुओंपर भी ग़ौर कर लेना आवश्यक है।

निकृष्ट भूमिके काममें आनेसे तो उत्तम भूमिका लगान बढ़ता है। उसके बढ़नेके और भी ऐसे ही निष्प्रयास तरीक़े हैं। भूमिमेंसे या उसके पाससे सड़क निकल जाने या उसके पास रेलवे स्टेशन खुल जानेसे लगान बढ़ जाता है। कोई लड़ाई छिड़ जाय और कृषिसे पैदा हुई वस्तुकी माँग बढ़ जाय, लगान बढ़ जायगा। भूमिके इच्छुक बहुत हों, लगान बढ़ेगा। इन सब दशाओंमें लगानमें जो वृद्धि होगी वह अनर्जित वृद्धि है, उसके लिए ज़मींनदारको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

---

* Unearned increment.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार वह लगान जो मकान बनानेवाली ज़मीनका लिया जाता है बढ़ता जाता है। शहरोंमें मकान बनाने लायक़ ज़मीन-का लगान, जिसको प्रायः परजौट कहते हैं, यों ही बे-प्रयास बढ़ता है। यदि उसपर मकान बना दिया गया तो लगानका नाम किराया हो जाता है और किराया बड़ी तेज़ीसे बढ़ने लगता है।

यदि किसी ज़मीनदारने किसीको बीघे दो बीघे ज़मीन २), ४) पर उठा रखी है और उसके नीचे कोयला या तेल या सोना या अन्य खनिज निकल आया तो यद्यपि उस ज़मीनदार-को भूमि देते समय उसका पता भी नहीं था पर वह उसके लिए विशेष लगान या 'रायल्टी' का अधिकारी हो जायगा।

इन सब उदाहरणोंमें हम यह देख रहे हैं कि जो व्यक्ति भूमिका स्वामी माना जाता है उसके विना परिश्रम किये लगान-में वृद्धि होती जाती है। सरकार तो ऐसा कर भी देती है कि इतनेसे कम आयपर टैक्स न लिया जाय पर ज़मीनदार एक बित्ता भूमिपर भी लगान नहीं छोड़ता।

अब यह विचार करना है कि क्या सचमुच ज़मीनदार लगान लेनेका अधिकारी है। यह स्पष्ट है कि आरम्भमें भूमिपर इसी प्रकार अधिकार हुआ होगा। कोई टोकनेवाला था नहीं, जो जितनी भूमि दबा सका वह उतनीका स्वामी बन बैठा। आज अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें यही हो रहा है। जो राष्ट्र अफ्रीका या अमेरिका या आस्ट्रेलियाकी जितनी भूमि दबा सका दबा बैठा, शर्त यही थी कि वहाँ कोई दूसरा राष्ट्र हक़दार न बन बैठा हो। यों ही बड़े बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य बन गये पर आज वह उपनिवेश झगड़ेके घर हो रहे हैं। इटली और जापान जैसे नये प्रबल राष्ट्र भी अब उपनिवेश चाहने लगे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह सिद्धान्त ही ग़लत है। जिसने जंगल काटकर साफ़ किया उसका हक़ तो हो सकता है पर उसके वंशजोंका हक़ कैसा? उन्होंने कौनसा परिश्रम किया जिसका पुरस्कार उनको मिले? जो लोग उनको रुपया देते हैं उन्हें भूमिपर अधिकार कैसा? फिर जितनी दूरतक कोई व्यक्ति भूमि घेर ले उतनी उसकी क्यों हो? केवल आजसे हज़ार दो हज़ार वर्ष पहिले पैदा होनेसे अधिकार क्यों मिल जाता है? पहिले जन्म लेनेसे ही अधिकार मिले तो बापकी सम्पत्ति केवल बड़े लड़केको मिलनी चाहिये। वस्तुतः तो भूमि किसी व्यक्ति-विशेषकी न होकर व्यक्ति-समुदायकी होनी चाहिये। एक व्यक्ति नहीं सारा समुदाय ज़मीनदार होना चाहिये।

फिर यदि ज़मीनदारका ज़मीनपर स्वाम्य मान भी लिया जाय तो यह तो समझमें आता है कि भूमिसे काम लेनेके लिए वह कुछ रुपया अर्थात् लगान ले, पर बिना परिश्रम किये निकृष्ट भूमिके काममें आ जानेसे लगान क्यों बढ़े? सड़क तो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या सरकार निकलवाती है, उसका लाभ ज़मीनदारको क्यों हो? लड़ाई ज़मीनदार तो छिड़वाता नहीं, फिर युद्ध-कालमें वह लगान क्यों बढ़ाये? सारांश यह कि अनर्जित वृद्धिके लिए कोई कारण नहीं देख पड़ता। जिस ज़मीनदारको इस बातका पता तक नहीं था कि उसकी भूमिके नीचे कोई खान है, वह उससे वर्द्धमान लगान, रायल्टी, क्यों पाये?

इन सब तर्कोंसे वर्तमान ज़मीनदारी प्रथाकी उत्पत्ति तथा लगानका स्वरूप और रहस्य समझमें आ जाता है और यह इस प्रथाकी बुराई समझानेके लिए पर्य्याप्त है। परन्तु इस प्रश्नपर दो दृष्टियोंसे और विचार कर लेना चाहिये।

पहिला दृष्कोण यहहै कि क्या ज़मीनदारी प्रथासे कोई विशेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ होता है? यदि सब ज़मीनदार यकायक हटा दिये जायँ तो क्या हानि हो? इन दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर है—कुछ भी नहीं। आजसे पहिले कभी ज़मीनदारोंसे थोड़ा बहुत लाभ भी होता रहा होगा। आज वह बिलकुल बेकार है। सरकार अपने मजिस्ट्रेटों और पुलिससे काम लेती है, रक्षा अपनी सेनासे कराती है। यह भी नहीं है कि कृषकोंसे मालगुज़ारी उतारनेमें कोई सुविधा होती है। युक्तप्रान्तमें सरकारी कागज़ोंके अनुसार कृषकोंसे लगानमें लगभग उन्नीस करोड़ रुपया वसूल किया जाता है, जिसमेंसे लगभग सात करोड़ सरकारी कोषमें माल-गुज़ारीके रूपमें जाता है, शेष बारह करोड़ ज़मीनदारोंके पास रह जाता है। १) वसूल करनेके लिए २) वसूल करनेवालोंको देना तो बुद्धिमानी नहीं है। यदि ज़मीनदार न हों तो सरकार अपने तहसीलदार इत्यादिसे सस्तेमें वसूली करा सकती है। यह रुपया जो बीचवालोंकी जेबोंमें जाता है सरकार या कृषकों-के पास रह जाता, उभयतः जनताको लाभ ही पहुँचाता।

दूसरा दृकोण यह है कि इस प्रथासे हानियाँ क्या क्या हैं? हानियाँ प्रत्यक्ष हैं। कुछ तो हम भारतमें नित्य देखते हैं। इस बारह करोड़को ही लीजिये। यदि ज़मीनदार न होते तो या तो यह समूची रक़म कृषककी जेबमें रहती अर्थात् उसके लगानमें ६६% की कमी हो जाती या समूची सरकारके पास रहती जिससे स्वास्थ्य और शिक्षा आदिका काम चलता या दोनोंमें बँट जाती। हर हालतमें प्रजाको लाभ होता। भारतमें विदेशी सरकार होनेसे चाहे पूरा लाभ न पहुँचता, तब भी अवस्था आजसे अच्छी ही होती।

इसके सिवाय प्रायः सभी जगह ज़मीनदारोंने अपने लिए लगानके अतिरिक्त आयके दूसरे साधन निकाल लिये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृषकोंको किसी न किसी रूपमें लगानके ऊपर रुपया देना पड़ता है या बेगार करनी पड़ती है या ज़मीनदारके हाथों घी या अन्न सस्ते दामों बेचना पड़ता है। आजकल इन बातोंके रोकनेका प्रयत्न हो रहा है। इनमेंसे कई बन्द हो गयी हैं, अन्य बन्द हो जायँगी पर इनके स्थानमें दूसरी बातें उत्पन्न हो जायँगी। यह असंभव है कि किसी स्थानमें पुश्तैनी अधिकारी रहें और वह अपने लिए आय और प्रभावके मार्ग न ढूँढ़ निकालें। सरकार भी एक कर्म्मचारीको बहुत दिनोंतक एक स्थानमें नहीं रखती। बंगाल, बिहार और युक्तप्रान्तमें ऐसे ऐसे ज़मीनदार हैं जिनकी वार्षिक आय कई देशी राजोंसे अधिक है पर उनपर न पुलिस, न सेना, न शिक्षाका दायित्व है। इनको कानून चाहे कितना भी पंगु क्यों न कर दे, पर यह केवल मालगुज़ारी उतारनेवाले कर्म्मचारी बनकर नहीं रह सकते।

आजकल अनेक संस्थाओंके चुनाव होते हैं पर कृषकके लिए जो अपनेको ज़मींनदारके चंगुलमें फँसा पाता है, अपनी स्वतंत्र-सम्मति प्रकट करना प्रायः असम्भव हो जाता है।

सरकारके लिए भी ज़मींनदारोंका अस्तित्व अहितकर है। यदि वह किसानोंके लगानका बोझ कम करना चाहे या किसी अन्य प्रकारके कृषकोंको लाभ पहुँचाना चाहे तो उसे यह देखना पड़ता है कि ज़मीनदार रुष्ट न हो जायँ। जिस कामके लिए ज़मीनदार स्थापित किये गये थे अब वह उनसे नहीं निकलता, पर सरकार अपनी ही बनायी मूर्तिको तोड़नेमें हिचकती है यद्यपि यह मूर्ति अब उसके लिए हानिकर हो रही है।

जो लोग मकानोंके ज़मीनदार हैं अर्थात् मकान किरायेपर चलाते हैं वह सम्भवतः इतने अधिक व्यक्तियोंको हानि न पहुँचा सकते हों पर नगरोंमें रहनेवाले गरीबोंको इनके हाथों बहुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख उठाना पड़ता है। गन्दे मकान बनाये जाते हैं, उनकी मरम्मत नहीं की जाती पर मनमाना किराया वसूल किया जाता है। किरायेदार बेबस होता है। यदि वह इन मकानोंमें नहीं रहता तो सिवाय पटरियोंपर लेट रहनेके उसके लिए कोई और उपाय नहीं है।

प्रत्येक ज़मीनदार और मकान-मालिक अपने असामियों और किरायेदारोंको तङ्ग कर सकता है पर जब यह लोग संघटित हो जाते हैं तब तो इनकी शक्ति बहुत ही बढ़ जाती है। आजकल यही हो रहा है। इनके पास रुपया है, व्यवस्थापक सभाओंपर भी इनका प्रभाव पड़ता है, इसलिए इनका सामना करना बड़ा कठिन हो जाता है।

मैंने ऊपर उन भूमियोंका उल्लेख किया था जिनमें खनिज पदार्थ निकलते हैं। उनके लिए भी यही तर्क लागू है। ज़मीदार इन भूमियोंके लिए जो बढ़ती लगान लेता है उसका बोझ उस खनिजके मोल लेनेवालोंको उठाना पड़ता है।

ज़मीनदारी प्रथाके सम्बन्धमें और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है पर मैं समझता हूँ इतने दिग्दर्शनसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथाका अर्थात् भूमिपर निजी स्वत्वका अस्तित्व उन्नतिके लिए बाधक है और सर्वथा अनुचित है। इससे ग्रामों, नगरों और व्यापारकी प्रगतिका अवरोध होता है अतः इसका अन्त होना चाहिये। भारतवर्षमें तो कृषिको इस प्रथासे भयावह क्षति पहुँच रही है। देशमें कोई व्यवसाय नहीं है, लोगोंको विवश होकर खेतीकी ओर दौड़ना ही पड़ता है। इसलिए ज़मीनदार लगान बढ़ाते चले जाते हैं। किसान आपसमें होड़ करके ऊँची बोली बोलकर और लम्बे नज़राने देकर ज़मीन लेते हैं। वह जानते हैं कि यह लगान देना आगे चल कर उनके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असम्भव होगा पर करें क्या, जुआ खेल जाते हैं। जो ज़मीन उनके हाथसे निकलनेवाली है उसकी उन्नतिमें बहुत परिश्रम करना भी व्यर्थ प्रतीत होता है। फलतः कृषि अच्छी नहीं होती और देशकी अन्नकी उपज गिरनेसे देश दरिद्र होता है। उधर कृषक भी वर्ष दो वर्षके बाद हार जाता है। लगान न दे सकनेसे बेदखल हो जाता है और ज़मीनदारके सामने फिर नये उम्मीद-वार खड़े होते हैं। इसमें ज़मीनदारके सिवाय और किसीको भी लाभ नहीं होता।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि आजकल सरकारने ऐसे क़ानून बना दिये हैं जिन्होंने ज़मीनदारों और कृषकोंके पारस्परिक भाव बिगाड़ दिये हैं। पहिले ज़मीनदार और कृषकका पिता-पुत्रवत् भाव था। अंशतः यह सत्य है कि क़ानूनोंने मनोमालिन्य बढ़ा दिया है पर यह क़ानून आवश्यक थे। यदि ज़मीनदारोंका बल न टूटता और पुराना ग्राम-संघटन न बिगड़ता तो व्यव-सायोंकी वृद्धि भी न होती। पिता-पुत्र भावका अर्थ यही है कि ज़मीनदार जो कुछ कहता था कृषक उसे मान लेता था। यह भाव कृषकके बौद्धिक विकासके लिए घातक था। किसीसे सदैव डरते रहना, उसे माँ-बाप मानते रहना, मनुष्यको शोभा नहीं देता। मैंने इस भावके प्रदर्शन देखे हैं। मैं जानता हूँ कि ज़मीनदारका पितृत्व और कृषकका पुत्रत्व दोनों घृणास्पद हैं।

अब इतना प्रश्न और रह जाता है कि यदि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोंके हाथमें न रहे तो किसके हाथमें रहे। इसका एक ही उत्तर हो सकता है—यह स्वत्व समाजके हाथमें होना चाहिये। भूमिका स्वामी सारा समुदाय है। यदि सड़क निकालता है तो समुदाय, रेल निकालता है या निकालने देता है तो समुदाय, युद्ध करता है तो समुदाय, रक्षादिका प्रबन्ध करता है तो समुदाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए समुदायको, समाजको, ही लगान लेनेका अधिकार है। उसके लिए न तो अनर्जन, न कमानेका प्रश्न उठ सकता है न इस बातकी आशङ्का हो सकती है कि वह अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करके असामियोंको क्षति पहुँचायेगा। मैं इस जगह विदेशियोंके शासनमें पड़े देशोंकी बात नहीं कर रहा हूँ वरन् स्वतन्त्र देशोंकी, जिनमें सरकारपर समाजका नियन्त्रण रहता है और वह लोकमतके अनुसार चलनेके लिए बाध्य की जा सकती है।

कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि प्रत्येक कृषक अपनी भूमिका स्वामी मान लिया जाय और सरकारको सीधे मालगुज़ारी दिया करे। इसमें दो तीन आपत्तियाँ हैं। एक आपत्ति तो यह है कि इससे ज़मीनदारी* प्रथाके पुनः स्थापित हो जानेका द्वार खुल जायगा। किसी न किसी बहानेसे कृषक दूसरोंसे लगान लेकर भूमि देने लगेगा। फिर प्रश्न यह होगा कि रेहन रखने और बेचनेका अधिकार हो या न हो। जब कृषक भूमि बेच सकेगा तो धीरे धीरे रुपयेवालोंके हाथमें बड़ी टुकड़ियाँ आ जायँगी। इसमें भी ज़मीनदारीके पुनः स्थापित होनेका डर है। आर्थिक विषमता और बेकारी भी बढ़ेगी। यदि अधिकार न दिया जाय तो ऐसे कृषकोंकी भूमि जो किसी कारणसे ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकते नष्ट होगी। वह स्वतः स्वामी हैं अतः सरकारको लौटा नहीं सकते। अतः सब बातोंको देखते हुए यही ठीक जँचता है कि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोंको न देकर समाजको दिया जाय।

---

*ज़मीनदार शब्द बहुत ही भ्रामक है क्योंकि इसके कई अर्थ हैं। युक्तप्रान्तमें ही ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत बड़ी है जो सीधे सरकारको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आठवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व

(२)—पूँजी और श्रम

भूमि सभी प्रकारके उत्पादनका एक प्रधान साधन है, क्योंकि अन्न तो उससे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता ही है, दूसरी वस्तुएँ जो व्यवहारमें आती हैं वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतया किसी न किसी रूपमें भूमिसे ही निकलती हैं।

भूमिके अतिरिक्त दो मुख्य साधन और माने जाते हैं, पूँजी और श्रम। समाजवादियोंकी दृष्टिमें आजकल इन दोनों साधनों-

---

मालगुज़ारी देते हैं परन्तु दस पाँच बीघेके ही स्वामी हैं। परन्तु ऐसे ऐसे काश्तकार हैं जिनके पास सैकड़ों बीघा भूमि है पर वह उसके लिए किसी दूसरेको लगान देते हैं। यह लोग स्वयं अपनी भूमिके टुकड़े दूसरोंको देकर उनसे पैसे लेते हैं। ऐसी दशामें सरकारी काग़ज़ोंमें चाहे कुछ भी लिखा हो, जो व्यक्ति दस पाँच बीघेकी आप खेती करता है वह कृषक है और जो भूमि दूसरेको देकर पैसा लेता है वह ज़मीनदार है। ज़मीन-दारी प्रथाके अभावका अर्थ यह है कि कृषक अर्थात् स्वयं खेती करनेवाले और सरकारके बीचमें कोई बिचवैया न हो और भूमिका स्वत्व समाज-के हाथमें हो।

पञ्जाब तथा स्यात् कहीं कहीं अन्यत्र भी प्रत्येक कृषक ज़मीनदार कहलाता है। यह लोग सरकारको सीधे पैसा देते हैं। ज़मीनदारी प्रथाके जो दोष हमने ऊपर बतलाये हैं वह इनके लिए प्रायः नहीं लागू होते परन्तु यह तो इनके यहाँ भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह भूमिपर कृषि करते हुए भी उसके स्वामी नहीं हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का भी भूमिकी भाँति ही दुष्प्रयोग हो रहा है और यह दुष्प्रयोग कई कारणोंसे भूमिके दुष्प्रयोगसे भी अधिक भीषण परिणाम उत्पन्न कर रहा है।

पूँजीपर किस प्रकार निजी स्वत्व है और इस स्वत्वके क्या परिणाम हैं इसपर विचार करनेके पहले पूँजीके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना लाभदायक होगा। किसी व्यक्तिके पास जितनी सम्पत्ति होती है वह सब पूँजी नहीं है। अन्नसे कोठार भरे पड़े हों, वस्त्र, आभूषण, चित्र, कुर्सी, मेज़, क़ालीन आदिसे महल सुसज्जित हो, तिजोरीमें सोना, चाँदी या सिक्कोंका ढेर हो पर जब तक यह सामग्री केवल जमा है या उपभुक्त हो रही है तबतक इसको पूँजी नहीं कहते। धन स्वतः पूँजी नहीं है। पर यदि इस राशिका कोई अंश अपनेको बढ़ानेमें लगाया जाय तो वह पूँजी हो जायगा। जो धन धनको उत्पन्न करनेके काममें लगता है उसे पूँजी कहते हैं। ऐसा धन साधारण उपभोग्य धन नहीं वरन् प्रजनक धन*—धनको जन्म देनेवाला धन—होता है। धनसे धन कैसे उत्पन्न होता है, इसका सबसे सरल उदाहरण महाजनी है। किसीको एक सौ रुपये दिये गये और छः रुपये ब्याजके जोड़कर एक सौ छः रुपये उससे लिये गये। यहाँ यह सौ रुपया छः रुपयेको उत्पन्न करनेमें लगाया गया। यह पड़ा रहनेके स्थानमें धनका प्रजनक हुआ। अतः यह पूँजी है। इसलिए यह सम्भव है कि किसी मनुष्यके पास धन बहुत हो पर यदि वह उसे प्रजनक नहीं बनाता तो पूँजी कुछ भी न हो। दूसरे व्यक्तिके पास धन कम रहते हुए भी पूँजी अधिक हो सकती है। साधारणतः लोगोंको पूँजी शब्दसे रुपये पैसेका ही बोध होता है पर पूँजीका

---

* Functional Wealth.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ इससे व्यापक है। किसी कारखानेको ले लिया जाय, उसकी इमारत, रुपया, मशीनें, सभी पूँजी हैं।

पूँजी किसी न किसी प्रकार व्यापारसे उत्पन्न होती है, इतना तो सभी समझते हैं पर इसको किञ्चित् विस्तारसे समझ लेना अच्छा है। इसलिए व्यापारका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है।

एक समय था जब कि प्रायः सभी लोग अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने और अपने घरवालोंके श्रमसे कर लेते थे। यह सभ्यताका आदिम काल था। पुरुष शिकार कर लाये या खेती करके अन्न लाये, स्त्रियोंने भोजन वस्त्र तय्यार कर लिया। उस समय आवश्यकताएँ थोड़ी और सीधी थीं। जनसंख्या कम होनेसे आज जैसी घनी बस्तियाँ भी न थीं। परन्तु क्रमशः जनसंख्या, बस्तियोंकी सघनता, आवश्यकताओंकी संख्या और उनके प्रकार, थोड़े शब्दोंमें सभ्यता, में वृद्धि हो चली और एक एक कुटुम्बके लिए स्वतः पर्य्याप्त होना असम्भव हो गया। कोई अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने यहाँ नहीं कर सकता था। इसलिए एक प्रकारका बँटवारासा हो गया। कोई अन्न पैदा करे, कोई वस्त्र बनाये, कोई जूता, कोई शस्त्रास्त्र।

यहींसे व्यापारका सूत्रपात हुआ। अन्नवालेको यदि जूतोंकी आवश्यकता पड़े तो वह जूता बनानेवालेके पास जाय और उसको अन्न देकर उससे जूता ले। यही बात सभी वस्तुओंके लिए थी। व्यापारका यह ढङ्ग अब प्रायः उठ गया है पर आज कल कहीं कहीं फिर चल पड़ा है।

जो वस्तुएँ इस प्रकार व्यापार-क्षेत्रमें आती हैं उनको पण्य*

---

*Commodity.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। पण्यमें तीन लक्षणोंका होना आवश्यक है—(१) वह मनुष्यकी किसी आवश्यकताको पूरा करता हो। आवश्यकता प्राकृतिक हो या कृत्रिम परन्तु जो मनुष्य किसी समय उसका अनुभव कर रहा हो उसके लिए वह आवश्यकता ही है। इस दृष्टिसे हवा, पानी, अन्न, वस्त्र, इत्र, मोटर, शराब इत्यादि सभी मनुष्यकी किसी न किसी आवश्यकताको पूरा करती हैं। (२) वह मनुष्यके श्रमसे पूर्णतः या अंशतः तय्यार हुआ हो। उसको व्यवहारयोग्य बनानेके लिए उसपर श्रमका व्यय होना आवश्यक है। वस्त्रादि सभी श्रमसे तय्यार होते हैं। सामान्यतः पानी बिना परिश्रम मिल जाता है पर बहुत स्थलोंमें उसको निकालने, साफ करने और किसी प्रकारकी सवारीपर लादकर व्यवहार करनेवालेके पासतक ले जानेमें श्रमका व्यय होता है। हवा प्रायः सर्वत्र ही बिना श्रमके पहुँच जाती है परन्तु विशेष अवस्थाओंमें उसकी भी पानी जैसी सूरत हो सकती है। (३) वह अपने व्यवहारमें न लाया जा रहा हो वरन् आवश्यकता-पूर्त्तिके लिए दूसरी वस्तुओंके परिवर्तनमें दिया जा रहा हो। किसी जुलाहेने दस गज़ वस्त्र तय्यार किया हो पर यदि वह उसको अपने काममें लाता है तो वह पण्य नहीं है पर यदि वह इसमेंसे चार गज़ देकर गेहूँ लेता है तो यह चार गज़ व्यापार-क्षेत्रमें आ गया और पण्य हो गया।

प्रत्येक पण्यकी एक विशेषता, एक अपनी विशेष महत्ता होती है। इसको अर्घ* कहते हैं। कोई पण्य महार्घ होता है, लोगोंकी दृष्टिमें ऊँचा स्थान रखता है; कोई अल्पार्घ होता है, उसका स्थान नीचा होता है। यह अर्घ दो प्रकारका होता है।

---

*Value.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक तो आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेकी योग्यतापर निर्भर है। यदि गायका दूध बकरीके दूधकी अपेक्षा हमारी किसी आवश्यकताको अधिक पूरा करता है तो इस दृष्टिसे वह अधिक अर्घवाला है। इस प्रकारके अर्घको भोग्यार्घ* कहते हैं। यह वस्तुका सहज, स्वाभाविक और स्थिर गुण है। दूसरे प्रकारका अर्घ इस बातपर निर्भर है कि इस पण्यका कितना परिमाण दूसरे पण्योंके कितने परिमाणोंके बदलेमें दिया जाता है। जैसे, उदाहरणके लिए किसी समय-विशेषमें ऐसा हो सकता है कि १० सेर गेहूँ = ६ सेर चावल = १० छटाँक घी = २० आम = १ तोला चाँदी। इन सब पण्योंका यह अर्घ स्थिर नहीं है। यह कई कारणोंसे बदलता रहता है। इसको विनिमयार्घ † कहते हैं। साधारणतः लोग इसीको अर्घ कहते हैं।

जिस समय व्यापारका रूप इतना ही रहता है कि एक पण्यके स्थानमें दूसरा पण्य लिया जाय, उस समयकी अवस्था इस प्रकारकी होती है—

$$प_1 \rightleftarrows प_2$$

[प१ और प२ दोनों ओरके पण्य हैं।]

परन्तु कुछ कालमें इससे काम नहीं चलता, अड़चनें पड़ने लगती हैं। अन्नवालेको यदि कपड़ेकी आवश्यकता है पर जुलाहेको उस समय अन्नकी आवश्यकता नहीं है तो परिवर्तन न हो सकेगा और कृषकको कपड़ा न मिल सकेगा। इसीलिए धीरे धीरे सभी सभ्य देशोंमें विनिमयके साधन-स्वरूप किसी न किसी प्रकारकी मुद्रा‡ के प्रयोगकी प्रथा चल पड़ी। मुद्रा

---

* Utility Value. † Exchange Value. ‡ Coins.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी भी द्रव्यकी हो सकती थी पर अनेक प्रकारकी सुविधाओं-के कारण सभी जगह प्रधान मुद्रा धातुओंकी ही हुई, यों छोटे छोटे कामोंके लिए कौड़ी आदिसे भी काम लिया जाता रहा है। मुद्रासे यह सुविधा हुई कि एक पण्यका स्वामी उसको देकर किसीसे मुद्रा पा जाता है और फिर उस मुद्राको देकर दूसरा पण्य ले सकता है। ऐसे लोग बीचमें आ जाते हैं जो रुपया देकर पण्य मोल ले लेते हैं, इसलिए नहीं कि उन्हें स्वयं उस समय उसकी आवश्यकता है वरन् इसलिए कि वह जानते हैं कि एक न एक दिन कोई न कोई आकर रुपया देकर उसे मोल ले जायगा। हमारे पहिले उदाहरणवाले कृषक और जुलाहेका काम तो सरल हो गया। कृषकको अन्नका रुपया मिला, उस रुपये-को उसने जुलाहेको देकर वस्त्र पाया, जुलाहेको जब आवश्यकता होगी तब वह उस रुपयेसे अन्न मोल ले लेगा। इस दृष्टिसे तो अब व्यापारका स्वरूप इस प्रकारका हो गया—

$$प_1 \longrightarrow मु \longrightarrow प_2$$

[यहाँ बीचमें मु मुद्राके लिए आया है]

देखनेमें आजतक व्यापारका यही स्वरूप है। साधारण माल बनाने और बेचनेवाले, साधारण जनता, की दृष्टिमें व्यापार यों ही हो रहा है। पर लोग उस बीचवाले व्यक्तिको भूल जाते हैं जो $प_1$ और $प_2$ के स्वामियोंमें मु-के स्वामीके रूपमें बैठा हुआ है। वह निःस्वार्थ लोकसेवाके भावसे न तो मुद्रा देकर $प_1$ मोल लेता है, न इस उदार भावसे प्रेरित होकर मुद्रा लेकर उस मालको फिरसे बेचता है। उसका उद्देश्य न तो कृषककी आवश्यकताकी पूर्त्ति करना है न जुलाहेकी, वरन् स्वयं लाभ उठाना है। उसकी दृष्टिसे व्यापारका स्वरूप यह है :—

$$मु_1 \longrightarrow प \longrightarrow मु_2$$

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[$मु_1$ वह रुपया है जो उसने पण्य मोल लेनेमें लगाया था और $मु_2$ वह रुपया है जो उसे पण्य बेचने पर मिला]

$मु_1$ पूँजी है। यदि अन्तमें पण्य बेचने पर उतना ही मिले जितना उसको मोल लेनेमें लगा था अर्थात् यदि $मु_2$ और $मु_1$ बराबर हों तो इस व्यक्तिका बीचमें पड़ना व्यर्थ हुआ। उसका एकमात्र लक्ष्य यह है कि $मु_1$ से $मु_2$ अधिक हो क्योंकि

$मु_2 - मु_1$ = ला (लाभ)

अब वह चाहे तो इस लाभकी रक़मको फिर इसी प्रकार व्यापारमें लगाये। चूँकि उसकी पूँजी अब बढ़कर $मु_1$ + ला हो गयी है, इसलिए उसका लाभ भी पहलेसे अधिक होना चाहिये। इस प्रकार उसकी पूँजी बढ़ती चली जायगी।

प्रश्न यह है कि $मु_1$ किस प्रकार $मु_2$ में बदल गया? पण्यका परिमाण तो बढ़ा नहीं फिर उसके लिए अधिक रुपया कहाँसे मिल गया? इसके भी पहले यह सवाल उठता है कि $मु_1$ यानी पहली पूँजी कहाँसे आयी? यह प्रश्न यों उठता है कि $मु_1$ और $मु_2$ में भेद हो सकता है। यह सम्भव है कि कोई मितव्ययी व्यक्ति अपना पेट काट-काटकर थोड़ा-थोड़ा बचावे और उसे पूँजीके रूपमें लगावे। यह पूँजी बहुत अंशोंमें उसके निजी परिश्रमका परिणाम मानी जा सकती है पर यह बात ला और आगे चलकर जो और बढ़ते हुए लाभ होते जायँगे उनके लिए नहीं कही जा सकती। इन रक़मोंको तो उसने बिना परिश्रम किये, बिना अपना पेट काटे, बिना मितव्ययिता किये, प्राप्त किया है। लाखों करोड़ोंकी बात छोड़कर एक साधारण उदाहरण लिया जाय। कोई मितव्ययी व्यक्ति एक-एक दो-दो रुपया करके कुछ रुपया, मान लीजिये ५०) जमा करता है। यहाँतक तो उसका परिश्रम था। वह इस रुपयेसे किसी अच्छी कम्पनी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का एक शेयर मोल ले लेता है। अब हर साल घर बैठे उसको कुछ मिलता रहता है यहाँतक कि कुछ वर्षोंमें उसका लगाया हुआ सारा रुपया भी वसूल हो जाता है और मुनाफ़ा बराबर आता रहता है। उधर कम्पनीका व्यवसाय बढ़ता जाता है अर्थात् उसकी पूँजी भी (जो अंशतः इस व्यक्तिकी पूँजी है) बढ़ती जाती है। इसका रहस्य क्या है? रुपया रुपयेको कैसे जन्म दे सकता है?

ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनको इस प्रश्नपर स्यात् आश्चर्य होगा। वह कह बैठेंगे कि इसमें कौन-सी विचित्र बात है, माल जितनी लागतमें बना उससे अधिक मूल्य* मिला; बस यही जो अधिक मिला वह मुनाफ़ा है। सपर भी हमारा वही प्रश्न रह जाता है, अधिक क्यों मिला? जब पण्य उतनेका उतना ही रहा, कमसे कम बढ़ा नहीं, तो उसका मूल्य अधिक क्यों मिला? यह प्रश्न और उत्तर हमको इस बातपर विवश करते हैं कि सक्षेपमें हम मूल्यकी बात भी समझ लें।

हम जब कहते हैं कि बीस सेर गेहूँका मूल्य २) है तो हमारा यह अर्थ तो है ही कि बीस सेर गेहूँ देकर २) मिल सकते हैं और २) देकर बीस सेर गेहूँ मिल सकता है पर इस अर्थके नीचे भी यह भाव दबा है कि बीस सेर गेहूँ उतनी चाँदीके बराबर है जितनी कि २) में है। यदि एक रुपया नामवाले सिक्केमें एक तोला चाँदी मान ली जाय तो हमारा तात्पर्य्य यह है कि बीस-सेर गेहूँ=दो तोला चाँदी, अर्थात् इन दोनोंका विनिमयार्घ बराबर है। इसी प्रकार दो तोला चाँदीका विनिमयार्घ यदि अठारह छटाँक घीके बराबर हो तो फिर

बीस सेर गेहूँ=दो तोला चाँदी=अठारह छटाँक घी = ...

---

* Price.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी लड़ी बन जायगी। मूल्य कई कारणोंसे घटता बढ़ता रहता है। कभी किसी रोगके प्रकोप या युद्धके छिड़ जाने या ऐसे ही किसी कारणसे माँग यकायक बढ़ जाय तो मूल्य बढ़ जायगा, यदि माँग घट जाय तो मूल्य गिर जायगा। इसी प्रकार यकायक फ़सल मारी जाय, माल ढोनेवाला जहाज़ डूब जाय या कोई ऐसा ही आकस्मिक कारण आ पड़े और मालकी कमी पड़ जाय तो मूल्य बढ़ जायगा, माल अधिक हो जानेसे मूल्य घट सकता है। यह भी हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोंके हाथमें एक प्रकारसे एकाधिकार आ जाय। वह माल जमा कर लें और मूल्य बहुत बढ़ाकर बेचें। ऐसी बातें हो सकती हैं और होती रहती हैं पर विशेष अवस्थाओंको छोड़कर मूल्य पण्यके विनिमयार्घसे बहुत दूर नहीं जा सकता। साधारण मनुष्यको अपनी आवश्यकताको पूरा करनेवाले पण्योंमें दिलचस्पी है। वह जब बीस सेर गेहूँ देकर २) अर्थात् दो तोला चाँदी लेता है तो यह समझकर कि कल जब मुझे घीका काम पड़ेगा तो इस दो तोले चाँदीको देकर मैं अठारह छटाँक घी ले सकूँगा। यदि यह विश्वास न हो तो मुद्राका चलन उठ जाय और सीधे पण्योंका परिवर्त्तन फिरसे होने लग जाय। अतः मूल्यकी तहमें पण्योंका परिवर्त्तन है और मूल्य पण्योंके विनिमयार्घके आसपास ही टिक सकता है।

अब हमको देखना यह है कि पण्योंका विनिमयार्घ किसपर निर्भर है। हम जब दो वस्तुओंको बराबर कहते हैं तो उनमें कोई न कोई समान गुण देखकर ही ऐसा कहते हैं। यह दो लकड़ियाँ बराबर हैं, क्यों? इसलिए कि इनकी लम्बाई बराबर है। रुईका यह ढेर लोहेके इस टुकड़ेके बराबर है, क्यों? इसलिए कि दोनोंका गुरुत्व, अर्थात् पृथ्वीके साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकर्षण बराबर है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि

बीस सेर गेहूं = आठ गज कपड़ा = दो तोला चाँदी

तो इन तीनों मदोंमें बराबरीवाला कौनसा अंश है? ऐसा व्यवहार तो सहस्रों वर्षोंसे होता आ रहा है। इसका तात्पर्य्य यह है कि लोगोंकी सहज बुद्धिने इस तत्वको समझ लिया है पर अब उसी तत्वको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करना है।

इन सबमें ही भोग्यार्घ है पर वह तो बराबर हो नहीं सकता। जिस आवश्यकताकी पूर्ति गेहूँ करता है वह उस आवश्यकतासे भिन्न है जिसकी पूर्ति कपड़ा करता है और जिसकी पूर्ति चाँदीसे होती है वह इन दोनोंसे नितान्त भिन्न है। मात्रा चाहे जितनी घटायी बढ़ायी जाय, एकका स्थान दूसरा नहीं ले सकता। अतः बराबरीका आधार भोग्यार्घमें नहीं है।

विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह आधार श्रम है। जिस वस्तुको तय्यार करनेमें जितना ही अधिक श्रम लगता है, वह उतनी ही महार्घ होती है, उसका विनिमयार्घ उतना ही अधिक होता है। यदि दो पण्योंको तय्यार करनेमें बराबर बराबर श्रम लगता है तो उनके विनिमयार्घ बराबर होंगे अतः जब हम यह कहते हैं कि इतना गेहूँ इतने कपड़ेके बराबर है तो हमारा भाव और विश्वास यही है कि इतने गज़ कपड़ेको तय्यार करनेमें जितना श्रम लगा है उतने ही श्रममें इतना सेर गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि श्रमकी नाप-तौल कैसे हो? इसका कोई साधारण और सरल वैज्ञानिक उपाय नहीं है। यदि हो भी तो सबके व्यवहारमें लाने योग्य नहीं है। अतः श्रमकी नाप घण्टोंसे होती है। किसी वस्तुको तय्यार करनेमें जितना समय लगता है उससे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसपर कितना श्रम खर्च हुआ है। यह आक्षेप किया जा सकता है और ठीक भी है कि किसी नियतकालमें सब लोग बराबर बराबर श्रम नहीं करते पर एक औसत या सदंल अवश्य होता है; कोई कुछ अधिक कर ले जायगा, कोई कुछ पीछे रह जायगा परन्तु प्रायः सबका ही श्रम उस औसतके आसपास होगा। वस्तुके इस निर्माणकालको, अर्थात् उस कालको जितनेमें एक औसत श्रमिक उस वस्तुको तय्यार कर सकता है, श्रमकाल* कहते हैं। केवल श्रमकाल शब्दसे व्यक्ति व्यक्तिके पृथक् पृथक् श्रमकालकी भ्रान्ति न हो इसलिए यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि उस समयमें जैसे औज़ार प्रायशः व्यवहारमें आते हैं उनसे ही काम लेकर एक औसत श्रमिक जितने कालमें उस वस्तुको तय्यार कर सकता है उसी कालसे श्रम और श्रमके द्वारा विनिमयार्घका अनुमान होता है। इस कालको समाज-दृष्ट्या आवश्यक श्रमकाल† कहते हैं।

किसीको यह भ्रम न हो कि हमने कच्चे मालका लिहाज़ नहीं किया है। जब हम बाइसिकिलके विनिमयार्घको निकालने बैठते हैं तो पुर्ज़ोंके श्रमकालमें उतने लोहेके श्रमकालको भी जोड़ लेते हैं।

अब यदि हम अपने पुराने प्रश्नपर आ जायँ तो यह स्पष्ट है कि किसी पण्यका मूल्य मुख्यतः उसपर खर्च किये गये श्रमपर निर्भर है। इसको ध्यानमें रखते हुए उस व्यापारीको लीजिये जिसने पहले रुपया लगाकर कपड़ा या अन्न मोल लिया और फिर उसको बेचता है। उस कपड़े या अन्नके विनिमयार्घको सामने रखकर उसने मूल्य दिया होगा। उसके घर पड़े रहनेसे

---

*Labour-time. †Socially necessary labour-time.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस विनिमयार्घमें साधारणतः कोई वृद्धि-विशेष नहीं होती। इसलिए बेचने पर भी उसे सामान्यतः उतना ही मिलना चाहिये। यदि अधिक मिलता है तो इसलिए कि उसने कभी सस्तीके समय माल खरीद लिया होगा और अब महँगीमें बेचता है या थोक लेकर फुटकर बेचता है, इत्यादि। इन सब बातोंके होते हुए भी उसको बहुत लाभ नहीं हो सकता अर्थात् वह बहुत पूँजी नहीं बटोर सकता। उससे अधिक वह कमा सकता है जो पण्यको लेकर उसे पण्यान्तरमें परिणत करता है। जो रुई मोल लेकर उसका कपड़ा बनवाकर बेचता है, उसे अधिक पैसे मिलेंगे, क्योंकि रुईको कपड़ेमें बदलनेमें जो श्रमकाल लगा उसने कपड़ेके मूल्यको रुईके मूल्यसे बढ़ा दिया। मालको एक-से लेकर दूसरेके हाथ बेच देनेके व्यवसायकी अपेक्षा कच्चे मालको लेकर उससे पक्का माल तय्यार करके बेचनेमें सदैव अधिक मुनाफ़ा होगा और जितना ही अधिक मुनाफ़ा होगा उतनी ही अधिक पूँजी बढ़ेगी।

पर यह बात इतनी सरल नहीं है कि इतनेमें ही खत्म हो जाय। कपड़ेका मूल्य तो रुईसे अधिक होता है पर मुनाफ़ा किसकी जेबमें जायगा? उदाहरणसे देखिये। प्राचीन कालमें कारीगर स्वतन्त्र होते थे। आज भी जुलाहे या कोरी, लुहार, मिस्त्री स्वतन्त्र होते हैं अर्थात् अपने औज़ारके आप स्वामी होते हैं और जो पण्य तय्यार करते हैं उसका मुनाफ़ा आप लेते हैं। जुलाहे-के पास करघा होता है, वह सूत मोल लेकर कपड़ा बनाता है और बेचता है। यदि किसी महाजनसे कुछ ऋण भी लेता है तो वह महाजन अपना रुपया और ब्याज ले सकता है, करघे, करघेके बने माल और उस मालके मूल्यपर अधिकार उस जुलाहेका ही रहता है। कपड़ा बिननेका कोई बड़ेसे बड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारखाना हो, वह है उसी प्रकारकी जगह जैसी जुलाहेके मकान-की बिननेवाली दालान। उसकी बड़ी मशीनें करघोंके ही विस्तृत रूप हैं और काम करनेवाले जुलाहे हैं। अब यदि ऊपरवाला न्याय यहाँ भी लागू माना जाय—और न माननेका कोई कारण नहीं है—तो यह कारीगर ही मशीन और मशीनसे बने कपड़ेके स्वामी हैं और सारा मुनाफ़ा इनमें ही बँटना चाहिये। जिसका रुपया लगा है वह अधिकसे अधिक अपना मूल और उचित ब्याज ले ले। पर इससे तो उसका परितोष नहीं हो सकता। इतनी बड़ी मशीन रखनेका तात्पर्य यही है कि श्रम कम लगे। जिस मशीनपर सौ मज़दूर लगे होंगे वह सौ स्वतन्त्र कारीगरों-से अधिक काम करेगी। इकट्ठा मोल लेनेसे कच्चा माल भी सस्ता मिलेगा। साख अधिक होगी, इसलिए यदि कभी काम पड़ गया तो ऋण सुभीतेसे मिल सकेगा। पर इन सब सुवि-धाओंका उपयोग ही क्या हुआ, अर्थात् रुपया लगानेवालेको इनसे क्या मिला, यदि यह सब सामग्री काम करनेवाले मज़-दूरोंकी सम्पत्ति मान ली गयी? यदि उसने इसलिए रुपया लगाया होता कि पण्य खूब तैयार हों और लोगोंकी आवश्य-कताएँ सुगमतासे पूरी हों तो वह इस बातको मान लेता पर वह भूखोंको अन्न और नङ्गोंको वस्त्रकी कमी न हो इस उद्देश्यसे व्यवसाय करने नहीं आया था, वह तो अपने रुपयोंकी सन्तति-की वृद्धि चाहता है।

एक काम रुपया लगानेवाले कर सकते हैं। मशीनोंके युगके पहिले यही किया जाता है। बनारस जैसे नगरोंमें, जहाँ बहुतसे कारीगर रेशमी माल तैयार करते हैं, अब भी ऐसा होता है। रुपयेवाले कारीगरोंको ऋण देकर उनसे यह शर्त करा लेते हैं कि तैयार होनेपर माल पहले हमको दिखला लेना। हम न लें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब दूसरेके हाथ बेचना। दबाव होनेसे दाम भी कुछ हल्का ही देते हैं। इससे कारीगरकी स्वतन्त्रता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है और पूँजीकी वृद्धि होती है। पर यह भी पर्य्याप्त नहीं है। यही कारीगर यदि एक जगह काम करें तो खर्च कम पड़े, फिर भी जब तक स्वतन्त्र यन्त्र चलते हैं तबतक अड़चन रहती है। खर्च तो वस्तुतः तब कम होता है जब स्वतन्त्र यन्त्रोंकी जगह एक महायन्त्र हो।

महायन्त्रों यानी मशीनोंने रुपयेवालोंका पक्ष प्रबल कर दिया है। साधारण कारीगरकी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह इन्हें मोल ले सके। यदि बहुतसे कारीगर मिल जायँ तो भी उनके लिए मशीन खरीदना कठिन होगा। रुपयेवाले अपने रुपये और साखके द्वारा मशीन गाड़ सकते हैं। इस प्रकार वह यन्त्रके स्वामी बन जाते हैं। अब रही श्रमकी बात। उनको स्वतन्त्र कारीगर तो चाहिये नहीं, केवल मज़दूर चाहिये अर्थात् ऐसे लोग चाहिये जो पैसा लेकर श्रम करनेको तैयार हों और अपनी मज़दूरी मात्रसे मतलब रखें, अपनेको यन्त्रादिका स्वामी समझकर मालिक बननेका स्वप्न न देखें। ऐसे लोग पर्य्याप्त संख्यामें मिल जाते हैं। यह कहाँसे आते हैं, इसका विचार 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमें होगा पर लड़ी टूटती नहीं, आदमी बराबर मिल जाते हैं। मिलनेकी ही बात नहीं है, ऐसे लोगोंकी संख्या बराबर बढ़ती जाती है जिनके पास खेती-बारी घर आदि कोई सम्पत्ति नहीं है। उनके पास अपने शरीर मात्र हैं। मनुष्यका शरीर तो कोई लेकर क्या करेगा, उसका तो यही उपयोग है कि उससे काम लिया जाय, यानी काम कराया जाय, उसमें श्रम करनेकी जो शक्ति है उससे काम लिया जाय। यह काम गुलामी-प्रथा द्वारा भी हो सकता है पर यह प्रथा एक तो कहने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुननेमें भी दूषित है, दूसरे महँगी भी है। गुलामकी देख-रेखमें बड़ा पैसा लगता है। वह काम भी कम करता है। यह मनुष्यकी मनोवृत्ति है कि वह जितने ही बन्धनोंमें रखा जाता है उतना ही असन्तुष्ट रहता है और काम कम करता है। यही कारण है कि यह प्रथा उठ गयी। इसको उठानेका श्रेय यूरोपवालोंकी धर्म्मबुद्धि नहीं वरन् व्यवसायबुद्धिको है। दूसरा उपाय वही है जो बरता जा रहा है। यह लोग अपने शरीरके स्वामी बने रहते हैं पर अपनी श्रमशक्तिको समय-विशेषके लिए रुपयेवालेके हवाले कर देते हैं। ऐसे लोगोंके लिए कुछ दिनोंसे 'सर्वहारा'* नाम चल पड़ा है। अकिञ्चन* कहना भी बुरा न होगा। तात्पर्य यह है कि इनके पास कुछ नहीं है। यही सच्चे मज़दूर हो सकते हैं। जो पूर्णतया अकिञ्चन हो उसको लोग दान, दया या आदरके भावसे प्रेरित होकर भले ही भोजन दे दें, पर वह स्वयं अपने जीवननिर्वाहके लिए कुछ कर नहीं सकता। यदि उसके पास रुपया हो तो अपने कामके पण्य मोल ले ले या कोई पण्य हो तो उसे बेचकर दूसरे पण्य ले। हमारे सर्वहाराके पास कुछ न होते हुए भी एक वस्तु है। वह है उसकी श्रमशक्ति†, श्रम करनेकी शक्ति। बस वह रुपयेवालेके हाथ इसीको बेचता है। यही उसका एकमात्र पण्य है। इसका विनिमयार्घके हिसावसे उसको मूल्य मिलता है। इसी मूल्यको पारिश्रमिक या मज़दूरी‡ कहते हैं।

मज़दूरीके सम्बन्धमें थोड़ा और विचार कर लेना अच्छा होगा। रुपयेवाले बाज़ारको देखकर ही मज़दूरी देते हैं। एक ओर रुपयेवाला है जो घाटा सहकर भी कुछ दिन चल सकता

---

* Proletarian. † Labour-power. ‡ Wages.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, दूसरी ओर मज़दूर है जिसको अपने भूखे और नंगे बच्चोंके लिए आज सायंकालके लिए कुछ प्रबन्ध करना है, नहीं तो वह दम तोड़ने लगेंगे। क़ानून, जिसको रुपयेवालोंने ही बनाया है, भले ही दोनोंको बराबर कहे पर वस्तुतः बराबरीका कहीं नाम भी नहीं है। मज़दूरको अगत्या रुपयेवालेकी शर्तें माननी पड़ेंगी। इतना ही है कि बाज़ारका रुख देखकर शर्तें कभी कुछ कड़ी, कभी कुछ ढीली हो जायँगी। शर्तोंका निचोड़ यही है कि मज़दूर कमसे कम मज़दूरीमें अधिकसे अधिक काम करे।

प्रत्येक रुपयेवाला जो मज़दूर रखता है अर्थशास्त्रका या दर्शनका पण्डित नहीं होता पर मज़दूरीका तत्व न समझते हुए भी व्यवहार-बुद्धिसे दो-तीन बातोंका लिहाज़ मज़दूरीमें रखता है। पहिली बात तो यह है कि इतना तो देना ही चाहिये कि मज़दूर जीता ही नहीं वरन् स्वस्थ रहे। यदि यह न हुआ तो उसकी श्रमशक्ति ही नष्ट हो जायगी। इसके साथ ही उसको जो मज़दूरी दी जाती है उसमें इस बातकी रिआयत भी रहती है कि वह अपने स्त्री-बच्चोंका भी कुछ भरणपोषण कर सके। यह इसलिए नहीं रहती कि किसीको मज़दूर या उसके कुटुम्बियोंसे प्रेम है। बात यह है कि यदि साधारण बालिग़ पुरुषके पत्नी न हो तो वह प्रायः अर्धविक्षिप्त-सा रहता है। ऐसी दशामें वह ठीक ठीक काम नहीं कर सकता। यदि मज़दूरकी श्रमशक्तिसे लाभ उठाना है तो इसके लिए इसका भी प्रबन्ध करना होगा कि वह कुटुम्बका येनकेन प्रकारेण पालन-पोषण कर सके। इसकी तहमें एक और बात छिपी हुई है। मज़दूरकी श्रमशक्ति तो हमारे रुपयेवालेके लिए वही हैसियत रखती है जो उसके एञ्जिनकी श्रमशक्ति। उसके लिए दोनों ही उत्पादनके साधन हैं। वह नये एञ्जिनको ख़रीदनेके समय यह जानता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि कुछ वर्षोंमें यह वेकार हो जायगा और फिर नया एञ्जिन मोल लेना होगा। इसलिए वह प्रतिवर्ष कुछ रुपया निकालकर रखता जाता है। इसी रुपयेसे वह समयपर नया यन्त्र क्रय करता है। मज़दूर भी कभी वृद्ध होता है और मरता है। फिर कहींसे नया मज़दूर तो लाना होगा। मज़दूर किसी कारखानेमें तो ढलते नहीं; मनुष्यसे ही न मनुष्य पैदा होता है। इसलिये, जैसे नये एञ्जिनको मोल लेनेके लिए थोड़ा-थोड़ा रुपया पहिलेसे जमा किया जाता है, उसी प्रकार थोड़ा-सा रुपया मज़दूरको इसलिए भी दिया जाता है कि वह विवाह करके बच्चे पैदा करे और उनको पाले-पोसे ताकि जब वह वेकार हो जाय तो नया मज़दूर तैयार रहे। मज़दूरीका यही रहस्य है। मज़दूरी मज़दूरकी श्रमशक्तिका मूल्य है और मूल्य लगाते समय इस बातका भी लिहाज़ रहता है कि शक्तिका मन्दिर अर्थात् मज़दूर देहेन और मनसा यथासम्भव अस्वस्थ न रहे और अपने वेकार होनेके पहले अपने जैसे कुछ दूसरे शरीर पैदा कर जाय।

इस प्रकारके मज़दूर और कारीगरमें बड़ा अन्तर है। कारीगर ग़रीब हो तो भी उसको यह सन्तोष और यह गर्व होता है कि अमुक वस्तु मेरे हाथोंकी कारीगरी है। मज़दूर किसी महायंत्रके एक छोटेसे पुर्ज़ेसे सम्बन्ध रखता है। कारखानेमें कपड़ा या जूता या मोटर, कुछ भी बनता हो पर मज़दूर यह नहीं कह सकता कि इस पण्यको या इसके अमुक अंशको मैंने बनाया है। उसको क़ानून चाहे ऐसा न कहे पर वस्तुतः वह दास है और नियत कालके लिए रुपयेवालेको उसी प्रकार उसपर स्वत्व है जैसे कि भूमि या अन्य साधनोंपर। कमसे कम रुपया लगानेवालेकी यही धारणा होती है।

यह सब हो पर यदि मज़दूरको मज़दूरीके रूपमें अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमका पूरा मूल्य मिल जाता है तो फिर रुपया लगानेवालेको कोई विशेष मुनाफ़ा नहीं हो सकता। सूतसे कपड़ा बनता है। सूतका विनिमयार्घ तो पहिले ही देकर सूत लिया गया था। अब श्रमिक जितने घंटे श्रम करता है उसका पूरा मूल्य उसको दे दिया जाय यानी उसकी मज़दूरी इस मूल्यके बराबर हो तो कपड़ा वेचने पर वही सूतका मूल्य बच रहेगा पर इससे तो व्यापार पनप नहीं सकता।

पर रुपया लगानेवालेके सौभाग्यसे ऐसा होता नहीं। इसके भीतर एक बहुत बड़ा रहस्य है और वही मुनाफ़ेकी कुञ्जी है। जब रुईसे सूत बनता है तो उसके विनिमयार्घमें कोई भेद नहीं पड़ता पर उसका भोग्यार्घ बदल जाता है। मान लीजिये कि रुईका विनिमयार्घ जो उसके श्रमकालपर निर्भर है वि$_1$ है और जो मूल्य मिला वह मू है तो मू-में दो अंश विद्यमान हैं। एक तो वि$_1$ ज्योंका त्यों है, दूसरा वह विनिमयार्घ है जो श्रमके द्वारा उसमें आया है। यदि इसे वि$_2$ कहें तो

$$\text{वि}_1 + \text{वि}_2 = \text{मू}$$

वह वि$_2$ विचारणीय है। श्रमशक्ति एक विलक्षण वस्तु है। वह अपने व्ययकालमें अपने पुनर्जन्मका प्रबन्ध कर लेती है और साथ ही अपनी सन्तति भी उत्पन्न कर लेती है। मान लीजिये कि कुछ सूत है। उसका विनिमयार्घ ३) है। एक मज़दूर दस घण्टेके लिए ॥) रोज़की मज़दूरीपर रखा जाता है। अब यदि मज़दूर दस घण्टे काम करके ॥) का विनिमयार्घ पैदा करे यानी उस सूतपर जो परिश्रम करे उससे मालका मूल्य ३॥) मात्र हो जाय तो मुनाफ़ेकी कोई जगह नहीं रही। पर वस्तुतः होता यह है कि वह पाँच सात घण्टेके श्रमसे ही उसका विनिमयार्घ ॥) बढ़ा देता है। पाँच सात घण्टेमें वह मज़दूरीके बराबर श्रम कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चुकता है। इतनी देरमें वह अपने श्रमका विनिमयार्घ तो कच्चे मालमें जोड़ चुकता है। पर उसे कई घण्टे अधिक काम करना पड़ता है। इस श्रमकालका उसे कुछ नहीं मिलता पर विनिमयार्घ तो बढ़ता ही जाता है। यदि पाँच घण्टेके बाद माल ३॥) का था तो दस घण्टेके बाद वह कमसे कम ४) का होगा। अपने विनिमयार्घकेऊपर जितना विनिमयार्घ मज़दूर पैदा करता है (या यों कहिये कि मज़दूरको विवश होकर पैदा करना पड़ता है) उसे अतिरिक्तार्घ* कहते हैं।

यह अतिरिक्तार्घ ही मुनाफ़ेका स्रोत है। जो कच्चा माल मोल लिया गया था उसका तो विनिमयार्घ दिया ही गया था। मज़दूरको भी उसके श्रमका विनिमयार्घ मज़दूरीके रूपमें दिया जाता है। परन्तु अधिक श्रम करके जो अतिरिक्तार्घ वह पैदा करता है उसके लिए उसे कुछ नहीं मिलता। पर यह अतिरिक्तार्घ तैयार मालके मूल्यके भीतर विद्यमान है। जो हमने उदाहरण लिया था उसमें श्रमके द्वारा उत्पन्न किये गये विनिमयार्घ वि$_2$के दो भाग करने होंगे, एक तो मज़दूरके श्रमका विनिमयार्घ और दूसरा मज़दूर द्वारा उत्पन्न किया गया विनिमयार्घ। यदि इनको श्र और अ कहें तो हमको

वि$_1$ + वि$_2$ = मू-को इस रूपमें लिखना होगा—

वि$_1$ + (श्र + अ) = मू

इसमें जो अ वाला अंश है वही रुपया लगानेवालेका मुनाफ़ा है।

---

* Surplus Value. (सरप्लस वैलू) कुछ लोग इसके लिए अतिरिक्त मूल्य शब्दका प्रयोग करते हैं परन्तु Value और Price भिन्न भिन्न अर्थोंके वाचक हैं। अर्घ और मूल्य दो पृथक् शब्दोंके होते हुए एक हीका प्रयोग करना अनावश्यक और भ्रामक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो प्रश्न अध्यायके आरम्भमें उठाया गया था, उसका यही उत्तर है। रुपये लगानेवालेका यही प्रयत्न होता है कि वह मज़दूरोंसे अधिकसे अधिक काम ले अर्थात् उनकी श्रमशक्तिका विनिमयार्घ चुकाकर उनसे अधिकसे अधिक अतिरिक्तार्घ उत्पन्न करावे। यह अतिरिक्तार्घ उसके हाथ मुफ़्त लगता है और यही उसका मुनाफ़ा है। जितना ही मुनाफ़ा अधिक होगा उतनी ही उसकी पूँजीमें वृद्धि होगी। इस प्रकार उसकी प्राथमिक पूँजी अपनेको बढ़ा सकती है अर्थात् रुपया रुपयेको पैदा करता है।

इस प्रकार जो पूँजी पैदा होती है उसपर व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों अर्थात् कम्पनियोंका पूरा पूरा स्वत्व होता है। जनता या राजका उसपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसका क्या परिणाम होता है इसपर 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमें विचार होगा।

नवाँ अध्याय

विनिमय और वितरणके साधनोंपर निजी स्वत्व

उत्पादनके साधनोंके साथ साथ विनिमय और वितरणके साधनोंपर भी संक्षेपसे विचार करना अच्छा होगा। इस कोटिमें बङ्क, रेल, जहाज़, दूकान शामिल हैं। इन सबपर व्यक्तियों या थोड़े थोड़े व्यक्तियोंके समूह यानी कम्पनियोंका*

---

* कम्पनियोंकी गणना भी पिछले और इस अध्यायमें व्यक्तियोंमें ही की गयी है क्योंकि क़ानूनकी दृष्टिसे भी वह व्यक्ति हैं और उनका सारा व्यापार कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंके हितमें ही होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकार है। यह बात नयी नहीं है। रेल, वायुयान या स्टीमर न रहे हों पर नाव, बजड़ा, बैलगाड़ी, छकड़े तो थे ही। यह व्यक्तियोंके ही हाथमें थे। समय समयपर लोगोंको ऋणकी आवश्यकता पड़ती थी। उसे महाजन पूरा करते थे। आज भी महाजन हैं पर उनके स्थानमें अब बङ्क बढ़ते जाते हैं। कच्चा और बना सब तरहका माल दूकानोंपर बिकता था और अब भी बिकता है। इन सब व्यवसायोंसे जो लाभ होता था और है, वह इनके थोड़ेसे मालिकोंके हाथमें जाता है। पर आजकल एक विशेषता हो गयी है। जो लोग महाजनी करते हैं वह देखते हैं कि बड़े बड़े कल-कारख़ानोंको ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। इन कारख़ानोंको ख़ासा मुनाफ़ा होता है, इसलिए ब्याज और मूल अच्छी तरह दे सकते हैं। ऋण देते देते महाजन अर्थात् बङ्क मिलोंमें हिस्से मोल ले लेते हैं। इसी प्रकार जिन लोगोंको कल-कारख़ानोंसे मुनाफ़ा होता है, वह अपनी पूँजी बङ्कोंमें लगाते हैं और महाजनी करते हैं। यही लोग जहाज़ और रेलकी कम्पनियोंके हिस्से मोल ले लेते हैं या नयी कम्पनियाँ खोलते हैं। इससे इनको यह सुविधा होती है कि अपना माल सस्तेमें जहाँ चाहते हैं भेज सकते हैं। एक ही, या एक ही गुटके, हाथमें माल, रुपया और यातायातके साधन, उत्पादन विनिमय और वितरणके साधन, होनेसे व्ययमें किफ़ायत और आयमें वृद्धि की जा सकती है। अपने प्रतियोगियोंको दबाया जा सकता है और अपना मुनाफ़ा अर्थात् आगेके लिए पूँजी बढ़ायी जा सकती है। इन्हीं सब कारणोंसे कई विदेशोंका माल भारतीय मालसे सस्ता पड़ता है।

इसका क्या परिणाम होता है यह पूँजीवादवाले अध्यायमें दिखलाया जायगा। वस्तुतः विनिमय और वितरणके साधनोंकी

स–९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ही दशा है। एक रूस ही ऐसा देश है जहाँ यह चीज़ें अब वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हैं। पर एक बात है, और वस्तुओंके ऊपर वैयक्तिक स्वत्व होते हुए भी कुछ देशोंमें रेलवेपर न्यूनाधिक राष्ट्रका स्वत्व है। विदेशोंमें बेल्जियम और जर्मनी इसके उदाहरण हैं। भारत खुद इसका अच्छा उदाहरण है। ईस्ट इण्डियन, नार्थ वेस्टर्न, ईस्टर्न बेङ्गाल, जी० आई० पी० यह सब लाइनें सरकारी हैं। शेष भी स्यात् धीरे-धीरे सरकारी हो जायँगी।

दसवाँ अध्याय

वर्गसङ्घर्ष

वर्गयुद्ध, वर्गसङ्घर्ष या श्रेणीयुद्ध* शब्द भी हमारे देशमें खूब चल पड़े हैं। किसी न किसी प्रकार यह समझा जाने लगा है कि समाजवादियोंकी परिभाषासे इन शब्दोंका विशेष सम्बन्ध है और समाजवादी ही वर्गयुद्ध फैलानेके दायी हैं। बड़े बड़े नेता जिनसे यह आशा की जाती है कि औरोंसे अधिक समझदार होंगे और भाषा भी अधिक नाप तौलकर बोलते होंगे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनका यही तात्पर्य हो सकता है कि वर्गयुद्ध फैलानेकी जिम्मेदारी समाजवादियोंपर है। यदि वह न होते तो वर्गयुद्ध न होता।

वर्गयुद्धका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है, क्योंकि समाजवादियोंकी दृष्टिमें जितनी हानि उत्पादनके साधनोंपर

* Class-War या Class-Struggle (क्लासवार या क्लास-स्ट्रगल).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निजी स्वत्वसे होती है उतनी ही हानि वर्गयुद्धसे होती है। बिना वर्गयुद्धको समझे हुए पूँजीवाद भी समझमें नहीं आ सकता।

पहिले तो वर्ग शब्दका अर्थ जानना ज़रूरी है। साधारणतः लोग वर्गका प्रयोग योंही कर दिया करते हैं पर उसका एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है। पहले अध्यायमें हमने जानबूझ कर 'समुदाय' का प्रयोग किया है। आजकल जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण समुदायोंका लोभ, समुदायोंकी तृष्णा, समुदायोंकी प्रतियोगिता बतलायी गयी है। मनुष्योंका समूह समुदाय है। यह समूह किसी भी प्रकारसे एकत्र हो सकता है। मेले-तमाशोंके लिए, मज़हबी कृत्योंके लिए भी मनुष्योंके समूह एकत्र होते हैं और किसी न किसी रूपमें उनको समुदाय कह सकते हैं, परन्तु 'वर्ग'* शब्द समाजवादी परिभाषामें एक विशेष अर्थमें आता है। इसी अर्थमें किसी-किसी प्रान्तीय भाषा-में 'श्रेणी'* शब्द आता है।

जिस समूहके व्यक्तियोंके आर्थिक हित एकसे होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं। जैसे, ज़मीनदारोंका एक वर्ग है, मज़दूरों-का दूसरा वर्ग है, मिल-मालिकोंका एक तीसरा वर्ग है। यह भी कोई ठीक परिभाषा नहीं है पर इससे वर्ग शब्दका भाव समझमें आ जाता है। इस बातको ध्यानमें रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि पहले अध्यायमें समुदायके स्थानमें प्रायः सर्वत्र वर्ग शब्द रखा जा सकता है। समुदाय या तो अस्थायी हैं या उनके स्थायी होते हुए भी उनके कोई आर्थिक हित नहीं हैं पर वर्गोंके तो हित स्थायी हैं और उनके लोभ और प्रतिस्पर्द्धा-के कारण ही व्यक्तियों और मनुष्य-समूहोंके जीवन बनते

* Class.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिगड़ते रहते हैं। इस प्रतिस्पर्द्धाका नाम ही वर्गयुद्ध या वर्ग-सङ्घर्ष है।

वर्गयुद्ध अनादि-कालसे तो नहीं चला आता है पर है बहुत पुरानी चीज़। कमसे कम जबसे सभ्य-समाजका जन्म हुआ यानी ऐसे समाजका उदय हुआ, जिसमें कुछ लोगोंके हाथमें भूमि और पूँजीपर अधिकार हो और दूसरे लोगोंको उनके आश्रित रहना पड़े, तबसे यह वर्ग-सङ्घर्ष शुरू हुआ। एक ओर वह वर्ग था जिसके सदस्य दूसरोंके श्रमसे लाभ उठाते थे, चाहे वह लाभ पिछले अध्यायमें समझाये हुए अतिरिक्त अर्घसे पैदा हुए मुनाफ़ेके रूपमें हो, चाहे वह अनर्जित वृद्धि अर्थात् लगानके रूपमें हो। दूसरी ओर वह वर्ग था जिसको अपने श्रमका फल पहले वर्गको सौंप देना पड़ता था। विना स्वयं परिश्रम किये दूसरोंके श्रमसे लाभ उठानेको शोषण* कहते हैं। इस दृष्टिसे पहला वर्ग शोषक-वर्ग और दूसरा वर्ग शोषित-वर्ग कहला सकता है। यह बात नहीं है कि शुरूसे आजतक शोषकों और शोषितोंका स्वरूप एक-सा ही चला आया है। शोषणके कई ढङ्ग अब मिट गये हैं; उदाहरणके लिए, ग़ुलामी प्रथाका अब प्रायः अभाव हो गया है। इसके साथ ही शोषणके और कई ढङ्गोंका हालमें आविष्कार हुआ है। इनका प्रयोग बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशोंमें करते हैं। अभी भारतका इतिहास तो वर्ग-सङ्घर्षकी दृष्टिसे बिलकुल नहीं लिखा गया है। सुनता हूँ, श्री दांगे इसका कुछ प्रयत्न कर रहे हैं, पर यूरोपका इतिहास कुछ हदतक इस दृष्टिसे लिखा गया है। विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतमें भी वही शक्तियाँ काम करती रही होंगी जिनका खेल यूरोपमें देख पड़ता है।

* Exploitation (एक्सप्लायटेशन).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग-सङ्घर्षको बहुत थोड़ेमें यों समझाया जा सकता है। प्रत्येक युगमें अर्थके उपार्जनका कोई न कोई प्रमुख साधन होता है और उस साधनपर एक वर्गका आधिपत्य होता है। यह हो सकता है कि वह वर्ग पैतृक हो पर यह भी सम्भव है कि पैतृक न हो। फिर भी वर्गके सदस्योंका सङ्गठन पैतृक वर्गवालोंसे किसी दृष्टिमें कम नहीं होता। ज़मीनदारोंका वर्ग पैतृक है पर पूँजीपतियोंका नहीं है। पर पूँजीपतियोंका वर्ग ज़मीनदारोंसे कहीं अधिक सङ्गठित और वलवान् है। अस्तु, तो जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, जिस वर्गके हाथमें अर्थोपार्जनके प्रमुख साधनोंपर आधिपत्य होगा वह समाजमें सबसे बलशाली होगा। उसीके हाथमें राजनीतिक शक्ति होगी। और दूसरे वर्ग उसके अधीन होंगे; जैसे प्राचीन कालमें वह वर्ग जिसका भूमिपर अधिकार था, सबसे प्रबल था, क्योंकि उस समय अर्थोपार्जनका प्रधान साधन भूमि थी। वाणिज्य-व्यापार था सही पर बहुत संकुचित। छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें आपसमें आये दिन लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, व्यापारी स्वच्छन्द रूपसे नहीं पनप सकते थे। इस क्षत्रिय वर्गका सबपर आधिपत्य था और स्वभावतः इसने समाजका सङ्गठन ऐसा किया था कि इसका आधिपत्य चिरस्थायी रहे। यह बात केवल भारतमें नहीं, प्रत्युत उस कालके सारे सभ्य-जगत्में थी। वैश्य और शूद्र क्षत्रियके वशवर्त्ती, आश्रित और कृपाकांक्षी थे। केवल एक वर्ग था जो अर्थोपार्जनके साधनोंसे अलग रहकर भी क्षत्रिय वर्गका मुक़ाबिला कर सकता था। वह था ब्राह्मण-वर्ग। ब्राह्मणने अर्थोपार्जन छोड़ दिया था और इस भरोसे था कि दूसरे लोग उसका भरण-पोषण करें। इसके लिए वह विद्या-दान तो करता ही था, वह जनताके इस विश्वाससे लाभ उठाता था कि उसकी मध्यस्थता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से ही लोग सुगमतासे इहलोकसे परलोक पहुँच सकते हैं। इसलिए वह क्षत्रिय-वर्गसे टक्कर ही नहीं लेता था, बल्कि अपनेको कभी-कभी उससे श्रेष्ठ भी मानता था। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि एक ही व्यक्ति राजा और पुरोहित होता था। पर जहाँ ऐसा नहीं हुआ वहाँ दोनों वर्गोंमें सङ्घर्ष हुआ और अन्तमें अर्थ-शक्तिधारियों अर्थात् क्षत्रियोंकी ही विजय हुई। भारतकी बहुत ही पुरानी पौराणिक कथाओंमेंसे कईमें यह इतिहास विकृत रूपमें वर्णित है। पहले तो विश्वामित्रका वशिष्ठसे हार कर कठोर तपस्या करके ब्राह्मण बनना ब्राह्मणोंके प्राधान्यका सूचक है। फिर क्षत्रियोंका प्राधान्य होता है। परशुराम इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्र करते हैं पर उनकी प्रत्येक विजयके बाद क्षत्रियोंका राज्य होता है। अम्बिकाके ब्याहके सम्बन्धमें वह भीष्मसे युद्ध ठानते हैं पर इसके बाद वह भी थककर बैठ जाते हैं और फिर सारे भारतमें क्षत्रियोंका ही राज्य होता है। इस सारी कथावलिका एकमात्र निष्कर्ष यह है कि अर्थोपार्जनके साधनपर अधिकार रखनेवाले क्षत्रियोंने परलोककी कुञ्जीके रखनेवाले ब्राह्मणों तकको दबाकर आधिपत्य अपने हाथमें रखा। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका एक प्रकारका समझौता हो गया—सिद्धान्ततः क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंको अपनेसे ऊँचा मान लिया। व्यवहारतः वह ब्राह्मणादि सभीके ऊपर रहे।

हमने ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दोंका जो प्रयोग किया है उसको और घटनाक्रमको थोड़ासा बदल देना होगा। बाकी ठीक यही अवस्था यूरोपमें नरेशों और धर्माध्यक्षोंमें सङ्घर्ष और संग्रामके बाद उत्पन्न हुई। यह दूसरी बात है कि हमारे यहाँकी अपेक्षा उनके यहाँ यह बात कई सौ, स्यात् कई हज़ार, वर्ष पीछे हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तु, यह क्षत्रिय वर्ग, जिसे सरदार या सामन्त वर्ग भी कहते हैं—क्योंकि इनका आपसका सङ्गठन प्रायः ऐसा ही होता था कि सर्वोपरि एक सम्राट् या महाराजाधिराज, उसके नीचे न्यूनाधिक स्वतन्त्र मंडलेश्वर अर्थात् एक एक देशके नरेश और इनके अधीन न्यूनाधिक स्वतन्त्र सामन्त सरदार अर्थात् जागीरदार होते थे—तो समाजमें शीर्षस्थानीय था, और वर्गोंका इसके साथ निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहता था। सङ्घर्षका अर्थ यह नहीं है कि बराबर युद्ध होते थे। सङ्घर्षका स्वरूप असन्तोष और आंशिक असहयोग था। यह भी स्पष्ट है कि सङ्घर्ष उसी वर्गसे होता था जो स्वयं अर्थोत्पादनके काममें लगा था पर जिसके काममें क्षत्रियवर्गके अस्तित्वसे अड़चन पड़ती थी। इस प्रकारके दो वर्ग थे, एक तो व्यापारी, दूसरे सामान्य कृषक। कृषकोंकी ओरसे भारतमें प्राचीन कालसे कब कब कैसे आन्दोलन हुए इसका ठीक पता नहीं, आधुनिक युगमें, पिछले सौ डेढ़ सौ सालमें, तो कई बार अशान्तिने छोटे-मोटे विद्रोहका रूप पकड़ लिया है। भारतमें प्राचीन कालसे अंग्रेज़ी राजकी स्थापना तक वणिक् वर्ग यह प्रयत्न करता रहा है कि छोटे-छोटे राजोंके स्थानमें एक विशाल राज बना रहे। यूरोपमें कई अवसरोंपर व्यापारियोंने लड़कर अपने लिए विशेष अधिकार प्राप्त किये थे।

ऐसी दैवी संतोषकी अवस्था हज़ारों वर्षतक चली गयी। अर्थोपार्जनके साधनोंमें कोई ज़बर्दस्त परिवर्तन नहीं हुआ और संघर्षने भी कोई उत्कट रूप धारण नहीं किया, पर जब भारत तथा एशियाके अन्य देशोंसे यूरोपवालोंका सम्बंध स्थापित हुआ तो रुपया व्यापारियोंके हाथमें बढ़ने लगा। धीरे-धीरे अर्थोपार्जनका यह साधन प्रबल हुआ और इस साधनके स्वामी अर्थात् नगरोंके रहनेवाले व्यवसायी प्रबल होने लगे। उन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने लिए भाँति-भाँतिकी रियायतें चाहनी शुरू की और उन वन्धनोंको हटवानेकी कोशिश की, जो राजनीतिक तथा अन्य प्रकारोंसे उनके व्यापारिक विकासको बाँध रहे थे। उनके असंतोषने अनेक रूप धारण किये, कहीं मज़हबी, कहीं अर्द्धराजनीतिक, कहीं शुद्ध राजनीतिक। पुराने अधिकारी-वर्गवालोंको उनका यह काम पसंद न था, इसलिए उन लोगोंने विरोध किया। फलतः यह वर्ग-संघर्ष खुला युद्ध हो गया और अधिकारका फैसला तलवारके हाथों गया। उभय पक्षने शस्त्र ग्रहण किया। व्यवसायी पक्ष भी वलवान् था और अब कोरे मूक असंतोषसे परितुष्ट न होकर अपने आर्थिक हितोंके लिए लड़नेको तैयार था। इसीके फलस्वरूप इंग्लैण्डमें वह क्रान्ति हुई जिसमें पुराने सामंत वर्गकी ओरसे प्रथम चार्ल्सने अपने सिरकी आहुति दी और द्वितीय जेम्सको स्वदेशसे पलायन करना पड़ा। यद्यपि विलियम और मेरीके अभिषेकसे राजतंत्र नामको फिर स्थापित हो गया, पर यह राजतंत्र दूसरे ही आधारोंपर था। शक्तिका केन्द्र नरेश और उनके सरदारों तथा बड़े-बड़े जागीरदारों और भूम्यधिपतियोंके हाथसे निकलकर नामतः साधारण जनता, वस्तुतः नगर-निवासी व्यवसायी वर्गके हाथमें आ गया। अब ज्यों-ज्यों मशीनोंका आविष्कार हुआ, व्यवसायियोंका वल बढ़ता गया और सरदारोंका बल घटता ही गया। फ्रांसमें सरदारोंने अपने हाथमें शक्ति अधिक कालतक रखी क्योंकि वहाँ व्यवसायकी वृद्धि भी देरमें हुई। फलतः संग्राम भी बड़ा भीषण हुआ। फ्रांसीसी क्रान्ति ब्रिटिश क्रान्तिसे कहीं बढ़कर भयंकर थी। राजवंश तो खत्म किया ही गया, पुराने सामंत यथासंभव या तो निर्बीज कर दिये गये या फ्रांससे चिर-निर्वासित हो गये। हज़ारों बेकसूर केवल संदेहपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तलवारके घाट उतारे गये। इंग्लैण्डमें तो सामंतशाहीके भग्नावशेष यत्रतत्र रह भी गये पर फ्रांसमें तो उसका नाम व निशान भी मिटा दिया गया। झंडेपर लिखा था—स्वतंत्रता, समता और भ्रातृता*, पर युद्ध था सामंतशाही और नये उठते हुए नागरिक वर्गमें। जीत नागरिक वर्गकी हुई। फ्रांसकी क्रान्तिने तो रूसको छोड़कर प्रायः समस्त यूरोपके लिए सारे प्रश्नको हल कर दिया, सामंतशाही ख़त्म हो गयी!

खेद है कि भारतका इतिहास इस दृष्टिसे नहीं लिखा गया है, फिर भी कई इतिहास-वेत्ताओंका कहना है कि यहाँ भी व्यवसायी-वर्ग और सामंत-वर्गका संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा था और व्यवसायी-वर्ग धीरे-धीरे हावी हो रहा था। मुग़ल और महाराष्ट्र दरबारोंमें उसकी काफ़ी पहुँच थी। उसकी ही शिकायतोंने कि व्यापारमें बाधा पड़ती है, कई छोटे राज्योंका अस्तित्व मिटा दिया और प्रबल साम्राज्योंके बननेमें सहायता दी। ऐसा कहा जाता है कि यदि यहाँ अंग्रेज़ी राज्य स्थापित न हो गया होता तो यूरोपसे मिलता-जुलता किसी न किसी प्रकारका शहरी व्यापारियोंका शासन स्थापित हो गया होता। देशकी राजनीतिमें व्यापारी क्या स्थान रखते थे, इसकी एक झलक क्लाइव और सिराजुद्दौलाकी घृणित कहानीमें सेठ अमीचन्दकी मूर्तिसे मिल जाती है।

अस्तु, सामंत-युग तो समाप्त हो गया और उसकी जगह वह युग आगया जिसमें सारा अधिकार बड़े-बड़े व्यवसायियोंके हाथमें चला गया। इस वर्गमें बड़े व्यवसायी अर्थात् महाजन, बैंकर, मिल-मालिक तो हैं ही, कुछ इनसे मिलते-जुलते लोग भी

---

* Liberté; egalité. et fraternité.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं जैसे कुछ बहुत बड़े वकील। वस्तुतः देशोंकी राजनीति और अर्थनीति आज इन्हींके हाथोंमें है। सारे क़ानून इसी दृष्टिसे बनाये गये हैं कि इनके आर्थिक हितोंकी रक्षा होती रहे। इनको हिन्दीमें मध्यम वर्ग या उच्च मध्यमवर्ग * कह सकते हैं। 'उच्च' विशेषण जोड़नेका एक ख़ास कारण है। इस वर्गके साथ बहुतसे ऐसे लोग हैं जिनकी जीविका इस वर्गपर ही निर्भर है। यह स्वयं सामंत सरदार नहीं हैं, साथ ही अपनेको मज़दूर कहना नहीं चाहते, यद्यपि इनकी हैसियत दरअसल मज़दूरोंकी सी ही है। इन लोगोंकी भर्त्ती दो ओरसे होती है। कुछ तो उच्च मध्यम वर्गके लोग नीचे गिरते हैं, कुछ देहातोंसे तथा मज़दूरोंमेंसे लोग पढ़ लिखकर उनमें मिल जाते हैं। इस वर्गमें साधारण वकील, डाक्टर, अध्यापक, सरकारी और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरोंके बाबू शामिल हैं। इसको स्वर्गीय श्यामलालनेहरूने फटियलबाबू वर्ग कहा था। यह सफेदपोश लोग निम्न मध्यम वर्ग † के हैं। कोई पूछता नहीं, आमदनी और हैसियतकी दृष्टिसे मज़दूर हैं, आर्थिक स्थिति भी मजदूरों जैसी है पर अपनेको मज़दूर कहनेमें शरमाते हैं और उच्च मध्यमवर्ग वालोंके बीचमें कभी-कभी बैठने उठनेका मौका पा जानेसे अपनेको बड़ा आदमी समझते हैं। यह लोग मध्यमवर्गके दरबारी हैं और सभी देशोंमें पाये जाते हैं। इनमेंसे कभी-कभी कोई ऊपर पहुँच भी जाता है, इसलिए इनकी यह भ्रांति बनी भी रहती है।

फ़्रांसीसी क्रान्तिसे लेकर रूसी क्रान्तितक लगभग सवासौ वर्ष बीते। इस बीचमें रूसको छोड़कर अन्यत्र सामंत सरदारोंने प्रायः बिना शस्त्रपातके ही हथियार डाल दिये। हाँ, भारतमें

---

* The bourgeoisie. † The Lower Middle Class.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए ब्रिटिश सरकारने राजों-महाराजों और जमींदार-तालुकेदारोंको पाल रखा है। इस शताब्दिसे कुछ ऊपरकी अवधिमें मध्यमवर्गने एक नूतन संस्कृति और सभ्यताको स्थापित किया जिसका मनुष्यके इतिहासमें बड़ा ऊँचा स्थान है। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, ऐसे नगर जिनमें एक एक देशकी जनता समा जाय, प्रकृतिकी दुर्गम शक्तियोंपर प्रचंड विजय, बड़े बड़े जंगलोंको टालकर वहाँ नगर-स्थापन—यह बातें शायद ही पहले किसी युगमें देखी सुनी गयी होंगी। आज मनुष्य समुद्रकी लहरोंके नीचे टहलता है और आकाशमें उड़ता है। परमाणुके भीतर प्रवेश करता है और महासूर्य-समूह नीहारिकाओंको घर बैठे तौलता है। ईश्वरकी सत्ता, उसका अस्तित्व मनुष्यकी विवेचक बुद्धिके सामने कातर भाव-से काँप रहा है। यह सभ्यता सार्वदेशिक है। ऐसा कोई महाद्वीप नहीं बचा जिसमें इसका प्रभाव न देख पड़ता हो। जो असभ्य है उसको सभ्य बनाना आजकलके सभ्योंका एक पुनीत कर्तव्य हो गया है। इसमें उस असभ्यकी इच्छा-अनिच्छाका कोई लिहाज़ नहीं किया जाता।

यह सही है कि सभ्य और प्रगतिशील राष्ट्रोंमें प्रतिस्पर्द्धा बहुत देख पड़ती है। माना, परन्तु आजकल सभ्यताके जो लक्षण और मापदण्ड बन गये हैं उनमें प्रतिस्पर्द्धा भी है। यह ठीक है कि प्रतिस्पर्द्धासे कुछ अशान्ति उत्पन्न होती है पर थोड़ीसी अशान्ति भी उपादेय ही है क्योंकि अशान्ति-ही असन्तोषकी कुञ्जी है। बड़े बड़े आविष्कार तथा राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक प्रयोग जिनकी बदौलत आजकल हज़ारों नागरिक जी रहे हैं, जिनके बलपर आजकलकी सभ्यता क़ायम है, आजकलकी विशेषताओंमें हैं। प्राचीन कालमें लोक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्त्रात्मक शासन कहीं-कहीं छोटे राजोंमें देख पड़ता था, आजकल उन लोगोंको भी जो स्वतन्त्र नहीं हैं मताधिकार दिया जाता है और इंग्लैण्ड जैसे देश भी जहाँ नरेश हैं अपने लोक-तन्त्रात्मक शासनपर गर्व करते हैं।

देश और कालके बन्धन टूटसे गये हैं। वरसोंका काम मिनटोंमें होता है। हज़ारों कोसकी दूरी दस पाँच कोस-सी जँचती है। भोग और विलासकी जो सामग्री पहिले सम्राटोंको भी अलभ्य थी वह अब खुले बाज़ारोंमें बिकती है। कला और साहित्यकी भी विशेष उन्नति हुई है और प्राचीन कालोंकी सौन्दर्य्य-निधि बहुत प्रयत्नसे सुरक्षित रखी गयी है।

मनुष्य मनुष्यके बहुत सन्निकट आगया है। वेष-भूषा तो एक-सी हो ही चली है, एक दूसरेकी भाषाओंका ज्ञान भी बढ़ गया है। कला और साहित्य भी सार्वभौम हो गये हैं, सांस्कृतिक आदर्श भी सार्वदेशिक हैं। सरकारी सङ्गठन तो बहुदेशीय हैं ही, कई प्रकारके असरकारी सङ्गठनोंका जाल-सा बिछा हुआ है। ईसाई सम्प्रदाय, थियोसाफी, मुसलिम सम्प्रदाय और इनसे बढ़कर मज़दूर सङ्घ, समाजवादी भ्रातृमण्डल और अब फासिस्ट भ्रातृ-मण्डल जगद्व्यापी हैं। एक देशकी राजनीतिक घटना बातकी बातमें अन्ताराष्ट्रिय हलचल मचा देती है। एक देशपर पड़ी दैवी विपत्ति सभी देशोंमें समवेदनाकी लहर प्रकम्पित कर देती है।

इस सभ्यता और संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसका आधार, इसका एकमात्र मूल-मन्त्र, धन, रुपया है। यों तो रुपयेकी थोड़ी बहुत पूजा सदैव होती रही है पर यह तो रुपयेका युग है। व्यवसायी-वर्गका आधिपत्य है, अतः रुपया ही पुज रहा है। यह सारी सभ्यता, सारी संस्कृति, रुपयेपर टिकी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी समयमें तपकी, कभी विद्याकी, कभी बाहुबलकी भले ही प्रतिष्ठा रही हो पर आज तो एक मात्र प्रतिष्ठा पैसेकी है। जो सबसे अधिक सम्पन्न है वही सबसे अधिक प्रतिष्ठित है। धनिकवर्ग स्वयं शासन करे या न करे पर वह राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलोंको मोल लेकर अपनी इच्छाके अनुसार शासन करता है। बड़े-बड़े सम्प्रदायोंके आचार्य जिनकी व्यवस्थाओं-पर लोगोंका आमुष्मिक जीवन निर्भर रहता है, लक्ष्मी-पुत्रोंके मुँह ताकते रहते हैं। धनिकोंकी ही कृपासे विश्वविद्यालयोंमें पद मिलते हैं। अप्टन सिंक्लेअरने 'मनी राइट्स' में दिखलाया है कि किस प्रकार बड़े-बड़े कवि, विद्वान् , लेखक रुपयेके ज़ोरपर ख़रीदे जा सकते हैं। उन्होंने अपने देशके उदाहरण दिये हैं क्योंकि उनको उन्हींका पता था पर वही गति सर्वत्र है। पत्र-कार लोकमतके स्वतंत्र और निर्भीक द्योतक और पथ-प्रदर्शक समझे जाते हैं पर यह कौन नहीं जानता कि अधिकांश पत्रकार धनिकोंके नौकर हैं और जो पत्र सचमुच स्वतंत्र-जीवन बिताना चाहते हैं उनका जीना दूभर हो जाता है।

धनिकोंके लिए विश्वविद्यालयों और विद्वत् परिषदोंसे उपाधि प्राप्त कर लेना बच्चोंका खेल है। यों तो कहनेको क़ानून-की दृष्टिमें सब ही बराबर हैं पर अदालती प्रक्रिया ऐसी है कि रुपयेवालेके सामने निर्धनका ठहरना असम्भव-सा ही है। रुपयेका महत्त्व इतना बड़ा है कि वही सब प्रकारकी योग्य-ताओंका मानदण्ड है। सभ्यजगत्के प्राचीनतम व्यवस्थापक मनु जङ्गलमें किसी कुशासनपर बैठे शिष्योंको क़ानूनकी निःशुल्क शिक्षा दिया करते थे पर आजका वकील या व्यव-स्थापक अपने एक-एक शब्दके लिए पैसे चाहता है। जो अध्या-पक जितना बड़ा वेतन पाता है वह उतना ही बड़ा विद्वान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गिना जाता है। यह बात पहले कभी सत्य रही हो या न रही हो पर इस कालके लिए तो अक्षरशः सत्य है कि

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते

इस सभ्यताका एक रूप, एक पहलू और भी है। बिना उसके समझे इसका स्वरूप पूरा-पूरा समझमें नहीं आ सकता। जब यह निश्चित है कि इसका आधार रुपया है, तो यह भी निश्चित है कि जिसके पास रुपया नहीं है वह इसके घेरेके बाहर है। पहले भी धनी और निर्धनका भेद था पर वह भेद आज-जैसा तीव्र न था। न ऐसे धनी थे न ऐसे निर्धन। साधारणतः निर्धनोंकी भी आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करती थीं पर आज वह बात नहीं है। उत्पादन और वितरणके साधनोंमें अभूतपूर्व उन्नति हुई है पर भूखों और नङ्गोंकी संख्यामें उससे कहीं बड़े अनुपातमें वृद्धि हुई है। ऐसे लोगोंकी गणना करना कठिन है जो प्राण पाल रहे हैं परन्तु न भरपेट अन्न पाते हैं न पर्याप्त वस्त्र। उनके सोनेके लिए सड़कोंकी खुली पटरियाँ हैं, जहाँसे पुलिसका कान्स्टेबुल उन्हें कभी भी हटा सकता है। मैं यह किताबी बात नहीं कह रहा हूँ, आँखों देखी कथा लिख रहा हूँ। किसी पुराने कविकी उक्ति प्रसिद्ध है —

टूटी-टाटी खाट बिन, अरु भाजी बिन लौन।
अपने बाल गुपाल बिच, इन्द्र बापुरो कौन॥

पर इन बेचारोंके पास न टूटी-टाटी खाट है, न भाजी है। और बाल गोपाल? बाल गोपाल हों तो रहें कहाँ, खायँ क्या? जिनके हैं उनके लिए जानकी आफ़त है। दूध नहीं है, माँका रक्त चूसते हैं, बिललाते हैं, जबतक जीते हैं अपने बाप-माँके दिमाग़को जीता जागता पागलखाना बनाये रखते हैं, आखिर दम तोड़कर उन्नत समाजको आशीर्वाद देते इस पुण्यलोकसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चले जाते हैं। सचमुच यह सुख इन्द्रको कहाँ प्राप्त हो सकता है!

दूसरी ओर वह भाग्यवान् हैं जिनको नगरोंमें किरायेके कार्टरोंमें रहना पड़ता है। अपनी इच्छासे इतने सूअर भी ऐसे निवासस्थानोंको पसन्द नहीं कर सकते।

बेकारी भी ऐसी कभी देखने सुननेमें नहीं आयी। करोड़ों मनुष्य बेकार हैं। कुछको पाश्चात्य सरकारें थोड़ी बहुत भृति देकर पालपोस रही हैं, शेष, जैसे भारतके बेकार, एड़ियाँ रगड़ रगड़कर मृत्युका आह्वान कर रहे हैं। कहीं किसी पुरुषके रेलकी पटरीपर लेट रहने या किसी स्त्रीके अपने बच्चों समेत कुएँमें कूद पड़नेका समाचार पढ़कर लोग चौंक पड़ते हैं पर यह बातें तो होती ही रहती हैं। लोग सैकड़ोंकी संख्यामें मर रहे हैं पर कोई दीर्घ यातना न सहकर मरनेका कोई तात्कालिक ढङ्ग ढूँढ़ निकालता है, इसलिए क्षणभरके लिए उसकी ओर भले आदमियोंकी दृष्टि उठ जाती है। एक बार 'शिव, शिव' करके वह फिर शान्तिसे अपनी बहीके आँकड़े जोड़नेमें लग जाते हैं। केवल वही बेकार नहीं हैं जिनके पास कोई काम नहीं है, वह भी बेकारोंमें ही हैं जिनके पास नाममात्रके लिए कोई काम है। आज सरकारी हिसाबसे भारतके अधिकांश भागोंमें प्रति व्यक्ति २॥ बीघा भूमिसे अधिक नहीं है। इतनी भूमिसे एक आदमीका पेट नहीं भरता, न वह उसके लिए पर्य्याप्त श्रम है। फिर भी छोटी छोटी टुकड़ियोंपर पिता और कई लड़के या कई भाई चिपटे हुए हैं क्योंकि उनके पास कोई दूसरा काम नहीं है। यह लोग भी वस्तुतः बेकार हैं। यह एक उदाहरणमात्र है। ऐसे और अनेक उदाहरण हैं और सभी देशोंमें पाये जाते हैं। यदि बेकारको चार पैसे भृतिके रूपमें दे भी दिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गये तो इतना ही होगा कि वह जीवित रहेगा और अपने जैसे बेकार पैदा कर सकेगा पर उसमें वह स्वावलम्बन, धैर्य्य, साहस, पौरुषका भाव कहाँ जो अपने परिश्रमसे जीनेवाले मज़दूरमें होता है। भृतिभोगी बेकार तो भिक्षापर जीता है। समाज समझे या न समझे पर ऐसे परजीवियोंका उसके जीवनपर अन्ततोगत्वा वही प्रभाव पड़ता है जो कुत्तेके शरीरपर किलनी-का। यह परजीवी जीव अपने पोषकका सार खींच लेते हैं। स्वयं तो अकर्म्मण्य होते ही हैं, पोषकके प्राण लेकर ही छोड़ते हैं। बेकारोंकी वृद्धि क्यों हो रही है यह तो अगले अध्यायमें दिखलाया जायगा पर यह स्पष्ट है कि इनकी संख्यावृद्धि—और इनकी संख्यामें इनके बालबच्चोंको भी गिनना होगा—भया-वह हो रही है।

क़ानून भी इन बेचारोंकी रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि वह धनिकोंके हितमें बना है। यह स्वतन्त्र कहलाते हैं, इनमेंसे बहुतोंको मताधिकार भी प्राप्त है पर व्यवहारदृष्ट्या उसका उतना ही प्रभाव है जितना पाँच सिंहोंके सामने पाँच सौ भेड़ों-को खड़ा करके उनको मताधिकार देनेका।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं सब योग्यताओंका मान-दण्ड रुपया है। बड़े बड़े विद्वानोंको अपनी विद्वत्ताके विज्ञापनके लिए धनिकोंका आश्रय लेना पड़ता है। किसी धनिकका अल्पज्ञ कृपापात्र ऊँचे पदपर विभूषित हो सकता है और बड़ेसे बड़ा विद्वान् धनिकाश्रयके अभावमें दर दरकी धूल फाँकता फिरता है। धनिकका मूर्ख लड़का कालिजमें पढ़ता है और निर्धनका प्रतिभाशील लड़का प्रारम्भिक कक्षाओंके ऊपर नहीं चढ़ पाता। बड़े-बड़े जगद्धितकारी काम इसलिए रुके पड़े हैं कि किसी धनिककी उधर दृष्टि नहीं पड़ती। बड़े-बड़े योग्य व्यक्ति जो न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल आन्दोलनोंके परिचालक वरन् पटु राजपुरुष हो सकते हैं केवल धनाभावसे पीछे पड़े रहते हैं। यह अभाव इसलिए और खलता है कि यह शारीरिक शक्ति या प्रतिभाके अभावकी भाँति नैसर्गिक नहीं है।

जो बात धनवान्के लिए भूषण है वह दरिद्रके लिए दूषण है। पण्डे, पुरोहित, पुजारी भी उसे नहीं पूछते। धर्म्मग्रंथोंमें निर्धनोंके लिए निर्वाह कर तो दिया गया है पर धर्म्मोपजीवी समुदाय दरिद्रको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दरिद्रके ऊपर जो सरकारी और ग़ैर-सरकारी अत्याचार होते हैं, उनके विरुद्ध आवाज़ उठाना किसीका काम नहीं है। उससे बन पड़े तो सन्तोष करके चुपचाप बैठ रहे, नहीं तो अपने मनस्तापको आँसुओंके रूपमें बहा दे। इससे भी आगे बढ़ना चाहता हो तो आकाशकी ओर आँखें उठाकर दीनानाथ, दीनबन्धु, करुणा-सागर, समदर्शी, निर्बलके बल, निर्धनके धन, भगवान्को पुकारे। इससे और तो क्या होना है, अपनेको धोखा देनेमें सहायता मिल जाती है। ठीक भी है, आखिर मज़हब दरिद्रकी ओरसे क्यों माथापच्ची करे? यदि उसके कर्म्म अच्छे होते या ईश्वरकी उसपर कृपा होती तो वह दरिद्र होता ही क्यों? चुपचाप सह लेना ही तो उसका सबसे उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है।

शोर मचाकर यह दरिद्र नाहक समाजको क्षुब्ध करते पर समाजने भी इसका प्रबन्ध कर रखा है। यदि इनका उठाया कोई आन्दोलन ज़ोर पकड़ता है तो सरकार इनको ठीक कर सकती है। निर्धन चाहे बेकार हों, चाहे कृषक, चाहे मज़दूर, यदि वह अपनी अवस्थाको उन्नत करनेके लिए कोई सक्रिय आन्दो-लन करेंगे तो अवश्य थोड़े ही दिनोंके भीतर उनको राजशक्तिसे टक्कर लेनी होगी, क्योंकि राजशक्ति धनिक-वर्गके हाथोंमें है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी संस्कृत कविकी यह उक्ति सर्वथा सच है—

दारिद्र्यमेकं गुणराशिनाशि

दारिद्र्य मनुष्यके सभी गुणोंका नाशक है। उसके भौतिक दोष—शरीरको दुर्बल, रोगी या अल्पायु बनाना—तो बुरे हैं ही, मानस गुण और भी बुरे हैं। वह मनुष्यके धैर्य्य, साहस, स्वावलम्बन, पुंस्त्वको हर लेता है और उसे कायर बना देता है। पदे पदे ठोकर खाते-खाते अपनेपरसे ही विश्वास उठ जाता है। कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो मनुष्यमें स्वभावतः पायी जाती हैं और उसके चरित्रकी उन्नायक होती हैं। इनमेंसे एक प्रवृत्ति 'रचना' है। मनुष्य कुछ न कुछ रचना, बनाना, चाहता है, चाहे वह एक काव्यकी रचना करे, चाहे दो पौधोंकी क्यारीकी, चाहे एक मकानकी, एक खिलौनेकी, एक चित्रकी। उसकी बुद्धि, उसकी अन्तरात्मा, उस रचनामें मूर्त्त हो जाती है, इसीलिए अपनी रचनासे बड़ा प्रेम, उसपर बड़ा गर्व होता है। इस प्रवृत्तिसे काम लेनेका अवसर न पानेसे मनुष्य अपनेको संकुचित, छोटा, अनुभव करता है। बेचारे दरिद्रकी अन्तरात्मा नित्य ही संकुचित रहती है, उसको कभी विकसित होनेका अवसर नहीं मिलता। वह पूरा आदमी हो ही नहीं पाता। उसका चरित्र दुर्बल और अविश्वसनीय रहता है। इसको संसारके धनी भी देखते हैं पर वह उसकी परिस्थिति बदलनेका प्रयत्न नहीं करते। उलटे यह कहते हैं कि 'देखो, यह कैसे दुर्बल चरित्रवाले लोग हैं।' उनकी यह घृणामिश्रित हँसी दरिद्रको और धनिकको तथा इसके साथ ही उस समाजको जो इस प्रकारके दो वर्गोंको क़ायम रखता है और भी पतित बनाती है। यह हँसी एक दिन भीषण विषादमें परिणत होनेवाली है। जो लोग कोढ़ियोंके बीचमें फूलोंकी सेजपर सोना चाहते हैं वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज खो लें पर उन्हें कल स्वयं कोढ़ी बननेके लिए तैयार रहना होगा। यह प्रकृतिका अकाट्य नियम है।

इस अध्यायका उद्देश्य दारिद्र्यका वर्णन करना या इस धनाधार युगका निरूपण करना नहीं है, पर जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि अपने अधिकारकालमें मध्यम वर्गने रुपयेको एकमात्र उपास्य बना लिया है। इस कालके स्वरूपका, जिसको पूँजीवादी काल भी कहते हैं, विवेचन अभी अगले अध्यायमें होगा पर इतना तो स्पष्ट ही है कि जो धन और सम्पत्ति आजकी सभ्यता तथा संस्कृतिका मूल है वह व्यवसायसे अर्थात् पूँजीसे उत्पन्न हुई है और पूँजी, जैसा कि हम पिछले अध्यायमें दिखला चुके हैं, दूसरोंके शोषणसे, अर्थात् दूसरोंके अतिरिक्त अर्घसे अनुचित लाभ उठानेसे, ही उत्पन्न हो सकती है। आजकल धन-सम्पत्ति-का आधिक्य है इसलिए शोषणका भी आधिक्य है। चूँकि सारी शक्ति और प्रतिष्ठाका साधन रुपया है इसलिए सब ही उसका संग्रह करनेका प्रयत्न करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस घुड़दौड़में जो जितना आगे बढ़ पाता है, वह दूसरोंके शोषणमें उतना ही अधिक सफल हो सकता है। यह भी स्पष्ट ही है कि किसी समयविशेषमें शोषकोंकी अपेक्षा शोषितोंकी संख्या अधिक होगी। यह भी तय है कि जिन लोगोंके पास किसी भी प्रकारसे कुछ धन हो जाता है उनको इतनी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं कि निर्धनोंके लिए फिर उनका मुक़ाबिला करना बहुत कठिन हो जाता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि सम्पत्तिपर पैतृक अधिकार चलता है अर्थात् धनवान् अपने लड़केको अपना रुपया, यानी दूसरोंपर अधिकार प्राप्त करनेका साधन, छोड़ जाता है और दरिद्र अपने लड़केको अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दरिद्रता छोड़ जाता है। दूसरे शब्दोंमें सम्पन्नका नालायक लड़का भी विना परिश्रमके जन्मतः शोषक बन जाता है, दरिद्र-का लायक लड़का भी हज़ार परिश्रम करने पर भी मृत्यु पर्यन्त शोषित ही बना रहता है। इसका परिणाम यह हो गया है कि आजकलका सभ्य जगत् दो दलोंमें विभक्त हो गया है। पहला दल है शोषकोंका, दूसरा है शोषितोंका; पहला दल है सम्पन्नों-का, दूसरा दरिद्रोंका; पहला दल है धनवानोंका, एक प्रचलित अंग्रेजी नामावलीके अनुसार, (धन) रखनेवालोंका*; दूसरा दल है धनहीनों या, उसी नामावलीके अनुसार, (धन) न रखनेवालोंका†।

यह सङ्घर्ष नया नहीं है। जैसा कि हम इस अध्यायके आर-म्भमें दिखला आये हैं, वर्ग-सङ्घर्ष तो सभ्यताका सहोदरप्राय है पर आजकलका वर्ग-सङ्घर्ष पहलेसे बहुत कटु है। एक तो इसका क्षेत्र बढ़ गया है और इसके स्वरूपमें पहिलेसे कहीं अधिक समता आ गयी है। सभी सभ्य देशोंमें विभिन्न प्रगतियोंसे परन्तु एक ही प्रकारसे औद्योगिक प्रक्रियाएँ चल रही हैं, एक ही प्रकारके बङ्क और कल-कारख़ाने हैं, सञ्चालनके उपाय, सिद्धांत और उद्देश्य भी एक ही हैं। आपसकी प्रतियोगिताने शोषणकी प्रवृत्तिको और भी तीव्र बना दिया है। समाचारपत्र अपने हाथमें हैं, बड़े बड़े विद्वान्, कवि, लेखक, पत्रकार और वक्ता खरीदे जा सकते हैं, राजपुरुषों और राजनीतिक दलोंकी नकेल सदैव अपने हाथमें रहती है इसलिए राजशक्ति बराबर अपनी ओर है; यह भी अच्छी तरह विदित है कि जो इस नीतिके शिकार होते हैं वह भी मनुष्य हैं और उनमें घोर

---

* Haves. † Have-nots.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशान्ति है। इन सब बातोंका परिणाम यह है कि आज शोषक वर्ग बहुत ही सतर्क और संघटित है। आपसमें प्रतियोगिता ज़रूर है जिसकी वजहसे कभी कभी युद्धतककी नौबत आ जाती है पर समाचारपत्रोंके पन्ने उलटिये या जेनीवाकी अन्ताराष्ट्रिय परिषद्की कार्रवाई पढ़िये तो यह विदित हो जायगा कि शोषितोंके सामने यूरोप और अमेरिका, जापान और भारत सभी देशोंके लक्ष्मीपतियोंका सुसंघटित दल खड़ा है। दूसरी ओर इनके शिकार अर्थात् बहुसंख्यक शोषित हैं। उनमें कृषक, शरीर और दिमाग़से काम करनेवाले मज़दूर और बेकार हैं। इनकी अवस्था सारे सभ्य जगत्में प्रायः एक-सी ही है। अभी इनमें उतना सङ्गठन नहीं है पर इतना तो यह भी खूब समझ गये हैं कि इनके हित एक हैं और इनमें भी अन्ताराष्ट्रियताका भाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। कार्ल मार्क्सका प्रसिद्ध उपदेश संसारभरके दलितों और शोषितोंका मूलमन्त्र हो गया है—'संसारभरके मज़दूर एक हो जाओ; तुमको अपनी दासताकी बेड़ियाँ ही खोनी हैं और विश्वपर विजय प्राप्त करनी है।'* ठीक भी है, इन शोषितोंके पास है ही क्या? इस सङ्घर्षमें इनके प्राण चले भी गये तो क्या? वह तो यों ही सिसक-सिसक कर निकल रहे हैं। इनकी एकमात्र सम्पत्ति ग़ुलामी है, वही जा सकती है और यदि वह चली गयी तो उसके स्थानमें जगत्का शासन इनका होगा। अभी इन शोषितोंका सङ्गठन स्वभावतः दुर्बल है, क्योंकि इनके पास सम्पन्नों जैसे साधन नहीं हैं। परन्तु आज सभ्य जगत् इस विकट विश्वव्यापी वर्गसङ्घर्षके कारण दो सशस्त्र सेनाओंमें बँट रहा है।

* Workers of the world unite; you have a world to gain and only your chains to lose.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जो इन सेनाओंके बाहर हैं। एक दल शोषण कर रहा है, दूसरा शोषित हो रहा है और दोनोंके हित निरन्तर टकरा रहे हैं। यह ठीक है कि निम्न-कोटिके कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो एक प्रकारसे दोनों वर्गोंमें हैं। यह हो सकता है कि किसी मिल या दफ़्तरमें १५), २०) मासिकपर काम करनेवाला कोई व्यक्ति, जो वस्तुतः शोषित-वर्गका है, किसी कम्पनीका १०) का एक हिस्सा ख़रीद ले। इस नाते वह शोषक-वर्गमें हो जायगा। पर यह बहुत छोटे और नगण्य अपवाद हैं। यह बात भी नहीं है कि तोप-बन्दूक़की अल्पकालिक लड़ाईकी भाँति हमको इसका पता चलता रहे। यह तो जीवनका अंग है। सब पूँजीवाले दुष्ट नहीं होते और न वह हठात् मज़दूरोंको क्षति पहुँचाना चाहते हैं परन्तु परिस्थिति उनसे प्रति क्षण ऐसा ही कराती है। इसी प्रकार सब मज़दूर भी प्रत्येक धनिकके जन्मना शत्रु नहीं होते परन्तु परिस्थिति उन्हें इस वर्गका विरोधी बनाकर छोड़ती है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य प्रति क्षण रोगके कीटाणुओंसे लड़ता रहता है पर साधारणतः इसका पता नहीं चलता। कभी कभी जब लड़ाई तीव्र हो जाती है तब वह अपनेको ज्वर या फोड़ा या किसी ऐसे ही रूपमें प्रकट करती है और सभी उसे जान जाते हैं। इसी प्रकार यह वर्गसंघर्ष निरन्तर जारी है पर जब कभी यह हड़ताल या मिलबन्दी या दङ्गा या अन्य प्रक्षोभके रूपमें व्यक्त होता है, तब इसका प्रचण्डरूप सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पर जब जब और जहाँ जहाँ लगानकी वृद्धि हो रही है और मुनाफ़ा वसूल करनेका प्रयत्न हो रहा है, बच्चे शिक्षासे वञ्चित हो रहे हैं तथा अन्न और औषधके अभावमें तड़प तड़पकर मर रहे हैं, स्त्रियोंको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिए अपना शरीर बेचना पड़ रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, स्वस्थ मनुष्य बेकार घूम रहे हैं, तब तब और वहाँ वहाँ निर्विराम और निर्दय भयङ्कर वर्गसंघर्ष हो रहा है। यह संघर्ष मीठे शब्दोंमें बयान किया जा सकता है, कुछ कालतक शब्द-जालके पीछे छिपाया जा सकता है पर मीठे शब्दोंसे उसके अस्तित्वको मिटाया नहीं जा सकता।

यह वर्ग-सङ्घर्ष जो सहस्राब्दियोंसे चला आ रहा है, अब मानवसमाजके लिए घातक हो रहा है। इसका बढ़ा हुआ क्षेत्र, उभय पक्षकी सतर्कता, दोनों ओरका संघटन, दोनों ओरकी जागरित वर्ग-चेतना* (अर्थात् यह ज्ञान कि हम अमुक वर्गके हैं, हमारे वर्गके यह हित हैं और हमारा विरोधी अमुक वर्ग है, जिससे लड़कर हमें अपना अस्तित्व बनाये रखना है), सङ्घर्षके साधन--यह सब बातें इसको इतना भयावह बना रही हैं कि यदि शीघ्र इसका अन्त न हुआ तो सभ्यताका ही अन्त हो जायगा। समाजवादके जन्मके सहस्रों वर्ष पूर्व इसका जन्म हुआ और इसके अस्तित्वके लिए समाजवादी जवाबदेह नहीं हैं। वह इसे बढ़ाना नहीं चाहते, इसका अन्त करना चाहते हैं। वह इस बातको समझते हैं कि जबतक पृथ्वीकी अर्थनीति पुराने ढङ्गकी रहेगी, तबतक वर्गोंका अस्तित्व बना रहेगा और वर्ग-सङ्घर्ष होता रहेगा। जब उत्पादनके साधनोंपर कुछ थोड़ेसे लोगोंका अधिकार होगा, तो और लोग इस अधिकारसे अगत्या वञ्चित रहेंगे। जिसके हाथमें आर्थिक अधिकार होगा, वही समुदाय समाजका शीर्ष-स्थानीय होगा। जो वञ्चित किया जायगा, वह ऊपर उठना चाहेगा। कुछ काल पाकर उत्पादनके साधनोंमें परिवर्त्तन होगा और दूसरे लोगोंके हाथमें धन-बल आयेगा। जब वह उठना चाहेंगे, पुराना अधिकारयुक्त समुदाय इसका विरोध करेगा।

* Class consciousness.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार वर्ग और वर्ग-सङ्घर्षकी अटूट लड़ी क़ायम रहेगी। इतना ही नहीं अब यह सङ्घर्ष और भयावह होगा।

समाजवादी यह सब देखता है। वह जानता है कि आज जो अशान्ति देख पड़ती है, उसकी तहमें इस वर्ग-सङ्घर्षका बहुत बड़ा हाथ है। पर वह यह भी जानता है कि हाथपर हाथ रख कर बैठनेसे काम न चलेगा। वह समझता है कि वर्गोंके रहते केवल दया और उदारताका उपदेश देनेसे सङ्घर्ष बन्द नहीं हो सकता। इसलिए वह यह कहता है कि यदि वर्ग-सङ्घर्ष मिटाना है तो वर्गोंको ही मिटा दो। इसके लिए किसी वर्गके लोगोंको मार डालनेकी आवश्यकता नहीं है। चाहिये यह कि उत्पादनकी सारी सामग्री समाजकी सम्पत्ति हो जाय। ऐसा होने पर कोई व्यक्ति पूँजी पैदा कर ही न सकेगा। यदि ऐसा हो गया तो कोई व्यक्ति किसीका शोषण करेगा ही नहीं। न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित। जब विरोधी वर्ग ही न होंगे, तो सङ्घर्ष किसमें होगा? सब लोग एक वर्ग—श्रमिक, मज़दूर-वर्ग—के होंगे।

एक बात और कहनी है। यदि किसी समाजके जीवनके किसी छोटेसे टुकड़ेको ले लिया जाय तो सम्भव है वर्ग-सङ्घर्ष-का पता न लगे पर यदि उसके इतिहासको व्यापक दृष्टिसे देखा जाय, उसके साम्प्रदायिक और राजनीतिक आन्दोलनों, उसके उन्नति, विराम और अवनतिकालोंपर विस्तृत विचार किया जाय तो यह प्रतीत हो जायगा कि वर्ग-सङ्घर्षका सिद्धान्त ही इनमेंसे बहुतसी गुत्थियोंको सुलझा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजीवाद

यह शब्द 'पूँजीवाद' हमारे देशमें बहुत प्रचलित हो गया है। जिसके पास चार पैसा होता है वही 'पूँजीपति' कहलाने लगता है और धनिकोंका साथ देनेवाला भी पूँजीवादी कहलाता है। 'पूँजीवादी' और 'पूँजीपति' एक प्रकारसे लांछनवाची शब्द हो गये हैं। राजनीतिक कार्य्यकर्ता भी जब आपसमें नाराज़ होते हैं तो एक दूसरेको पूँजीवादी कहकर परितोष करते हैं।

साधारणतः लोग 'पूँजीवाद' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें करते हैं। एक तो शुद्ध सिद्धान्तके अर्थमें अर्थात् इस सिद्धान्तके लिए कि व्यवसायोंके द्वारा व्यक्तियोंको पूँजी जमा करने और इस पूँजीसे मुनाफ़ा करके और पूँजी इकट्ठा करने दिया जाय। दूसरा प्रयोग इस सिद्धान्तके आधारपर स्थित वर्तमान पद्धतिके लिए होता है जिसमें वस्तुतः समूचे व्यवसाय थोड़ेसे पूँजीपतियोंके हाथमें हैं जो पूँजीके बलपर न केवल अर्थनीति वरन् राजनीतिपर भी नियन्त्रण करते हैं। इस दूसरे अर्थमें महाराष्ट्र आदिमें प्रचलित 'पूँजीशाही' शब्दसे काम लेना अच्छा है। हिन्दीमें एक ही शब्दके प्रयुक्त होनेका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेज़ीमें भी एक ही शब्द* से काम लिया जाता है।

यह अर्थ तो ठीक ही है पर पूँजीवाद और पूँजीशाहीके स्वरूपको थोड़ा अधिक विस्तारसे समझना आवश्यक है।

---

* Capitalism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाजवाद और पूँजीवादका संघर्ष वर्तमान जगत्का एक कटु सत्य है। यदि पूँजीवादका विकास न हुआ होता तो समाजवादका भी उदय न हुआ होता। विना पूँजीवादको समझे समाजवाद भी समझमें नहीं आ सकता। अतः हम इस अध्यायमें पूँजीवादके स्वरूप और उसके अवश्यम्भावी परिणामोंका कुछ वर्णन करेंगे। पूँजीवादका इतिहास स्वतः बड़ा रोचक विषय है और सिद्धान्तपर उसके अध्ययनसे बहुत प्रकाश पड़ता है पर स्थानाभावसे हम यहाँ उसका कोई विशेष वर्णन नहीं कर सकते।

पूँजीवादका इतिहास यूरोपका पिछले तीन सौ वर्षोंका इतिहास है, वरन् यह कहना उचित होगा कि ब्रिटेनका पिछले तीन सौ वर्षोंका इतिहास है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, छोटे-छोटे व्यापारी भी इधर उधर पण्योंका हेरफेर करके और साधारण गृहस्थ भी अपना पेट काटकर कुछ पूँजी जमा कर सकते हैं परन्तु जिस पूँजीके विकाससे वर्तमान व्यावसायिक वृद्धि हुई है उसका बहुत बड़ा अंश दूसरे ही साधनोंसे आया है।

ब्रिटेनमें कृषकोंसे बलात् भूमि लेकर उसपर भेड़ें पाली गयीं ताकि उनके ऊनसे ऊनका व्यवसाय किया जाय। कृषकोंकी ओरसे कई बलवे हुए पर उनका दमन किया गया। थोड़ेसे हाथोंमें बहुत सी भूमि आ गयी और इन लोगोंके हाथोंमें ऊनकी बदौलत रुपया भी बहुतसा हो गया। पीछे जब उनका यह व्यवसाय अर्थकर न रह गया तो यही लोग ज़मीनदार हो गये और भूमिपर पुनः कुछ किसान बसाये गये। जिन लोगोंने सरकार और बड़े बड़े सामन्तोंकी सहायतासे इस प्रकार भूमिपर स्वत्व प्राप्त किया, वह नगरोंके रहनेवाले व्यापारी थे। बड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामन्तोंने भी इनका अनुकरण किया। इस प्रकार पूँजीकी वृद्धि हुई। इसके साथ ही बहुतसे कृषक खेतोंसे पृथक् होकर बेकार हो गये और रोज़ीकी तलाशमें आवारागर्दी करने लगे।

उधर स्पेनवालोंने अमेरिका महाद्वीप ढूँढ़ निकाला। धड़ाधड़ उसके आदिम निवासियोंकी लूट आरम्भ होगयी। उनका सञ्चित सोना लुट गया, उनके राज्य नष्ट कर दिये गये और उनका देश छीन लिया गया। स्पेन इस क्षेत्रमें पहले उतरा पर शीघ्र ही पश्चिमी यूरोपके और देश भी उसके प्रबल सपत्न हो गये। ब्रिटेन टापू है। उसके निवासी समुद्रसे ख़ूब परिचित हैं। जहाज़ चलाना उनके लिए जीवनका प्रधान साधन है। अतः अमेरिकाकी लूटमें पीछे पाँव रखने पर भी वह औरोंसे अच्छे निकले। स्पेनवाले अमेरिकावालोंको लूटते थे, उनसे पीट पीटकर खानोंमें काम कराते थे और अंग्रेज़ लोग स्पेनवालोंको लूटते थे। इसी समयके लगभग भारतका सामुद्रिक मार्ग भी यूरोपवालोंको मिल गया। अबतक भारतसे अप्रत्यक्ष रूपसे व्यापार होता था। यहाँका माल अरब लोग यूरोप पहुँचाते थे। फिर उसे प्रायः वेनिसवाले उनसे लेकर अन्य राष्ट्रोंके हाथ बेचते थे। अब इन मध्यस्थोंकी आवश्यकता न रही। पश्चिमी यूरोपवाले सीधे यहाँसे व्यापार करने लग गये। इस क्षेत्रमें पहले पुर्तगालवालोंने क़दम रखा, उनके पीछे डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ आये, पर अंग्रेज़ यहाँ भी औरोंसे बाज़ी मार ले गये। फिर भी एशियाका बहुत-सा भू-खण्ड अब भी डच और फ्रांसीसियोंके पास है।

भारतकी अवस्था अमेरिका जैसी न थी। यहाँ यूरोपवालोंको बलवान् और सुगठित राजोंका सामना करना पड़ा जिनको वह अमेरिकाकी अर्द्धसभ्य जातियोंकी तरह लूट नहीं सकते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। यहाँ उपनिवेश बसाना भी सम्भव नहीं था। परन्तु इन लोगोंके सौभाग्यसे यह वह समय था जब कि मुग़ल साम्राज्य टूट रहा था और उसके स्थानमें कोई दूसरा देशव्यापी संस्थान क़ायम नहीं हुआ था। यदि यूरोपवाले न आये होते तो सम्भवतः एक या अधिकसे अधिक तीन-चार प्रबल राज आप ही स्थापित हो जाते। पर ऐसा न हो पाया। यूरोपवालोंके आनेसे ग्रन्थि सुलझनेके स्थानमें और भी उलझ गयी। आपसमें लड़ते हुए देशी नरेशोंने बारी बारीसे इन विदेशियोंसे सहायता लेनी शुरू की। विदेशियोंने भी अवसरसे लाभ उठाकर पहले तो अपनी रक्षाके बहाने, फिर पीछे खुलकर, इन भारतीय राजोंकी सहायताके नामपर सेनाएँ रखनी शुरू की। कम्पनियोंको देशके शासनमें हस्तक्षेप करनेका अवसर मिला और व्यापारियोंकी कम्पनियाँ स्वतन्त्र नरेशोंके साथ बराबरीकी शर्तोंपर सन्धिविग्रह करने लगीं। जिन जिन प्रदेशोंमें उनके क़दम जमे उनका सारा व्यापार भारतीयोंके हाथसे निकल गया और जो व्यवसाय और उद्योग-धन्धे उन देशोंसे प्रतियोगिता कर सकते थे वह नष्ट कर दिये गये। कम्पनियोंके विदेशी अहलकार अपने वेतन और भत्तेके ऊपर बहुत बड़ी रक़में रिश्वतमें पाते थे। लौट कर घर जाने पर यह लोग 'नवाब' कहलाते थे। इन नवाबोंके द्वारा तथा कम्पनीके हिस्सोंके मुनाफ़ेके रूपमें असंख्य धन भारतसे ब्रिटेन पहुँचाया गया। फ़्रांस और हालैण्डने भी कमाया पर ब्रिटेनकी अपेक्षा इनके हाथ कम रुपया लगा। यह मुफ़्तकी रक़म भी ब्रिटिश व्यापारियों और व्यवसायोंके लिए पूँजी हो गयी। न इसके लिए अपना पेट काटना पड़ा, न ख़र्चमें कमी करनी पड़ी, एक ऐसी कामधेनु हाथ लग गयी जिसको दुहकर पूँजी पैदा की जा सकती थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस अपार धनराशिकी इस प्रकार अनायास वर्षा हुई थी उसको कहीं न कहीं पूँजी रूपमें लगना ही था। इसी समय सौभाग्यसे भापसे चलनेवाले एञ्जिन और सूत कातनेकी मशीन-का आविष्कार हुआ। फिर क्रमशः और मशीनें बनती गयीं। यह बात नहीं है कि इसके पहले कोई ऐसा विद्वान् नहीं पैदा हुआ था जो ऐसी मशीनें बना सकता। विद्वान् एकसे एक बढ़कर हुए थे और उन्होंने समय समयपर मशीनें बनायी भी थीं। पर वह मशीनें चलीं नहीं क्योंकि परिस्थिति अनुकूल न थी। मशीनोंका चलना तभी सम्भव है जब लोगोंके पास पर्य्याप्त परिमाणमें फालतू पैसा हो जो पूँजीके रूपमें लगाया जा सके। फिर ऐसे बेकार आदमी भी चाहिये जो नौकर बन-कर मशीनोंको चलायें। तीसरी चीज़ बाज़ार है। ऐसा बाज़ार चाहिये जिसमें कच्चा माल सस्तेमें मिल सके और बना माल बिना रुकावटके बिक सके। पहले इनमेंसे कोई भी सुयोग न था, अतः जो मशीनें बनीं वह या तो खिलौनेके रूपमें रह गयीं या अहितकर समझकर तोड़ डाली गयीं। अब सभी सुविधाएँ थीं। बाज़ार थे, बेकार आदमी थे जो मज़दूर बननेको तैयार थे और इतना धन पड़ा था जो एक प्रकारसे इस बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि उसका पूँजीके रूपमें उपयोग किया जाय। बस फिर क्या था। पहले ब्रिटेनमें, तत्पश्चात् यूरोपके अन्य देशों तथा अमेरिकामें, कल-कारख़ानोंकी बाढ़ आ गयी। ज्यों ज्यों इस प्रकार व्यवसायोंकी वृद्धि हुई त्यों त्यों देशकी सूरत बदलती गयी। गाँव और भी उजड़ते गये और बड़े नगरोंकी आबादी बढ़ती गयी। ब्रिटेन छोटा-सा देश है, कुछ ही दिनोंमें उसकी दशा ऐसी होगयी कि वह सारी दुनियाको मिलोंके बने सामान भेजने लगा पर अपने अन्नके लिए दूसरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशोंका वशवर्ती होगया। उधर भारत जैसे कुछ देशोंका यही काम रह गया कि अन्न पैदा करें और जो अपने काममे बचे, वरन् चाहे अपने लिए पर्याप्त न भी हो, उसे विदेश, मुख्यतः ब्रिटेन, भेजें और हर प्रकारका कच्चा माल अपने यहाँ पैदा करके उसे बाहर भेजें और अधिक रुपया देकर उसी कच्चे मालसे बने पक्के माल, जैसे रुईसे तैयार कपड़ा, को मोल लें। इस प्रकार व्यवसाय-प्रधान देशोंकी सम्पत्ति और फलतः पूँजी और भी बढ़ती गयी।

इस पूँजीवृद्धिके साधन मज़दूरोंकी दशाको भी थोड़ा-सा जान लेना आवश्यक है। इनमें कुछ तो शहरोंके बेकार थे। आरम्भमें कुछ ऐसे भी थे जो मज़दूरीके लालचसे देहातसे आते थे पर बीच बीचमें घर भी चले जाते थे। परन्तु धीरे-धीरे इन लोगोंका ग्रामोंसे सम्बन्ध छूट गया। आना जाना बन्द हो गया। खेतीबारी रह नहीं गयी। शहरोंमें ही रहते थे और मज़दूरी करना ही एकमात्र जीवनोपाय था। इनके पास सिवाय अपने शरीरके और कोई सम्पत्ति नहीं थी। यह लोग शुद्ध 'सर्वहारा' थे। इनकी सन्तान ही आजकल कारखानोंको चला रही है और बेकारोंकी संख्या बढ़ा रही है।

शुरू शुरूमें तो इनकी दशा बहुत ही बुरी थी। पुरुषोंकी तो बात ही दूर है, स्त्रियों और नौ दस वर्षके बच्चों तकसे बड़ी बेदर्दीसे काम लिया जाता था। खानोंमें ज़मीनके नीचे लगातार बारह तेरह घण्टे तक काम करना पड़ता था। मज़दूरी बहुत कम होती थी और न कोई रहनेका प्रबन्ध था, न औषधोपचार-का। सारा प्रयत्न इस बातका था कि इनसे जितना अधिक काम लिया जा सके लिया जाय और फिर चुसे हुए आमकी भाँति फेंक दिया जाय। न बुढ़ापेके लिए बीमा या पेंशन थी, न चोट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लगने पर हर्जाना। कुछ भलेमानसोंने इसके विरुद्ध आवाज़ भी उठायी पर उनकी किसीने सुनी नहीं। उस समय एक विशेष सिद्धान्त मान्य होरहा था जिसको 'करने दो' या 'स्वच्छन्दता'* सिद्धान्त कह सकते हैं। सिद्धान्तके मान्य होनेका एकमात्र कारण यह था कि इसको माननेमें पूँजीपतियोंका फ़ायदा था। इसका निष्कर्ष यह है कि मज़दूरके साथ कोई ज़बर्दस्ती तो की नहीं जाती। उसे कोई पकड़कर कारख़ानेमें भर्ती नहीं करता। वह जानता है कि यहाँ काम करनेकी यही शर्तें हैं। फिर भी जब वह काम करने आता है तो अपनी इच्छासे आता है। उसको इस अवस्थामें काम करना न पसन्द हो, अपने घर चला जाय। जब मालिक और नौकर दोनों स्वच्छन्द हैं और अपने शौक़से एक विशेष रूपसे काम कर रहे हैं तो फिर कोई दूसरा, सरकार या अन्य व्यक्ति, बीचमें कैसे बोल सकता है ?

इस सिद्धान्तके भीतर जो दम्भ भरा हुआ है वह स्पष्ट है। यह कहना शरारत है कि मिल-मालिक और मज़दूर—धनिक और भूखा—दोनों बराबर हैं। जब भागनेका कोई मार्ग नहीं रहता तो चूहा भी शौक़से ही बिल्लीके मुहँमें जाता है। मज़दूरके साथ ज़बर्दस्ती भले ही न होती रही हो पर वह करता क्या ? किस घर चला जाता ? वह तो विवश था। जबतक किसी प्रकार पेटकी ज्वाला बुझानेको कुछ मिल जाता था तब तक सब प्रकारकी शर्तोंको माननेके लिए बाध्य था। यह कहना कि वह किसी भी दृष्टिसे स्वच्छन्द था उपहास करना था।

मज़दूरकी अवस्थामें अब भी कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। वह अब भी ग़ुलाम है। अब भी उसके मालिकोंका

---

* Laissez-faire.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्य यही है कि अधिकसे अधिक काम लिया जाय और कम-से कम मज़दूरी दी जाय। जैसा कि किसीने कहा है, मज़दूरके सारे जीवनका निचोड़ इन शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है, "हम काम करने जाते हैं ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल लें ताकि शरीरमें बल आये ताकि हम काम करने जायँ ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल लें......इत्यादि" मज़दूर इसलिए काम नहीं करता कि वह उसे अपना काम समझता है या उसे उसमें रस आता है वरन् इसलिए कि उसका वह एकमात्र जीवनोपाय है।

फिर भी पहलेसे दशा अच्छी है। कामके घण्टे कम हुए हैं, स्त्रियों और बच्चोंसे वैसा और उतना काम नहीं लिया जाता, मज़दूरी भी कुछ अधिक मिलती है, काम करते करते चोट लग जाने पर हर्जाना मिलता है, अधिकतर सभ्य देशोंमें बुढ़ापे और मृत्युके लिए बीमेका भी प्रबन्ध है। अब 'स्वच्छन्दता' नीति खुलकर नहीं बरती जाती। ऐसा मान लिया गया है कि समाजका यह कर्तव्य है कि इस विषयमें आवश्यक हस्तक्षेप करे। इसीलिए यद्यपि क़ानून बनानेवाली संस्थाओं और सरकारों-पर पूँजीपतियोंका अब भी प्रबल प्रभाव है फिर भी धीरे-धीरे कई ऐसे क़ानून बन गये हैं जिनसे मज़दूरोंकी परिस्थिति कुछ सुधरी है। पूँजीपतियोंने कुछ तो लोकमतसे दबकर इन क़ानूनों-को बनने दिया है, कुछ आपसकी प्रतियोगिताके कारण। एक पूँजीपति यह नहीं चाहता कि दूसरा अपने मज़दूरोंसे अधिक काम लेकर या उनको कम मज़दूरी देकर मुझसे अधिक मुनाफ़ा करे अतः यह लोग चाहते हैं कि यथासम्भव सबके लिए एकसे नियम बन जायँ।

पर जिस लोकमतके जागनेसे यह सब सम्भव हुआ है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके पीछे मज़दूरोंकी सौ वर्षकी तपस्या है। पहिले प्रत्येक मज़दूर अलग था, धीरे-धीरे मज़दूरोंने मिलकर काम करना, मज़दूर-सभा या श्रमिक-संघ बनाना, सीखा। मालिकोंको यह बात नापसन्द थी, अब भी नापसन्द है। वह जानते हैं कि संघ-टनसे शक्ति बढ़ती है। पदे-पदे इन संघोंका विरोध किया गया। बहुधा मालिकोंने संघोंके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही इनकार किया। न संघके पदाधिकारियोंसे बातचीत की जाती थी, न उनके किसी पत्रका उत्तर दिया जाता था। क़ानूनके द्वारा भाँति भाँतिकी रुकावटें डाली गयीं। यदि संघ बनें भी तो वह क्या क्या काम करें इसके लिए कड़े बन्धन बनाये गये। जर्मनीकी हिटलरशाही सरकारने तो मज़दूर-संघ तोड़कर उनके लाखों रुपये ज़ब्त कर लिये। इटलीमें भी मज़दूर-संघ तोड़ दिये गये हैं। हड़ताल और कामबन्दी, मिल-मालिकों और पुलिसके डण्डों तथा गोलियोंका निरन्तर सामना करते हुए भी मज़दूर आज पहिलेसे मज़बूत हैं और उनकी संस्थाएँ एकदेशीय नहीं वरन् अन्ताराष्ट्रिय हैं। मज़दूरोंकी संघटित शक्ति क्या कर सकती है इसका उदाहरण रूस है और उससे प्रत्येक देशका श्रमिक समुदाय प्रोत्साहन प्राप्त करता है।

अस्तु, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है यूरोपके व्यवसायियों-के हाथ एक प्रकारसे अनायास ही बहुत-सा रुपया लगा जिसको पूँजी बनाकर उन्होंने अपने व्यवसायको खूब बढ़ाया। कोयला और लोहा यूरोपके कई प्रदेशोंमें होता है, ब्रिटेनमें तो खूब ही होता है। इससे मशीनों द्वारा व्यवसायको बढ़ानेमें कोई कठि-नाई नहीं हुई।

परन्तु इस पूँजीशाही प्रगतिके मार्गमें कई अड़चनें हैं। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अड़चनें ऐसी हैं कि इनको दूर करनेका कोई उपाय नहीं देख पड़ता। यह पूँजीशाहीके साथ छायाके समान लगी हुई हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्त करके ही छोड़ेंगी। इसीलिए इनको पूँजीवादके स्वगत उच्छेदक* कहते हैं। यह पूँजीवाद और पूँजीशाहीका उच्छेद करते हैं परन्तु मेहँदीकी लालीकी भाँति पूँजीवादसे पृथक् नहीं किये जा सकते। हम यहाँ संक्षेपमें इनमेंसे कुछकी आलोचना करेंगे।

प्रत्येक पूँजीपति यही चाहता है कि मैं वस्तुओंको तैयार करता जाऊँ और दूसरे लोग मुझसे मोल लेते जायँ। मशीनसे थोड़ा माल तैयार करनेसे कोई लाभ नहीं होता। मशीन तो थोक तैयार करनेके लिए है। परन्तु एक ही पूँजीपति तो है नहीं, न एक ही कारख़ानेदार है। ऐसे कई व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय अर्थात् कम्पनियाँ होती हैं। पहले पहले तो बाज़ार बड़ा होता है, मालकी माँग अधिक होती है और सबको पर्याप्त मुनाफ़ा होता है। पर मशीनें तो सबके पास हैं और सभी अधिकसे अधिक माल तैयार कर रहे हैं, नहीं तो मशीन बेकार रहे और घाटा पड़े। परिणाम यह होता है कि माल बहुत तैयार हो जाता है। इस अवस्थामें दो ही बातें सम्भव हैं। यदि मालकी मात्रा कम की जाय तब उतना मुनाफ़ा हो सकता है, नहीं तो मूल्य कम मिलेगा। पूँजीपति परोपकार-बुद्धिसे तो व्यवसाय करता नहीं। उसका उद्देश्य रुपया कमाना है, लोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करना नहीं। अतः अपने मुनाफ़ेके लिए वह तैयार मालको नष्ट कर देता है। पिछले पाँच-छः वर्षोंके भीतर क़हवा और सेब समुद्रमें फेंक दिये गये, गेहूँ भट्ठोंमें

---

* Inner Contradictions.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डालकर जलाया गया। यह इसलिए नहीं कि पृथ्वीपर कोई भूखा न था वरन् इसलिए कि माल कम होगा तो उसका दाम अधिक मिलेगा। अमेरिकामें रुईके खेत जला दिये गये या बे-बोये छोड़ दिये गये। इसका यह कारण नहीं था कि अब नंगे नहीं रहे और रुईकी आवश्यकता नहीं है वरन् इसलिए कि रुई कम पैदा होगी तो सूतका भाव चढ़ेगा और पूँजीवालोंको कपड़े-का अधिक मूल्य मिलेगा।

परन्तु इन युक्तियोंसे काम नहीं चलता। मालको नष्ट करके जो मुनाफ़ा होता है वह तो सबके लिए एकसा होता है। अतः आपसकी प्रतिस्पर्द्धाके कारण इस बातकी चिन्ता होती है कि कोई ऐसी युक्ति निकाली जाय जिससे खर्च हमारा कम पड़े और मूल्य हम दूसरोंके बराबर लें। ऐसा होनेसे मुनाफ़ा अधिक होगा। प्रत्येक पूँजीपति दूसरे पूँजीपतियोंको जो उसी व्यवसायको करते हैं इस प्रकार गिराना चाहता है। इसका एक उपाय तो यह है कि कच्चा माल सस्ते बाज़ारमें ख़रीदा जाय। विभिन्न देशके व्यवसायी इसके लिए जो प्रयत्न करते हैं उसका उल्लेख अगले अध्यायमें होगा। परन्तु एक ही देशके दो व्यवसायी इस प्रकार एक दूसरेको नहीं दबा सकते। यह हो सकता है कि कपड़ेका जापानी कारख़ानेदार अंग्रेज़ी कारख़ाने-दारसे सस्ते भावमें रुई पा जाय पर जहाँसे एक जापानी कार-ख़ानेदार मोल लेगा वहाँसे दूसरा भी ले सकता है। अतः एक देशके भीतर इस उपायसे काम नहीं निकल सकता। दूसरा उपाय यह है कि श्रमिकोंसे काम अधिक लिया जाय पर यह भी एक देशके भीतर नहीं चल सकता। यह हो सकता है कि एक देशमें मज़दूरोंसे दिनमें आठ घण्टे काम लेनेका दस्तूर हो और दूसरे देशमें दस घण्टे काम लेनेका पर किसी भी देशविशेषमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी व्यवसायियोंके लिए एक ही नियम लागू होगा, अतः तीसरे उपायका अवलम्बन करना पड़ता है। इसका लक्ष्य यह है कि काम उतना ही हो पर मज़दूर कम लगें। यही उपाय आजकल चल रहा है। इसको बौद्धिक संयमन* कहते हैं। यह दो प्रकारसे किया जाता है। कुछ तो छानबीन करके फ़ालतू आदमी, चाहे वह दफ़्तरमें हों चाहे मशीनोंपर, पृथक् कर दिये जाते हैं। पर यह बहुत छोटी-सी बात है। मूल प्रयत्न यह होता है कि अपने पास ऐसी मशीन हो जिसमें मनुष्य कम लगें। लाखों रुपये ख़र्च करके मशीनोंमें ऐसा उलट-फेर, ऐसी उन्नति, की जाती है कि जहाँ दस मज़दूर लगते थे वहाँ पाँच ही लगें। बराबर संयमन जारी है और एक व्यवसायीकी नक़ल दूसरा करता है, क्योंकि जो इस मैदानमें पीछे रह जायगा उसका माल महँगा पड़ेगा और उसका मुनाफ़ा कम हो जायगा। सभी देशों, सभी व्यवसायोंमें इसकी धूम है।

परन्तु अब एक तमाशा होता है। संयमनके फलस्वरूप लाखों मनुष्य बेकार हो जाते हैं। यह लोग या तो हाथपर हाथ धरकर भूखों मरें या भीख माँगें या सरकार प्रजापर टैक्स लगा कर इनका पेट भरे, जैसा कि, उदाहरणके लिए, ब्रिटेनमें होता है। पर इन तीनोंमेंसे कोई भी बात हो, इन लाखों आदमीकी क्रय-शक्ति—माल ख़रीदनेकी शक्ति—तो नष्ट हो ही जाती है, सारे समाजकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है। क्योंकि एक बड़ी रक़म किसी न किसी रूपमें इन लोगोंके भरण-पोषणमें ख़र्च होती है। यह समस्या पूँजीपतियोंके सामने आये दिन खड़ी रहती है। एक ओर तो माल इतना तैयार हो जाता है कि

---

* Rationalization.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माँग होते हुए भी कम मुनाफ़ेके भयसे उसे सबका सब वेचा नहीं जा सकता, दूसरी ओर लाखों मनुष्योंको वेकार करना पड़ता है और जो लोग ग्राहक हो सकते हैं उनकी क्रयशक्ति कम करनी पड़ती है, यहाँतक कि माल पड़ा रहता है पर आवश्यकता होनेपर भी वह उसे नहीं मोल ले सकते। यह पूँजीवादका एक भीषण स्वगत उच्छेदक है। पूँजीशाहीका इतिहास ऐसे संकटोंके* वर्णनसे भरा पड़ा है। किसी प्रकार लीपापोती करके या किसी युद्धकी सहायतासे पूँजीपति एक संकटको पार नहीं कर पाते कि दूसरा संकट आ उपस्थित होता है। यह समझमें नहीं आता कि पूँजीपतियोंकी पारस्परिक होड़के रहते संकटोंकी श्रृङ्खला कैसे टूट सकती है। यह भी समझमें नहीं आता कि पूँजीशाही पद्धतिके रहते पूँजीपतियोंकी आपसकी होड़ कैसे बन्द हो जायगी। यह प्रतिस्पर्द्धा तो स्वाभाविक ही है। जब मुनाफ़ेके लिए व्यवसाय किया जायगा तो अधिक मुनाफ़ेकी इच्छा रखना बुरा नहीं कहा जा सकता। पर इस सारी कथामें ख़राबीकी बात यह है कि यह संकट केवल थोड़ेसे पूँजीपतियोंपर नहीं पड़ते। जब लाखों श्रमिक बेकार होते हैं तो उनके कुटुम्बियोंको मिलाकर जनताके एक बड़े अंशको भाँति भाँतिकी विपत्ति सहनी पड़ती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समूचे देशको कई प्रकारकी क्षति उठानी पड़ती है। आर्थिक कष्ट तो होता ही है, स्वास्थ्य गिर जाता है, चारित्र्य-पतन होता है, संस्कृतिकी मर्यादा पीछे हट जाती है। अतः यह पूँजीपतियोंका घरेलू प्रश्न नहीं, सारे जन-समुदायके हिताहितका प्रश्न है।

---

* Crises.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक और अड़चन है। पूँजीवादका व्यष्टिवाद* और राष्ट्रवाद-से† गहरा सम्बन्ध है। व्यष्टिवादसे तो इसलिए सम्बन्ध है कि पूँजीवाद व्यक्तिकी स्वच्छन्दता और स्वार्थबुद्धिके सहारे टिका हुआ है। प्रत्येक देशमें प्रत्येक पूँजीपति चाहता है कि मैं देशके सारे व्यावसायिक जीवनका एकमात्र अधिष्ठाता बन जाऊँ। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों-को खा जाते हैं। बड़ोंका मुक़ाबिला छोटे नहीं कर सकते। धीरे-धीरे थोड़ेसे हाथोंमें देशका सारा व्यवसाय आ जाता है। थोड़ेसे लोगोंका स्वार्थ बहुतोंके स्वार्थको कुचल देता है। यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। भारतका औद्योगिक-जीवन अभी चार दिनका है पर अभीसे थोड़ेसे लोगोंने इसपर क़ब्ज़ा कर लिया है। कल-कारख़ाने सैकड़ों हैं पर उनपर किसी न किसी प्रकारका नियन्त्रण थोड़ी-सी कम्प-नियोंका है। नामको वह कारख़ाने स्वतन्त्र हैं पर उनकी पूँजीमें इन बड़ी कम्पनियोंने इतना हिस्सा ले रखा है कि वह सर्वथा इनके पञ्जेमें हैं। 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के एक अंकमें इस विषयपर श्री अशोक मेहताका एक लेख था। उसमें एक तालिका दी थी जिसका छोटा रूप इस प्रकार है—

कम्पनीका नाम	कितने कारख़ाने उसके नियन्त्रणमें हैं
ऐंड्र्यूल ऐण्ड कम्पनी	५४
डङ्कन ब्रदर्स	२५
मार्टिन ऐण्ड कम्पनी	२६
ऑक्टेवियस स्टील	२४

* Individualism. † Nationalism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम्पनीका नाम	कितने कारखाने उसके नियन्त्रणमें हैं
बर्ड ऐण्ड कम्पनी	२०
जिलैण्डर्स आर्वटनाट	१८
बेग डनलप	१७
मैक्ल्यूड ऐण्ड कम्पनी	१७
टाटा संस ऐण्ड कम्पनी	१३
वामर लारी ऐण्ड कम्पनी	८

भारतके लगभग ४०० बड़े कल-कारखाने लगभग ३० बड़ी कम्पनियोंके नियन्त्रणमें हैं। इन ३० मेंसे २७ की पूँजी १ करोड़से अधिक है और इनमेंसे ६,७की पूँजी ५ करोड़से ऊपर है। अकेले टाटा कम्पनीके नियन्त्रणमें लगभग ३० करोड़ रुपयेकी पूँजी है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे महापूँजीधरोंके सामने छोटे व्यवसायी नहीं ठहर सकते। पर इनको इतनेसे परितोष नहीं है। जो यों ही बलवान् हैं वह बलवत्तर बन रहे हैं। बड़ी बड़ी कम्पनियाँ एकमें मिल रही हैं। ऐसे सम्मिलनसे जो संस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें 'ट्रस्ट' या 'कम्बाइन' कहते हैं। उदाहरणके लिए अभी हालमें ही बर्न ऐण्ड कम्पनी, जिसकी अपनी पूँजी ३ करोड़ १२ लाख है, मार्टिन ऐण्ड कम्पनीसे मिल गयी है। इसका परिणाम यह है कि सभी देशोंमें थोड़ेसे व्यक्तियों, अर्थात् इन बड़े ट्रस्टोंके सञ्चालकोंके हाथमें देशके सारे औद्योगिक और व्यावसायिक जीवनको बागडोर चली जाती है। कपड़ा, बिजली, शक्कर, जहाज़, रेल, कोयला, महाजनी—ऐसा कोई व्यवसाय नहीं है जो इनके हाथमें न हो। पूँजीशाही प्रत्येक राष्ट्रको व्यावसायिक एकाधिकारकी ओर ले जा रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह बात यहीं समाप्त नहीं होती। आरम्भमें पूँजीवाद और राष्ट्रवादका भी सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक राष्ट्रके पूँजीपति अपना भला चाहते हैं। फलतः उनसे दूसरे राष्ट्रोंके पूँजीपतियों-से होड़ रहती है। इसका जो परिणाम होता है उसपर अगले अध्यायमें विचार होगा। यह प्रतिद्वन्द्विता अब भी जारी है पर इसके साथ-साथ एक दूसरी प्रवृत्ति भी देख पड़ रही है। पूँजी-शाही अब राष्ट्रियताको छोड़कर अन्ताराष्ट्रियताकी ओर झुक रही है। प्रत्येक देशमें तो बड़ी कम्पनियाँ और बड़े ट्रस्ट हैं ही; अब एक देशके ट्रस्ट दूसरे देशके ट्रस्टोंसे मिल रहे हैं। भारतमें व्यवसाय करनेवाली बामर लारी ऐण्ड कम्पनी जिसकी पूँजी १ करोड़ १५ लाख है लन्दनकी अलेग्ज़ैण्डर लारी ऐण्ड कम्पनी द्वारा नियन्त्रित है। ऐण्ड्र्यू यूल ऐण्ड कम्पनी जो ५४ कारखानों-पर नियन्त्रण करती है लन्दनकी यूल कैटो ऐण्ड कम्पनीसे सम्बद्ध है। भला भारत तो परतन्त्र देश है, यहाँकी विदेशी कम्पनियोंका ब्रिटिश कम्पनियोंसे सम्बद्ध होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर यही लीला सर्वत्र व्यापक है। स्वदेश विदेशका विचार छोड़कर बड़े बड़े ट्रस्ट मिल रहे हैं, और अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्टोंकी सृष्टि कर रहे हैं। एक ही उदाहरण पर्य्याप्त है। आज रूस और दो-एक अन्य देशोंको छोड़कर सारी पृथ्वी भरमें मिट्टी-के तेलका व्यवसाय स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी और रायल डच कम्पनीके हाथमें है। यह दोनों ही अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्ट हैं और छोटी बड़ी कई सौ, स्यात् कई हज़ार, कम्पनियोंका नियन्त्रण करते हैं। अभी तो इनमें आपसमें प्रतिस्पर्द्धा है इसलिए कुछ रक्षा हो रही है पर यदि यह दोनों मिल जायँ तो बेचारे ग्राहक-को कौन बचायेगा। ग़रीब या अमीर जिसके घर एक पैसेका भी मिट्टीका तेल जलता होगा वह इनकी मुट्ठीमें रहेगा। मुँह-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माँगा दाम लेंगे। प्राचीन कालमें कभी कभी कोई राजा किसी व्यापारीको अपने राज्यमें किसी वस्तुके बेचनेका एकाधिकार दे दिया करता था पर पूँजीशाहीका दिया हुआ यह एकाधिकार उससे कहीं व्यापक और भयङ्कर है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि इन ट्रस्टोंका जन्म चाहे किसी उद्योग-विशेषसे हुआ हो पर इनकी विपुल पूँजी एक ही उद्योगमें बँधी नहीं रह सकती। वह धीरे धीरे सभी व्यवसायोंको अपने घेरेमें लानेका प्रयत्न करेगी और जो उसका मुक़ाबिला करेंगे उनको कुचल डालेगी। इन महाट्रस्टोंकी बात तो जाने दीजिये, भारतमें ऐंड्र्यूल ऐण्ड को इतने प्रकारके व्यवसायोंपर नियन्त्रण करती है--

पटुआ	चाय	कोयला	यातायात	शक्कर	बंक	विभिन्न	=	कुल जोड़
११	१५	१३	२	१	१	११	=	५४

किसी एक देशके लिए भी यह सोचनेकी बात हो सकती है कि वह कोयला, लोहा, यातायात जैसे मूल उद्योगोंको थोड़ेसे लाभ-लोलुप व्यक्तियोंको सौंपकर अपनेको उनका दास बना देगा। पर यदि थोड़ेसे मनुष्य, जिनका एक मात्र उद्देश्य अपना लाभ है, पृथ्वी भरके मुख्य मुख्य व्यवसायोंपर नियंत्रण प्राप्त करके अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌को अपना ग़ुलाम बना सके तो यह तो बड़ी ही शोचनीय अवस्था होगी। लोग इस भयको देख रहे हैं और पूँजीवादके इस विकासको, जिसमें वह व्यष्टिवादसे अन्ताराष्ट्रिय एकाधिकारकी ओर बढ़ रहा है, सशंक दृष्टिसे देख रहे हैं। बड़ी बड़ी सरकारें इन प्रबल ट्रस्टोंसे घबराती हैं। अमेरिकामें किसी किसी राष्ट्रपतिने इनसे टक्कर लेनी चाही पर यह ज्योंके त्यों बने हुए हैं, इनका बल टूटा नहीं। यह भी पूँजीशाही और पूँजीवादका एक स्वगत उच्छेदक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका राजनीतिपर विचित्र परिणाम पड़ेगा। अभीसे उसकी झलक देख पड़ने लगी है। जबतक पूँजीशाही राष्ट्रिय सीमाओंके भीतर आबद्ध है, तबतक तो एक राष्ट्रके पूँजीपति अपना प्रभाव लगाकर उस राष्ट्रको अपने स्वार्थके लिए कभी कभी दूसरे राष्ट्रसे लड़ानेका प्रयत्न करते हैं पर अब तो अन्ताराष्ट्रिय गुट अपने स्वार्थके लिए राष्ट्रोंको लड़ा देंगे। इन अन्ताराष्ट्रिय पूँजीपति गुटोंमें सभी देशोंके पूँजीपति होंगे। युद्ध होनेसे तेल, लोहा, हथियार आदिकी बिक्री अधिक होगी, मुनाफ़ा ख़ूब होगा। अपने रुपयेका पूरा ज़ोर लगाकर यह लोग राष्ट्रोंको लड़ायेंगे। व्यर्थ लाखों मरे-कटेंगे पर कोई जीते कोई हारे, इनको मुनाफ़ा मिलेगा। मुनाफ़ा लेनेवालोंमें विजित और विजेता, दोनों देशोंके पूँजीपति होंगे।

कथा यहीं नहीं समाप्त होती। एक और प्रबल उच्छेदक है जो पूँजीवादकी जड़ खोद रहा है। इसका कटु अनुभव सभी बड़े पूँजीवादी देशोंको हो रहा है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण ब्रिटेन और भारतके सम्बन्धसे मिल सकता है। जैसा कि हमने देखा है भारतके पुराने उद्योग तो प्रायः सब नष्ट हो गये। कुछ कोरी जुलाहे कपड़ा भले ही तैयार कर लें पर सूत वह भी विदेशी ही लगाते थे। महाजनी और दूकानदारी तो रह गयी पर कोई ऐसा व्यवसाय नहीं रह गया जिससे प्रचुर मात्रामें पण्य उत्पन्न होते। परन्तु ब्रिटेनके कुछ पूँजीपतियोंने देखा कि भारतमें मज़दूरी सस्ती है। यदि भारतमें कारख़ाने खोले जायँ तो ढुलाईका ख़र्च भी बच जाय और माल सस्ता पड़नेसे ख़ूब बिके। अतः कुछ अंग्रेज़ोंने भारतमें कपड़ेके कारख़ाने खोले। यह बात ब्रिटेनके कारख़ानेदारोंको खली। अतः आपसमें सङ्घर्ष शुरू हुआ। एक ही घर, ब्रिटिश पूँजीशाही, में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलह उत्पन्न हो गया। जो कारख़ाने भारतमें खुले उनके तथा रेलवे आदिके लिए भारतमें एञ्जिनियर और कल-कारख़ानोंकी देख-रेख करने तथा मशीनोंकी मरम्मत और उनके कल-पुर्ज़ोंको बना लेनेके योग्य शिल्पी भी तैयार हो गये। यह सब बातें ब्रिटेनके हितके विरुद्ध थीं। ऐसे ही हित-संघर्षके फल-स्वरूप ब्रिटेनके हाथसे अमेरिका निकला था। अमेरिकन उपनिवेशके निवासियोंने जब देखा कि उनकी पितृभूमि-ब्रिटेन-अपने आर्थिक स्वार्थके लिए उनको दबाना चाहती है तो वह लड़कर स्वतंत्र ही हो गये।

इधर बीचकी दलालीकी बदौलत बहुतसे भारतीयोंके पास भी रुपया हो गया था। कच्चे माल, जैसे रुई या अन्नको गाँव गाँवसे बटोरकर अंग्रेज़ व्यापारियोंके हाथों बेचनेवाले भारतीय आढ़तिये ही थे। इसी प्रकार अंग्रेज़ व्यापारियोंसे तैयार माल, जैसे कपड़ा, थोक मोल लेकर गाँव गाँव भेजनेवाले भी भारतीय ही थे। रेल इत्यादिके बड़े अहलकार भले ही अंग्रेज़ हों पर ठेकेदार भारतीय होते थे। ऐसे लोगोंके पास रुपया जमा हो जाना स्वाभाविक था और यह लोग उसे पूँजीके रूपमें कहीं लगाना चाहते थे। इसका सुयोग मिल गया। ब्रिटेनमें जो कारख़ाने मशीनोंको बनाते थे उनको ग्राहक चाहिये थे। उनके सारे मालकी खपत ब्रिटेनमें ही तो हो नहीं सकती थी। अतः उन्होंने इन भारतीय रुपयेवालोंके हाथ मशीनें बेचनी शुरू की। फलतः भारतीयोंने भी कपड़ेके कारख़ाने खोले। अंग्रेज़ सरकारने जब अंग्रेज़ोंको भारतमें कपड़ेकी मिलें खोलने दीं तो भारतीयोंको किस मुँहसे रोकती? अनेक कठिनाइयोंका सामना करके भी इस व्यवसायमें पर्याप्त मुनाफ़ा हुआ और कपड़ेकी मिलोंकी संख्या बढ़ती ही गयी। जिस किसी प्रान्तमें रुई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पैदा होती है या सुभीतेसे पहुँच सकती है वहीं सूत कातने या कपड़ा बनानेकी मिलें हैं। इससे ब्रिटेनके वस्त्र-व्यवसायको बड़ा धक्का पहुँचा है। पर भारतीयोंने केवल कपड़ेके व्यवसायमें ही हाथ नहीं डाला है। धीरे धीरे चाय, कोयला, दियासलाई, चूड़ी, शीशा ऐसे कई रोज़गारोंमें भारतीयोंका काफ़ी हाथ है। लोहेमें तो टाटाने एक प्रकारका एकाधिकारसा प्राप्त कर लिया है। अबतक जहाज़ चलानेवाली कम्पनियाँ भी कई हो गयी होतीं और दूर देशोंतक न सही पर भारतके तटपर एक स्थान-से दूसरे स्थानतक यात्री और माल ले जानेका व्यवसाय तो पूरा ही भारतीय हाथोंमें आ गया होता पर सरकारने ऐसा होने न दिया। फिर भी ज्यों-ज्यों भारतके पूँजीपति बलवान् होते जाते हैं त्यों-त्यों सरकारको भी उनसे दबना पड़ता है और ब्रिटिश पूँजीपतियोंको, जो अबतक भारतको अपनी आखेट-भूमि समझते थे, इनके साथ समझौता करना पड़ता है। हालमें मोदी-लीज़ समझौता इसी दृष्टिसे किया गया था। भार-तीय व्यवसायी भारतमें तो अपना माल बेचते ही हैं, थोड़ा बहुत माल विदेशोंमें भी बेचते हैं और इस प्रकार भी अंग्रेज़ व्यवसायियोंको हानि पहुँचाते हैं।

यह सब इसीलिए हुआ कि पूँजीशाहीके भीतर घुनकी भाँति एक उच्छेदक लगा हुआ है। कपड़ेका व्यवसायी भी पूँजीपति है, मशीन बनानेवाला भी पूँजीपति है। दोनों ब्रिटिश व्यवसायकी उन्नति चाहते हैं और अपना मुनाफ़ा चाहते हैं। पर एकका हित दूसरेके हितका विरोधी है। जहाँ मशीन बिकती है वहाँ कपड़ेवालेकी जड़ कटती है पर मशीनवाला बिना मशीन बेचे रह नहीं सकता। अतः पूँजीशाही अपना शत्रु आप ही पैदा करती है। एक भारतमें ही नहीं सारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वीपर पूँजीशाही अपने हाथों अपना शिरश्छेद करती जाती है।

पर पूँजीशाही भिन्न-भिन्न प्रकारके माल बेचकर ही अपना गला नहीं घोंटती। उसकी पूँजी भी उसके लिए घातक हो जाती है। कारखानेवाले माल तो बेचते ही हैं, बड़े-बड़े पूँजी-पति विशेषतः महाजन और बैंकर, दूसरे देशोंमें अपना रुपया लगाकर वहाँके ही व्यवसायियोंकी सहायता करते हैं। भारतमें ही अंग्रेज़ोंका इस प्रकार करोड़ों रुपया लगा हुआ है। दूसरे बहुतसे उदाहरण हैं। चीन, तुर्की, कई देशोंमें ऐसा हुआ है। कल-कारख़ाने उसी देशवाले खोलते हैं, वही चलाते हैं पर पूँजीका बहुत बड़ा भाग विदेशी लगाते हैं। नामको यह व्यव-साय स्वदेशी होते हैं पर इनके मुनाफ़ेसे बहुत-सा रुपया प्रति-वर्ष ब्याजके रूपमें बाहर चला जाता है। अस्तु, यह तो होता है पर इसके साथ ही धीरे-धीरे इन देशोंका व्यवसाय सुदृढ़ होता जाता है और यह अपने पाँवपर खड़े होने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यह उन देशोंसे जिनसे पहले माल मँगाते थे माल मँगाना बन्द कर देते हैं। रुपयेवाले रुपया घर-पर रख नहीं सकते इसलिए उसे ऐसे देशोंमें लगाते हैं जिनके पास स्वयं रुपया नहीं है परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने देशके व्यवसायके लिए प्रतियोगी खड़ा कर देते हैं और इस प्रकार अपनी पूँजीके सोतेको सुखानेका भी आप ही आयोजन कर लेते हैं। ब्रिटेन और अमेरिकाको इसका अनुभव है। जहाँ पूँजी लगाते हैं वहाँ किसी न किसी युक्तिसे अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपका राजनीतिक अधिकार रखनेका प्रयत्न किया जाता है ताकि रुपया डूब न जाय पर इसका निश्चय नहीं हो सकता। युद्ध या अन्य किसी राजनीतिक उथल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुथलके द्वारा ऐसे दबे हुए देश हाथसे निकल जाते हैं और अपने देशके व्यवसायको क्षति तो पहुँचती ही है, रुपया भी डूब जाता है।

यह बातें पूँजीवादके साथ जन्मसे ही लगी हुई हैं। जब मुनाफ़ा होगा तो पूँजी बढ़ेगी और उसे कहीं न कहीं लगाना पड़ेगा। जो देश अपने अधीन हैं उनमें तो अपनी ओरसे भी कल-कारख़ाने खोले जा सकते हैं पर स्वतन्त्र देशोंमें रुपया लगाना ही सुकर होता है। पर इन दोनोंमेंसे कोई भी बात की जाय, अन्तमें अपना ही नुक़सान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीशाही जिधर पाँव बढ़ाती है उधर ही वह अपने गिरनेका आयोजन करती है।

पूँजीशाहीके और भी एकाध दोष विचारणीय हैं। पूँजीवाद-के अनुसार यह आवश्यक है कि देशकी खानोंपर पूँजीपतियोंका अधिकार रहे। वही खानोंमेंसे कोयला, तेल, लोहा, ताँबा आदि सामग्री निकालें और वही उसे कच्चे रूपमें या उससे दूसरी चीज़ें बनाकर बेचें। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि खनिज पदार्थ मूली-बैंगनकी भाँति प्रतिवर्ष नहीं पैदा होते। जिस देशमें जितना कुछ खनिज है उतना ही है। अतः उसकी रक्षा होनी चाहिये, नहीं तो थोड़े दिनोंमें ख़त्म हो जायगा और बादमें आने-वालोंको कुछ न मिलेगा। पर यह रक्षा पूँजीपति नहीं कर सकता। उसको तो मुनाफ़ा चाहिये, आजसे पचास सौ वर्ष पीछे जो लोग पैदा होंगे वह क्या करेंगे, इससे उसका कोई सरोकार नहीं है। वह चाहेगा कि खानोंको यथासम्भव खाली कर डाले। यह बड़ा भारी भयस्थल है। यह शङ्का काल्पनिक नहीं है। अभी कुछ ही वर्ष हुए अमेरिकामें इसका एक रूप देखा जा चुका है। वहाँ तेलकी कुछ खानें इसलिए सुरक्षित थीं कि यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रपर कोई विपत्ति पड़े तो नौ-सेनाके लिए उनमेंसे तेल निकाला जाय। यों उनमेंसे तेल निकालनेका ठेका किसीको नहीं दिया जाता था। पर कुछ पूँजीपतियोंने लाखों रुपया रिश्वतमें खर्च करके उनपर क़ब्ज़ा प्राप्त कर लिया। अकस्मात् भेद खुल गया और उनके हाथोंसे खानें निकल गयीं। उनमेंसे कुछको जुर्माना देना पड़ा, कुछ सरकारी अहलकारोंको दण्ड मिला, पर इससे पूँजीशाहीका कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ।

यह एक उदाहरण मात्र है पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीशाही कहाँतक जा सकती है। देश-हित, सन्तति-हित या इस प्रकारकी कोई बात उसको रोक नहीं सकती। उसको मुनाफ़ा चाहिये।

परन्तु ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह भी स्पष्ट है कि पूँजीशाही बहुत दिन टिक नहीं सकती। उसका जन्म पूँजीवादसे हुआ है परन्तु पूँजीवाद स्वगत उच्छेदकोंसे भरा पड़ा है। उसके विकासके साथ साथ ही इन उच्छेदकोंका विकास हुआ है। जबतक नये नये बाज़ार और उद्योग-व्यवसायमें पिछड़े हुए देश मिलते गये तबतक तो उच्छेदक किसी न किसी प्रकार दबते गये पर अब ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूँजीशाहीका अन्त करके छोड़ेंगे। पर इनसे लड़नेका प्रयत्न प्राणपणसे किया जा रहा है और इस प्रयत्नमें पूँजीशाही जगत्की सुखशान्तिको ध्वस्त कर रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारहवाँ अध्याय

साम्राज्यशाही

हिन्दीमें साम्राज्यशाही प्रचलित शब्द नहीं है, साम्राज्यवाद ही प्रायः सुन पड़ता है। परन्तु इसमें भी वही आपत्ति है जो हमने पूँजीवादके सम्बन्धमें दिखलायी थी। 'साम्राज्यवाद'* से यह ध्वनि निकलती है कि यह कोई सिद्धान्त है। वस्तुतः यह कोई विशेष सिद्धान्तकी बात नहीं है, आजकलकी एक वस्तुस्थितिका नाम है। उस वस्तुस्थितिको 'साम्राज्यशाही'† कहना ही अधिक ठीक प्रतीत होता है। हिन्दीमें इस अर्थके एक ही अंग्रेज़ी पर्य्यायके कारण नामकरणकी कठिनाई उत्पन्न हुई है।

साम्राज्यशाहीकी बहुतसी परिभाषाएँ की गयी हैं। उन सबके यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है। पर उन सबका निचोड़ यह है कि 'साम्राज्यशाही' वह अवस्था है जिसमें पूँजीपति राजशक्तिकी सहायतासे दूसरे देशोंके आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण करते हैं। इस विषयपर बहुत बड़ा साहित्य मौजूद है। इसमें सबसे प्रामाणिक पुस्तक लेनिनकी 'इम्पीरियलिज़म' है।

साम्राज्य तो पहले भी थे। अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, अकबर सभी सम्राट् थे पर उन दिनोंके साम्राज्य आजकल जैसे न थे। सभी सभ्य और अर्द्धसभ्य देशोंकी आर्थिक स्थिति प्रायः एकसी थी। सामन्त सरदारोंके हाथमें अधिकार था। जब कोई राज्य कुछ बलवान् होता था या वहाँका नरेश महत्वाकांक्षी होता था तो अपनी मान और अधिकार-वृद्धिके लिए

---

* † Imperialism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ोसके राजोंपर आक्रमण किया जाता था। यदि शक्ति हो तो शरत्कालके आरम्भमें सीमोल्लङ्घन करना राजाका धर्म्म माना जाता था। महत्वाकांक्षी राज किस प्रकार मित्रों और तटस्थों-का चक्र बनाये, इसके लिए राजनीतिके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुतसे नियम बताये गये हैं। जब कोई दृढ़ साम्राज्य स्थापित हो जाता था तो व्यापार-व्यवसायकी भी वृद्धि होती थी और विजयी राजको कई प्रकारके लाभ, जिनमें आर्थिक लाभ भी अन्तर्गत है, होते थे परन्तु साम्राज्य बढ़ानेके प्रयत्नका मूल प्रेरक विजिगीषा ही होती थी। मध्य एशियासे कई जातियाँ आर्थिक कारणोंसे प्रेरित होकर अपना मूलस्थान छोड़कर दूसरे देशोंमें गयीं और इनमेंसे कइयोंने साम्राज्य भी स्थापित किये पर इनका उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना नहीं था। साम्राज्य तो पीछे स्थापित हुए। जब यह घरसे निकलीं उस समय तो इनको केवल दूसरे घरकी तलाश थी।

आजके साम्राज्य—जैसे ब्रिटिश, फ्रेञ्च, जापानी, इटालियन साम्राज्य--दूसरे ही ढङ्गके हैं। यह कोरी शान-शौकतके लिए नहीं स्थापित किये गये हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक है। आज साम्राज्यके पीछे साम्राज्यशाही होती है और साम्राज्यशाही तभी सम्भव होती है जब वैश्य-वर्गके हाथमें राजकी लगाम आ जाती है।

हमने ऊपर कहा है कि साम्राज्यशाहीका तात्पर्य यह है कि एक देशके पूँजीपति दूसरे देशके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करें। इस नियन्त्रणके कई स्वरूप हैं, जैसे उस देशके उत्पन्न कच्चे माल (अन्न, तेल, तेलहन, रुई इत्यादि) को अपने ही हाथ विकने देना और वह भी सस्ते दामोंपर, उस देशमें अपने ही देशके बने मालको विकने देना चाहे वह महँगा भी हो, उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशके रोज़गारमें अपना रुपया लगाना और इस प्रकार व्याजमें वहाँसे बड़ी रक़म वसूल करना, अपने देशकी बढ़ी हुई जन-संख्याको उस देशमें बसा देना और उपजाऊ भू-भागोंको अपने जातिवालोंके क़ब्ज़ेमें देकर वहाँवालोंको मज़दूरोंकी परिस्थितिमें गिरा देना।

साम्राज्यशाही पूँजीशाहीका अवश्यम्भावी परिणाम है। जो लोग पूँजी लगाकर मुनाफ़ेके लिए व्यवसाय करते हैं उन्हें बाज़ार चाहिये ही। केवल अपने देशके बाज़ारसे तृप्ति नहीं होती, क्योंकि आपसकी प्रतियोगितासे भरपेट लाभ किसीको नहीं होता। इसलिए बाहर बाज़ारकी खोज होती है। यदि सब देश एकसे बलवान् और उन्नत हों तो बाज़ार सुगमतासे नहीं मिल सकता, इसलिए जो दुर्बल होते हैं उन्हें ही दबानेका प्रयत्न किया जाता है। व्यवसायी अपने प्रयत्नसे ऐसा कर नहीं सकते, इसलिए उनके देशकी सरकारें, जिनपर व्यवसायियोंका काफ़ी प्रभाव रहता है, इस काममें अग्रसर होती हैं। इसीलिए यह प्रतियोगिता बड़ी भीषण हो जाती है। जब किसी एक देश-पर दो या दोसे अधिक पूँजीवादी देशोंकी आँख गड़ती है, अर्थात् दो या दोसे अधिक देशोंके पूँजीपति उसपर नियन्त्रण करनेके इच्छुक होते हैं, तो इस सङ्घर्षका निबटारा तलवार ही कर सकती है। कोई न कोई बहाना ढूँढ़ लिया जाता है। पर पूँजीपति स्वयं तलवार नहीं चलाते। देशभक्तिकी लम्बी-चौड़ी बातें सुनायी जाती हैं और देशपर विपत्तिका भय दिखलाया जाता है। इस प्रकारके झूठे प्रचारसे उत्तेजित करके लाखों मज़दूर और किसान, जिनको किसीसे द्वेष नहीं और न विजयसे कोई लाभ उठाना है, कटवा दिये जाते हैं। सारे देशकी धन-जन-शक्ति इन थोड़ेसे अर्थलोलुपोंके स्वार्थपर आहुति कर दी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है, जैसा कि संयुक्त राजके आभ्यन्तर विभागके एक भूतपूर्व मन्त्री श्री फ्रैङ्क्लिन लेनने एक अवसरपर कहा था "यदि न केवल व्यक्ति वरन् अपनी सरकारोंके द्वारा स्वयं राज्ञ आर्थिक प्रतियोगितामें भाग लेंगे और अपनेको महाजनोंकी कोठियों या कारखानोंका रूप दे लेंगे तो फिर व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता से उत्पन्न निरन्तर झगड़ोंके शान्त होनेकी कोई आशा नहीं की जा सकती।"

आर्थिक नियंत्रण करनेके कई साधन हैं। इनमें सबसे सीधा और पुष्ट यह है कि उस देशका शासन अपने हाथमें आ जाय अर्थात् वह अपने राज्यमें मिला लिया जाय। ब्रिटिश साम्राज्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। भारत इसीलिए ब्रिटिश साम्राज्यमें है कि उसका आर्थिक शोषण बे-रोकटोकके हो सके। इसी उद्देश्य-से इटलीने अबीसीनियाकी चिरकालीन स्वाधीनताका अपहरण किया है और जापानने चीनके मंचूरिया प्रान्तको हज़म कर अन्य भागोंपर क़ब्ज़ा करनेके लिए दो वर्षोंसे युद्ध ठान रखा है। स्वतंत्र कोरियाको वह इसके पहले ही साफ़ कर चुका था।

शासन अपने हाथमें आने पर शासित देशकी आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार उलट-पुलट कर दी जा सकती है इसका उदाहरण भी भारतसे ही ख़ूब मिल सकता है। सं० १८७१ में अन्तिम मराठा युद्ध समाप्त हुआ और पंजाब छोड़कर सारे भारतमें कम्पनीका शासन सुदृढ़ हो गया। इसके २० वर्षके भीतर ही दोनों देशोंके व्यापार-व्यवसायका क्या स्वरूप हो गया वह देखने योग्य है।

	भारतसे कितने थान सूती कपड़े गये	ब्रिटेनसे कितने थान आये
सं० १८७१	१२,६६,६०८	८,१८,२०८
सं० १८९२	३,५६,०८६	५,१७,७७,२७७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतसे ब्रिटेन गये कपड़ेका मूल्य		ब्रिटेनसे आये कपड़े का मूल्य
सं० १८७२	१,९५,००,०००)	३,९४,५००)
सं० १८८९	१५,००,०००)	६०,००,०००)*

यह परिवर्त्तन हुआ कैसे ? भारतका जगत्प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसाय किस प्रकार नष्ट किया गया, उसे कोई भारतीय जल्दी भूल नहीं सकता पर यहाँ उस करुणकथाको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही स्मरण रखना पर्य्याप्त है कि ब्रिटेनसे आनेवाले सूती और रेशमी कपड़ेपर ३॥) सैकड़ा और ऊनी कपड़ेपर २) सैकड़ा ज़कात ली जाती थी पर ब्रिटेनमें भारतके बने हुए सूती कपड़ेपर १०) सैकड़ा, रेशमी कपड़ेपर २०) सैकड़ा और ऊनी कपड़ेपर ३०) सैकड़ा ज़कात लगती थी।

यह शोषणकी धारा अभी बन्द नहीं हुई है। अपने उद्योग-धन्धोंके नष्ट हो जाने पर भारतको हठात् कृषिप्रधान देश बनना पड़ा। पहले वह केवल अपने खाने भरको अन्न उत्पन्न करता था। अब उसे बाहरसे आनेवाले मालका मूल्य चुकाना पड़ता है। इसलिए न केवल अन्न परन्तु अन्य वस्तुएँ भी बाहर भेजनेके लिए उत्पन्न करनी पड़ती हैं। फिर भी आजकल पूरा नहीं पड़ता। पिछले कई वर्षोंसे देशमें जहाँ जो कुछ सोना पड़ा था वह खिंचकर बाहर जा रहा है, तब कहीं जाकर क्रय-विक्रयका हिसाब बराबर हो रहा है। अन्य देश सोनेका सञ्चय करते हैं पर भारत अपनी अर्थनीतिका आप विधाता नहीं है अतः वह सोना बाहर भेजता है। सोना कितना जा रहा है इसका अनुमान इसीसे हो सकता है कि सं० १९८९ में ५८ करोड़-

---

* यह आँकड़े डा० अहमदकी ऐग्रेरियन प्राब्लेम इन इण्डियासे लिये गये हैं। यहाँ सुविधाके लिए एक पौण्ड पन्द्रह रुपयेके बराबर मान लिया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का और १९९० में उससे भी बढ़कर ६८ करोड़ ३० लाखका सोना गया। यह कहना अनावश्यक होगा कि इसका बड़ा भाग सीधे ब्रिटेन गया। ज़रासा क़लम फेर देनेमें सरकार करोड़ोंका वारा-न्यारा कर सकती है। भारतीय लोकमतका कहना यह है कि पौण्ड और रुपयेके विनिमयमें सरकार हस्तक्षेप न करे। पौण्डमें जितना सोना है और रुपयेमें जितनी चाँदी है उसके हिसाबसे भाव आप ही ठीक हो जायगा। दो देशोंके सिक्कोंमें ऐसा ही होता है। पर यदि कुछ स्थिर करना ही है तो १ पौण्ड १५) के बराबर माना जाय। सरकारने ज़बर्दस्ती उसे १३।-) का मान लिया है। इससे ब्रिटेनवालोंको भारतका कच्चा माल सस्ता पड़ गया और भारतमें अंग्रेज़ी माल सस्ता हो गया। यहाँसे कच्चा माल खिंचकर चला जाता है और अंग्रेज़ी मालसे बाज़ार पट गये हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रुपया तो चाँदीका है पर अब ब्रिटेनमें सोनेका पौण्ड नहीं चलता। वहाँ काग़ज़ चलता है। भारतका चाँदीका रुपया इस काग़ज़के टुकड़ेके साथ इस ज़बर्दस्तीकी दरपर नत्थी है।

साम्राज्यवादी देश अपनी नीयतको साफ़ शब्दोंमें नहीं व्यक्त करते। प्रायः यही कहते हैं कि यहाँके निवासी अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिका उपयोग नहीं कर रहे हैं। हम उसको मनुष्यमात्रके हितके लिए उपयोगमें लायेंगे और इन लोगोंकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करेंगे। करनेको दोनों बातें की जाती हैं। जङ्गल कटने लगते हैं, खेती ज़ोरोंसे होने लगती है और खानें खुदने लगती हैं। शिक्षालय, नाट्यशाला, सिनेमा-हाल खुल जाते हैं। मूल निवासियोंको नये-नये शौक़ सिखाये जाते हैं ताकि वे अपने स्वामियोंकी बनायी वस्तुओंको मोल लें। इस बातका भी प्रयत्न किया जाता है कि उनके पास चार पैसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहे ताकि वह बाहरसे आयी वस्तुओंको मोल ले सकें पर इस बातकी पूरी चेष्टा की जाती है कि वह कोई ऐसा व्यवसाय न करें जिससे उनके प्रभुओंको क्षति पहुँच सके।

दूसरे देशको अपने राज्यमें मिला लेना तो आर्थिक नियन्त्रण-का प्रमुख और प्रत्यक्ष साधन है ही पर कभी कभी ऐसा करना उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसी अवस्थामें अप्रत्यक्ष साधनोंसे काम लिया जाता है। एक साधन प्रभाव-क्षेत्रोंका* स्थापित करना है। सं० १९७१ के महायुद्धके पहिलेका फ़ारस इसका अच्छा उदाहरण है। बिना फ़ारस सरकारसे पूछे रूस और ब्रिटेनने आपसमें समझौता करके फ़ारसको दो अधिकार-क्षेत्रोंमें बाँट लिया था। इसका तात्पर्य्य यह था कि उत्तर फ़ारसका आर्थिक शोषण रूस और दक्षिण फ़ारसका ब्रिटेन करे। उत्तरमें रूसने अपने हितोंकी रक्षाके लिए सैनिक रख छोड़े थे, दक्षिणमें ब्रिटेनने। दोनों मिलकर फ़ारस सरकारको दबा रहे थे कि अपनी पुलिस और सेनाका सुधार करो। इसका मतलब यह था कि पुलिस और सेना सुशिक्षित हो जाती और उनके अफ़-सर अंग्रेज तथा रूसी होते। नामको राष्ट्रिय होते हुए भी वह इन विदेशियोंके इशारेपर नाचती। फ़ारस बेचारेने अपनी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए एक अमेरिकन श्री शस्टरको बुलाया पर यह बात अंग्रेज़ और रूस सरकारोंको पसन्द न आयी। शस्टरको लौट जाना पड़ा। उनकी लिखी 'दि स्ट्रैङ्ग-लिङ्ग आव पर्शिया' (फ़ारसकी गला घुँटाई) तत्कालीन अवस्था-पर अच्छा प्रकाश डालती है। फ़ारसको इन्हीं दोनों सरकारों-से ऋण लेनेके लिए विवश किया जा रहा था। इन्हींके रुपयेसे

---

* Spheres of Influence (स्फीयर्ज़ ऑव इनफ्लूएन्स).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रेल चलती। तेलकी खानोंका ठेका वड़ी ही सस्ती शर्तोंपर एक अंग्रेज़ कम्पनीको दे दिया गया। इस प्रकार जकड़ जाने पर स्वतन्त्र कहलाता हुआ भी फ़ारस इन दोनोंके हाथोंसे कदापि न निकल पाता। परन्तु महायुद्धने उसे अवसर दे दिया। अंग्रेज़ और रूस दोनों लड़ाईमें लग गये। युद्धके वाद रूसकी नयी समाजवादी सरकारने स्पष्ट कह दिया कि हम साम्राज्यशाहीके विरुद्ध हैं अतः फ़ारसमें हमारा कोई प्रभाव-क्षेत्र नहीं है। अब अंग्रेज़ोंके लिए कोई बहाना नहीं रह गया। इनको भी हटना पड़ा। फ़ारसके प्राण बच गये।

तीसरा उपाय संरक्षण* स्थापित करना है। संरक्षणका अर्थ यह है कि संरक्षित राज अपने आभ्यन्तर शासनमें तो स्वतन्त्र है किन्तु परराजोंसे उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह उसके संरक्षकके हाथमें रहता है। यह भीतरी शासनकी स्वाधीनता भी काग़ज़ी वस्तु है। इसमें अनेक प्रकारकी रुकावटें होती हैं। उसको संरक्षककी इच्छाके अनुसार सारा शासन चलाना पड़ता है। मिश्रसे इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। महायुद्धके छिड़नेके समयतक मिश्र नामको तुर्क साम्राज्यका अङ्ग था। उसके नरेशकी उपाधि खदीव थी। युद्ध छिड़ने पर अंग्रेज़ोंके कहनेसे मिश्रने अपनेको स्वतन्त्र घोषित किया और तत्काल ही अंग्रेज़ोंने उसे अपने संरक्षणमें ले लिया। नामको प्रत्येक विभागके ऊपर एक मिश्री मन्त्री होता था पर उसके साथ अंग्रेज़ परामर्शदाता लगे रहते थे। इनकी सलाह माननी ही पड़ती थी। पुलिस और सेनाके अफ़सर अंग्रेज़ थे और राज्यमें कई जगह अंग्रेज़ी सेनाकी छावनियाँ थीं। बहुत-

---

* Proteectorate.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से व्यवसाय अंग्रेज़ोंके हाथमें थे और सरकार अंग्रेज़ी ऋणसे लदी थी।

संरक्षित राजोंकी दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। कभी कभी तो वह संरक्षकके चंगुलसे निकल आते हैं। मिश्रके कुछ ऐसे ही लक्षण देख पड़ते हैं। परन्तु बहुधा वह संरक्षकके कण्ठके नीचे ही उतर कर रहते हैं। जापानियोंने पहले कोरियाको चीनके प्रभुत्वसे निकालकर स्वतन्त्र राज कहा, फिर अपने संरक्षणमें लिया और अन्तमें उसे जापानी साम्राज्यका अङ्ग बनाकर ही छोड़ा।

कभी कभी संरक्षण भी नहीं स्थापित होता। जिस दुर्बल राजपर कुदृष्टि पड़ जाती है, उसको दबाकर यह अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है कि हम तुम्हारे आय-व्ययका निरीक्षण किया करेंगे। संयुक्तराज इस विद्यामें बड़ा निपुण है। उसके एक भूतपूर्व राष्ट्रपति मनरोने एक बार यह घोषणा की कि संयुक्तराज अमेरिकाके बाहरके किसी भी राजको किसी अमेरिकन राजके भीतरी शासनमें हस्तक्षेप न करने देगा, न अमेरिकामें भूमि प्राप्त करने देगा। इसको मनरो सिद्धान्त कहते हैं। कोई भी स्वतन्त्रराज इसको माननेके लिए बाध्य नहीं है पर आज पचासों वर्षसे सब इसे मानते आये हैं। इसकी आड़में संयुक्त राजको बहुत कुछ मनमानी करनेका अवसर मिल जाता है। उसका कहना यह है कि हम स्वाधीनताके प्रेमी हैं। अमेरिका जाइये तो पूर्वीय समुद्रतटपर स्वातन्त्र्यकी अधिष्ठात्री देवीकी विशालकाय मूर्ति दूरसे दिखलाई देती है। इसीके साथ इन लोगोंका यह भी दावा है कि हम दूसरोंकी स्वाधीनतामें भी हस्तक्षेप नहीं करते पर यह सब कहनेकी बातें हैं। इसी मनरो सिद्धान्तके सहारे संयुक्तराजकी साम्राज्यशाही खुलकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खेलती है। अमेरिकन महाद्वीपमें बहुतसे छोटे छोटे राज हैं। उनमें आपसमें युद्ध भी होते रहते हैं तथा अन्य कारणोंसे भी रुपयेकी आवश्यकता पड़ जाती है। कभी कभी वह यूरोपियन महाजनों-से भी रुपया लेते हैं। बस, संयुक्तराज ऐसे ही अवसरकी ताक-में रहता है। वह कहता है कि तुम ऋण तो ले रहे हो पर इसे चुका नहीं सकते। मनरो सिद्धान्तके अनुसार हम यूरोपियन महाजनोंको तुम्हारे यहाँ हस्तक्षेप करने देंगे नहीं। अतः यह आवश्यक है कि हम तुम्हारा घर संभाल दें। वह बेचारा बोल नहीं सकता। आप उसकी आर्थिक अवस्थाके निरीक्षक और अमात्य बन जाते हैं। आय यों बढ़ायी जाय, व्यय यों कम किया जाय, महाजनको इतनी क़िस्त दी जाय, सब तय किया जाता है। इसके लिए उसको संयुक्त राजसे ऋण लेना पड़ता है और ऋण चुकानेके लिए अपनी आयका कोई विभाग जैसे रेल या जङ्गल या ज़कात कई वर्षके लिए सौंप देना होता है। इस सबकी देख-भालके लिए संयुक्तराज वहाँ थोड़ी-सी सेना और एक दो जहाज़ रखता है। नामको स्वतन्त्रतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता पर आर्थिक और उसके द्वारा राजनीतिक जीवन दूसरेके हाथमें चला जाता है। अमेरिकन साम्राज्यशाहीने सं० १९५५ से १९७४ के भीतर किसी न किसी बहाने लगभग ९०,००० वर्ग कोस भूमिपर अधिकार प्राप्त किया है जिसपर २ करोड़के लगभग मनुष्य बसे हुए हैं। जहाँ इटली जैसे देश खुलकर दूसरे देशोंको ग़ुलाम बनाते हैं, वहाँ अमेरिका सूक्ष्म उपायोंसे काम लेता है। उसकी नीति यह है कि साँप मर जाय पर लाठी न टूटे। वह अपने शोषितोंकी काग़ज़ी स्वतन्त्रता बनाये रखकर अपनी आत्मा-को शान्त कर लेता है। ऐसी अवस्थामें स्वतन्त्रताका क्या अर्थ होता है यह एक सरकारी काग़ज़से प्रकट होता है जिसको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयुक्तराजकी सरकारने प्रकाशित किया था। उसपर लिखा था 'गोप्य, केवल सरकारी कामके लिए' पर किसी प्रकार उसको नियरिंग और फ़्रीमैनने अपनी 'डॉलर डिप्लोमैसी'में उद्धृत किया है। इस काग़ज़के अनुसार ऐसे रक्षित राजोंके साथ की गयी सन्धियोंमें जहाँ 'स्वतन्त्रता' का शब्द आता है उसका अर्थ यह नहीं है कि उनको अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेका पूरा अधिकार है वरन् इतना ही कि उनपर कोई ऐसी रुकावट नहीं है जिससे कि उनका अन्ताराष्ट्रिय अस्तित्व मिट जाय और सैद्धान्तिक क़ानूनी दृष्टिसे उनके स्वभाग्यनिर्णयका अधिकार छिन जाय'। अतः ऐसी अवस्थामें स्वतन्त्रता 'सैद्धान्तिक और क़ानूनी वस्तु' है, व्यवहारमें वरतनेके लिए नहीं।

कभी कभी आर्थिक निरीक्षणका रूप भी नहीं दिया जाता क्योंकि इसमें भी निरीक्षित राजकी स्वाधीनतामें प्रत्यक्ष अन्तर पड़ता है और यह बात उसको खलती रहती है। ऐसे राज जिनका राज्य-विस्तार या नाम बड़ा है इस प्रकार खुलकर अपनी स्वाधीनताको रुकवाना पसन्द नहीं करते पर युद्धसे थककर या किसी बलवान् पड़ोसीसे अपनी रक्षा करनेके लिए उन्हें रुपयेकी आवश्यकता पड़ती है। जो राज नये नये स्वाधीन होते हैं उनको अपने विकासके लिए भी धनकी आवश्यकता होती है। पूँजीशाही देश इसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। यदि अवसर लग गया तो उससे बराबरीकी सन्धि करते हैं ताकि उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे और उसको यथेष्ट ऋण देते हैं। साथ ही यह शर्त भी करा लेते हैं कि कमसे कम इतने रुपयेका अमुक अमुक प्रकारका माल प्रतिवर्ष हमारे देशसे मोल लिया जायगा, हमारे मालपर इतनेसे अधिक ज़कात न ली जायगी, इत्यादि। इस प्रकार ऋण देनेवाले देशके महाजनों और व्यवसायियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनोंको लाभ होता है और दीर्घ कालके लिए एक शिकार हाथ लग जाता है।

कभी कभी किसी देशके पूँजीपति किसी ऐसे देशमें धीरे-धीरे आप ही प्रवेश करने लगते हैं जिसमें प्राकृतिक सम्पत्ति, जैसे जङ्गल या कृषियोग्य भूमि या खान, बहुत है पर काममें नहीं लायी जा रही है। वह धीरे धीरे इस सम्पत्तिपर क़ब्ज़ा प्राप्त कर लेते हैं। कुछ आप मोल ले लेते हैं, कुछ वहींके कुछ निवासियोंको रुपया देकर उनके नामसे ले लेते हैं। इस प्रकार देशके आर्थिक जीवनपर क्रमशः उनका अधिकार हो जाता है। उनकी सरकार उनकी पीठपर रहती है पर जबतक शोषित देश चुप रहता है तबतक आप भी कुछ नहीं बोलती। एशिया-में कई जगह ऐसा ही किया गया। चीनके साथ ब्रिटेन, फ़्रांस, संयुक्तराज और जापान सभी ऐसा करना चाहते थे और हैं। परन्तु यदि वह देश अपने जीवनको आप सँभालना और शोषणका अन्त करना चाहे तो फिर शोषक पूँजीपतियोंकी सरकार सामने आती है और साम्राज्यशाहीका नग्न रूप देख पड़ जाता है। जापान और चीनके निरन्तर सङ्घर्षका यह भी एक रहस्य है। मेक्सिको संयुक्तराजके दक्षिण पड़ता है। उसके आर्थिक जीवनको इसी प्रकार संयुक्तराजके पूँजीपतियोंने अपने हाथमें कर रखा था। मेक्सिकोके राजनीतिक दलोंके मिथः कलहके कारण न कोई बलवती सरकार होने पाती थी, न कोई रोक-टोक करता था। पर जब कराञ्ज़ा मेक्सिकोके राष्ट्रपति हुए तो उन्होंने देशको सँभाला। उसका शासनविधान भी बदला गया। इस नये विधानकी २७ वीं धारा कहती है—

(क) कोई विदेशी कम्पनी या व्यक्ति बिना अपने देशकी नागरिकताका त्याग किये और मेक्सिकोका नागरिक बने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेक्सिकोमें किसी खान, तेलके कुएँ, भूमि या मकानको हासिल न कर सकेगी या यदि ऐसी सम्पत्ति उसके क़ब्ज़ेमें हो तो उसे न रखने पायेगी।

(घ) किसी भी दशामें कोई विदेशी व्यक्ति या कम्पनी अपने देशकी सीमासे ३० कोसके और समुद्र-तटसे १५ कोसके भीतर भूमि या जलपर स्वास्थ्य हासिल न कर सकेगी और यदि ऐसी भूमि या जलपर क़ब्ज़ा होगा तो वह उसे रखने न पायेगी। (यह धारा इसलिए रखी गयी कि :यह विदेशी लोग देशपर आक्रमण करनेवाली जल या स्थल सेनाकी सहायता न कर सकें।)

(च) सं० १९३२ के वाद प्राकृतिक सम्पत्तिपर क़ब्ज़ा हासिल करनेके सम्बन्धमें जितने ठेके हुए हैं उन सबपर वर्तमान सरकार पुनः विचार करेगी और उसको यह अधिकार दिया जाता है कि उचित समझे तो उन्हें रद कर दे।

इस प्रकारकी धाराओंसे अमेरिकन साम्राज्यशाहीकी भारी क्षति हुई। सरकार पूँजीपतियोंकी ओरसे खड़ी हो गयी। सैनिक प्रदर्शन हुआ। खुलकर कोई युद्ध नहीं हुआ पर भीतर भीतर अबतक तनाव जारी है।

साम्राज्यशाहीके पास बहुतसे हथकण्डे हैं। एक ओर स्वाधीनोंको दास या अर्द्धदास बनाया जाता है, दूसरी ओर दासोंको स्वतन्त्र बनानेका नाटक किया जाता है। चीन और जापान दोनों ही राष्ट्रसङ्घके सदस्य थे पर जापानने बिना किसी भी न्याय्य कारणके चीनका ईशानकोणस्थ मंचूरिया प्रान्त हस्तगत कर लिया। इस खुली लूटके सामने किसीने चीनकी सहायता न की। परन्तु मंचूरियापर क़ब्ज़ा करके जापानने एक नया स्वाङ्ग रचाया। उसने उसको 'स्वतन्त्र' कर दिया। उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम मञ्चुकुओ पड़ गया और चीनके निकाले सम्राट् उसके सम्राट् बना दिये गये। इस 'स्वतन्त्र' देशसे जापानने सन्धियाँ की हैं। मञ्चुकुओकी सेनाके अफ़सर जापानी हैं और उसका सारा नियन्त्रण जापान करता है। शासनके सभी विभागोंमें मञ्चू मन्त्रियोंके साथ जापानी अमात्य लगे हुए हैं जिनका परामर्श आज्ञाकी शक्ति रखता है। देशके सभी उर्वर भागोंमें जापानी बसते जा रहे हैं और खानोंके ठेके जापानियोंके हाथमें हैं। मञ्चुकुओका समस्त आर्थिक और राजनीतिक जीवन जापानके हाथमें है, फिर भी वह स्वतन्त्र कहलाता है। इसमें जापानको कई लाभ हैं। एक तो शासनका खर्च अपने ऊपर नहीं आता। दूसरे, जापानी साम्राज्यशाहीकी तृष्णा अभी तृप्त नहीं हुई है। मंचूरियाकी दक्षिणी सीमापर चीनी अधिकारियोंसे जो झगड़े होते थे उनमें मञ्चुकुओको आगे कर देता था और अपने नामसे जहाँतक हो सके झगड़े बचाता था, यद्यपि बादमें अवसर देखकर वह खुल्लमखुल्ला उलझ ही पड़ा। सबसे बड़ी बात यह है कि मञ्चुकुओके ठीक उत्तर रूस है। सीमापर जापान और रूसके हित टकराते और झगड़े आये दिन खड़े रहते हैं। उधर भी मञ्चुकुओकी सरकार आगे कर दी जाती है। जबतक लड़ना नहीं है तबतक यह ढोंग है कि मञ्चुकुओकी सरकार रूसकी ज्यादतीको शान्तिके साथ सहती जाती है, जब लड़ना होगा तो अपने मित्र मञ्चुकुओकी सहायताके लिए जापान रूससे भिड़ जानेमें भी न चूकेगा। हालकी कुछ घटनाओंसे इसका आभास भी मिलने लगा है।

यह कहना अनावश्यक है कि इस प्रकारका नियंत्रण शोषित देशके लिए बुरा है। यदि कुछ राष्ट्र मिलकर निष्पक्ष और मित्र-भावसे किसी पिछड़े राष्ट्रके अभ्युदयमें सहायता देना चाहें तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और बात है, पर ऐसा होता नहीं । कोई न कोई बलवान् राष्ट्र किसी दुर्बलके कंधोंपर ही सवार होता है। यह हो सकता है कि दस डाकुओंके हाथों लुटनेसे एक डाकूके हाथ लुटना श्रेयस्कर हो। इस नीतिसे एक बलवान् राष्ट्रके पल्ले बँधे दुर्बल राष्ट्र भाग्य-वान् माने जा सकते हैं पर इसका मूल्य उनको बहुत देना पड़ता है। उनका व्यक्तित्व मिट जाता है और यदि उनका प्रभु या संरक्षक किसी युद्धमें फँस गया तो उनको भी व्यर्थ उसके साथ पिसना पड़ता है।

पर इन सब बातोंसे बढ़कर यह बात है कि साम्राज्यशाही-का भविष्य अंधकारपूर्ण है और उसके साथ ही पृथ्वीका भविष्य भी भयावह है। पहिले तो अफ्रीकाका बहुतसा भाग यूरोप-वालोंके सौभाग्यसे खाली पड़ा था। खालीका अर्थ यह नहीं है कि वह जनशून्य था वरन् इतना ही कि वहाँके निवासी बर्बर थे अर्थात् यूरोपवालोंका सामना करनेमें असमर्थ थे। इसलिए जब जिसको अवसर मिला उसने अफ्रीकाका उतना भाग दबा लिया। एशिया महाद्वीपकी अवस्था ऐसी न थी। यहाँके अधिकांश देश दुर्बल भले ही पड़ते हों पर बर्बर नहीं थे। अफ्रीकामें यूरो-पियन बस सकते थे। वहाँ उन्होंने उपनिवेश बसाये। एशियामें बसना सम्भव नहीं था। यहाँके देश अर्द्ध-उपनिवेश रह गये। शोषण एशिया और अफ्रीका दोनोंका हुआ पर प्रकारमें भेद था।

अब यह बात इतनी सुकर नहीं है। पृथ्वी रबड़की भाँति खींचकर बढ़ायी नहीं जा सकती। अब या तो ऐसे देश रह गये हैं जो अपनी रक्षा कर सकते हैं अर्थात् जिनका शोषण दूसरे जल्दी कर नहीं सकते या ऐसे देश हैं जो किसी न किसी प्रबल राजके द्वारा शोषित हो रहे हैं। अफ्रीका प्रायः सारा बँट चुका है। एशियामें भी कोई कोना बचा नहीं देख पड़ता। एक चीन है, उसकी चाहे जो गति हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक और कठिनाई है। कई देश जो अबतक शोषित थे, धीरे धीरे सँभल रहे हैं। राजनीतिक परिस्थितियोंकी सहायतासे उनको अपने पाँवपर खड़े होनेका अवसर मिल रहा है। जो राजनीतिकी दृष्टिसे स्वतंत्र नहीं हैं, उनमें भी राष्ट्रीय चेतना जाग रही है। स्वयं साम्राज्यशाहीने अपने निर्दय शोषणसे उनको जगाया है पर अब उनका शोषण कठिन होता जाता है। भारतमें अंग्रेज़ोंको इसका अनुभव होने लगा है। पर ज्यों ज्यों शोषणका क्षेत्र संकुचित होता जाता है, त्यों त्यों साम्राज्यवादियोंकी लिप्सा बढ़ती जाती है। आपसकी प्रतियोगिता और तीव्र होती जाती है। ऐसा माना जाता है कि बलवान् राज, अर्थात् वह राज जिनकी पूँजीशाही विकसित है, दो वर्गोंमें विभक्त हैं। कुछ तृप्त * हैं और शेष अतृप्त† हैं। तृप्त वह हैं जिनके पास पर्याप्त उपनिवेश हैं, अतृप्त वह हैं जिनके पास उपनिवेशोंकी कमी है। तृप्त राजोंका उत्कृष्टतम उदाहरण ब्रिटेन है; इटली और जर्मनी, जिसके सारे उपनिवेश युद्धके बाद छिन गये, अतृप्तोंमें अग्रगण्य हैं। पर यह विभाग स्थायी नहीं हो सकता। पहिले तो तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती। ब्रिटेनके पूँजीपतियोंके द्वार बन्द होते जा रहे हैं। कई बाज़ार उसके हाथसे निकल गये, इसलिए मुँहसे नहीं नहीं कहते हुए भी वह सदैव अतृप्त रहता है। आज जो राज इतने पिछड़े हुए हैं कि उनकी गिनती अतृप्तोंमें भी नहीं हो सकती वह कल उन्नत हो सकते हैं। उनकी जन-संख्या बढ़ सकती है, उद्योग-व्यवसाय बढ़ सकता है। फिर उन्हें भी उपनिवेशोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लगेगी। पोलैण्ड डेढ़सौ वर्ष तक जर्मनी, आस्ट्रिया और

---

* Satiated Powers. † Un-satiated Powers। इनको कभी कभी Haves और Have-nots भी कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूसके अधीन था। अभी महासमरके बाद स्वतंत्र हुआ है। अब तो वह भी उपनिवेशोंके लिए आवाज़ उठाता है। अतः वस्तुतः तृप्त तो कोई नहीं है पर जिनके पास बहुत उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश हैं वह अवश्य यह चाहते हैं कि अब यह होड़ बन्द हो जाय क्योंकि उनको यह डर है कि उनका वशवर्ती भू-भाग कहीं हाथसे न निकल जाय। दूसरी ओर अतृप्तोंकी संख्या बढ़ती जाती है।

पहिले तो गोरी जातियाँ रंगीन जातियोंके देशोंको ही अपना दैव-निर्मित शिकार समझती थीं पर अब तो उनको अगत्या एक दूसरेपर भी वक्र-दृष्टि डालनी पड़ती है। लड़ाईके बाद जर्मनीको पंगु करके उससे युद्धका हर्जाना लेनेके लिए जो आयोजन किया गया था* वह शोषणका नग्न रूप था। उसका निचोड़ यह था (क) जर्मनी तम्बाकू, शक्कर, शराब और ज़कातकी आयसे १ अरब २५ करोड़ स्वर्ण मार्क प्रति वर्ष दिया करे। (ख) इसके अतिरिक्त रेलों, यातायातके अन्य साधनों तथा व्यवसाय-व्यापारकी आयसे २ अरब ५० करोड़ स्वर्ण मार्क दिया जाय। यह रक़म जो (ख) के अन्तर्गत है सं० १९८५ तकके लिए थी। इसके बाद यदि जर्मनीकी आय बढ़े तो उसी अनुपातसे यह रकम भी बढ़ायी जाय। जैसे यदि किसी वर्ष जर्मनीकी आय १९८४ की आयसे २०% बढ़ जाय तो उस साल उसको २५० करोड़ + २५० का २०% देना पड़ेगा। तमाशा यह है कि इतनी बड़ी-बड़ी रक़में तो माँगी गयीं पर कोई अवधि नहीं रखी गयी कि जर्मनी कबतक देता रहे। अब जर्मन सरकार इतनी बलवान् हो गयी है कि वह फूटी कौड़ी भी नहीं देती। यह तो हारे हुए जर्मनीकी बातें हैं। अब तो जर्मनी

* Dawes' Plan.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे देशोंको आत्मसात भी करता जा रहा है और शक्तिशाली मित्र राष्ट्र उसकी बढ़ी हुई शक्तिसे भयभीत होकर आत्मरक्षाके लिए चिन्तित हो रहे हैं। हिटलरने अपनी पुस्तक माइन कैम्फ़में स्पष्ट लिखा है कि जर्मनी अपनी पूर्वीय सीमाका भू-भाग, अर्थात् रूसका पश्चिमी प्रदेश, लेना चाहता है।

यह महत्वाकांक्षाएँ कैसे पूरी होंगी ? इसका एक उपाय—और वही सबसे सीधा है—युद्ध है। आज प्रत्येक राज युद्धको तैयारीमें लगा है। जिस रुपयेसे लोकहितके हज़ारों काम होते वह रण-सामग्रीपर बहाया जा रहा है। हालमें विशेषकर जर्मनी और इटलीकी महत्वाकांक्षाओंके कारण यूरोपकी अन्ताराष्ट्रिय परिस्थिति ऐसी नाजुक हो गयी है कि युद्ध छिड़ जानेकी संभावना दिनपर दिन बढ़ती जा रही है। किसीको किसीपर विश्वास नहीं है सभी सशंक हैं ऐसी दशामें एक छोटीसी चिनगारी सारे सभ्य जगत्को अग्निशाला बना सकती है। पिछले महायुद्धमें धन-जनकी अपार हानि हुई पर इस बार जो होनेवाला है वह उससे कहीं भीषण होगा। युद्धके बाद भावी युद्धको लक्ष्य करके ही विज्ञानकी उन्नति की गयी है। जो शस्त्रास्त्र, विष, विस्फोटक आज हैं उनका तब कहीं पता भी नहीं था। अबीसीनिया और स्पेन उस अनागत रौद्रताका कुछ कुछ अनुमान कराते हैं। सम्भवतः यह युद्ध उससे अधिक व्यापक भी होगा। यदि ऐसा हुआ तो पाश्चात्य सभ्यताका कौनसा चिह्न अवशिष्ट रह जायगा, यह कहना कठिन है।

यह गृहदाह कैसे बच सकता है ? इटली-अबीसीनिया युद्धके समय ब्रिटिश सरकारके परराष्ट्र सचिव सर सैमुएल होरने एक उपाय उपस्थित किया था। उनका कहना था कि बाज़ारों और कच्चे मालके उत्पत्तिस्थानोंका आपसमें न्यायपूर्ण बँटवारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया जाय । यह बात सुननेमें अच्छी लगती है पर इसका अर्थ क्या है ? इटलीकी ओरसे तत्काल ही इसका खोखलापन दिखला दिया गया । न्यायपूर्ण बँटवारेका तरीक़ा तो यह है कि आवश्यकताके अनुसार सबको उपनिवेश दिये जायँ या सब उपनिवेशोंमें सबका समान अधिकार हो । परन्तु किसकी कितनी आवश्यकता है इसका निर्णय कैसे होगा ? फिर, जिनके पास उपनिवेश हैं यदि वह उन्हें दूसरोंको दे देंगे या सब उपनिवेशोंमें सबको समान अधिकार होगा तो फिर उपनिवेश रखनेका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। उपनिवेश तो व्यावसायिक एकाधिकारके लिए होते हैं। यदि एकाधिकार न होगा तो पूँजीपतियोंकी तुष्टि कैसे होगी ? अतः जैसा कि इटलीकी सरकारकी ओरसे कहा गया था, न्यायपूर्ण बँटवारेसे सर सैमुएल होरका इतना ही तात्पर्य हो सकता था कि जिनके पास इस समय उपनिवेश हैं वह जिनके पास नहीं हैं उनके हाथ कच्चा माल बेचा करें और अपने बाज़ारोंमें उनको भी कुछ माल बेचने दें । पर ऐसा तो अब भी न्यूनाधिक होता ही है । इससे अतृप्तोंकी तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपनिवेशोंके प्रभु जब चाहेंगे कच्चा माल रोक देंगे और बाज़ार बन्द कर देंगे ।

इन सब उपायोंमें एक और बड़ा दोष है परन्तु साम्राज्यवादी सरकारें स्वभावतः उसकी ओर ध्यान नहीं देतीं । इनके सफल होनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पृथ्वीपर कुछ ऐसे देश सदैव बने रहें जो अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिको स्वतः उपयोग न करें, जिनके निवासी राजनीति-दृष्ट्या परतन्त्र और अर्थनीति-दृष्ट्या शोषित बने रहनेको सदैव तैयार रहें, जो भेड़-बकरियोंकी भाँति निःसङ्कोच अपने स्वामी बदला करें । गोरी जातियाँ समझती हैं कि रङ्गीन जातियाँ इसीलिए बनायी गयी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वह ऐसा नहीं मानतीं कि रङ्गीनोंको आत्म-निर्णयका अधिकार है। पर अब समय बदल रहा है। रङ्गीन जातियोंकी राष्ट्रीय भावनाएँ जाग चुकी हैं। उनमें अपनी वर्तमान अवस्थाके प्रति घोर असन्तोष है और वह सशस्त्र या निःशस्त्र उपायोंसे अपने खोये हुए मनुष्यत्वको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि साम्राज्यशाही सरकारें इन्हें दबाकर रखना चाहेंगी तो यह भी लड़ेंगी। परिणाम चाहे कुछ हो, पर व्यापक संघर्ष होगा और न किसीका व्यापार-व्यवसाय पनप सकेगा, न वह शान्ति जो सबको अभीष्ट है स्थापित हो सकेगी।

इसका एकमात्र उपाय यही प्रतीत होता है कि साम्राज्यशाहीका ही अन्त कर दिया जाय। जबतक देशोंमें एक दूसरेको दबाने और एक दूसरेके आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण करनेकी अभिलाषा रहेगी तबतक शान्ति नहीं हो सकती। परन्तु साम्राज्यशाहीका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो पूँजीशाहीकी सन्तान है। जबतक पूँजीशाही निरंकुश है तबतक साम्राज्यशाहीको सांकुश करनेका प्रयास व्यर्थ है।

तेरहवाँ अध्याय

निजी सम्पत्ति

हम पहलेके अध्यायोंमें लिख आये हैं कि समाजवादी जब आजकलके जगत्की दुरवस्थाका निदान करने चलता है तो उसे इसके मूलमें दो तीन मुख्य रोग मिलते हैं। इनमें हमने वर्ग-संघर्ष और उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वका ज़िक्र किया है। उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वका ही परिणाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूँजीशाही है और पूँजीशाहीका अन्ताराष्ट्रिय परिणाम साम्राज्य-शाही है। इसीलिए इन दोनों विषयोंपर विचार करना आवश्यक था। अब थोड़ासा विचार निजी सम्पत्तिके सम्बन्धमें भी करना ज़रूरी है क्योंकि वस्तुतः उसका सम्बन्ध भी उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्वसे ही है।

लोगोंमें ऐसी धारणा फैली हुई है कि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी हैं। लोग समझते हैं कि यदि समाजवादियों के हाथमें अधिकार आ जाय तो वह धनवानोंकी सारी सम्पत्ति छीनकर निर्धनोंमें बाँट देंगे और किसीके पास किसी दूसरेसे अधिक सम्पत्ति न रहने देंगे। पहले तो इन दोनों धारणाओंमें विरोध है। यदि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी हैं तो वह बराबरका बँटवारा भी न करेंगे। दूसरे, इस बँटवारेसे कोई लाभ नहीं हो सकता। चार दिनमें फिर कोई धनिक, कोई निर्धन हो जायगा। फिर, समाजवादका उद्देश्य थोड़ेसे लोगोंको गिराना नहीं है, वह सबको उठाना चाहता है। यह उद्देश्य एक बार धनिकोंको लूटनेसे सिद्ध न होगा। एक कहानी है कि एक बार बैरन राथ्सचाइल्डके पास, जो अपने समयमें पृथ्वीके सबसे अमीर आदमियोंमें थे, दो व्यक्ति आये। वह अपनेको समाजवादी कहते थे। उन्होंने कहना आरम्भ किया कि तुमको इतना धन जमाकर रखनेका कोई अधिकार नहीं है। यह सम्पत्ति ग़रीबोंको लूटकर एकत्र की गयी है और मनुष्यमात्रमें बँट जानी चाहिये। राथ्सचाइल्ड चुपचाप सुनते जाते थे और काग़ज़पर कुछ गणना करते जाते थे। जब उनकी गणना समाप्त हुई और यह दोनों आगन्तुक भी बोलकर थक चुके तो उन्होंने दोनोंके सामने दो-दो पैसे रख दिये। वह बोले यह क्या ? राथ्सचाइल्डने उत्तर दिया—"मैं अभी यह हिसाब लगा रहा था कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि मेरी सारी सम्पत्ति पृथ्वीके मनुष्योंमें बाँट दी जाय तो प्रत्येकके हिस्सेमें कितना आयेगा। गणनासे दो पैसा आता है। आप अपना भाग ले जाइये, शेष लोग आवेंगे तो उन्हें भी दे दूँगा।" वह लोग कुढ़कर उठ गये। कहानी सच्ची हो या झूठी पर ऐसा बँटवारा समाजवादी बँटवारा न होगा।

निजी सम्पत्तिमें जो वस्तुएँ परिगणित हैं उनकी सूची बड़ी लम्बी है। घर, अन्न, वस्त्र, खेत, बाग, सवारी, बैल, भेड़, दूकान, रुपया, कारख़ाना, जहाज़, रेल, सभी निजी सम्पत्ति हो सकती हैं। परन्तु यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि किस किस प्रकारकी वस्तुओंको निजी सम्पत्तिमें गिनना चाहिये। यह देशकाल-भेदसे बदलती रहती है। कभी मनुष्योंको गुलाम रखकर उनको सम्पत्ति मानते थे। अपनी स्त्री और बच्चोंको भी सम्पत्ति माननेकी प्रथा थी। प्रथा हो या न हो बहुतसे पुरुष स्त्रियोंको सम्पत्तिकी दृष्टिसे देखते हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें कन्या-दानका जो विधान है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लड़की पिताकी सम्पत्ति मानी जाती थी। पिताकी सम्पत्तिपर सामान्यतः हिन्दुओं या ईसाइयोंमें लड़कीका स्वत्व नहीं होता, मुसलमानोंमें होता है। रूसमें कल-कारख़ानोंको व्यक्तियोंकी निजी सम्पत्ति नहीं मानते। इससे यह स्पष्ट है कि सम्पत्तिके सम्बन्धमें कोई अकाट्य दैवी या प्राकृतिक नियम नहीं है। जिस जगह और जिस समय जैसा लोकमत होता है और तत्कालीन क़ानून जिसको स्वीकार कर लेता है वही वस्तु निजी सम्पत्ति हो सकती है। अतः प्रत्येक जनसमूह और सरकार इस प्रश्नपर स्वतन्त्र विचार करनेका अधिकार रखती है और मौलिक सिद्धान्तोंके आधारपर तथा लोकहितकी दृष्टिसे यह निश्चित कर सकती है कि किन वस्तुओंको निजी सम्पत्तिमें गिना जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो लोग निजी सम्पत्तिकी पवित्रताकी दुहाई देते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि निजी सम्पत्तिका आधार राजकी स्वीकृति है। जैसा कि हाब्सने कहा था 'अधिकार उस माँगको कहते हैं जिसको राज स्वीकार करता है।' यदि आजकलके सभ्य राजोंने पहलेकी अपेक्षा बहुत-सी वस्तुओंको निजी सम्पत्तिकी सूचीसे निकाल दिया है तो भविष्यत्‌के राज भी ऐसा कर सकते हैं।

जो वस्तुएँ निजी सम्पत्तिमें गिनी जाती हैं उनकी तालिका-पर दृष्टि डालनेसे प्रतीत होता है कि वह दो प्रकारकी हैं। कुछ तो ऐसी हैं जो उपभोगकी सामग्री हैं, शेष ऐसी हैं जिनसे अर्थोपार्जन अर्थात् उत्पादनमें सहायता मिलती है। घर, अन्न, वस्त्र भोग्य वस्तुएँ हैं; खेत, कल-कारख़ाने, रुपया उत्पादनके साधन हैं यद्यपि रुपया भोग्य-प्राप्तिका भी साधन है।

जहाँतक भोग्य वस्तुओंका सम्बन्ध है समाजवादियोंका और लोगोंसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। अन्न, वस्त्र, पढ़नेकी पुस्तकें, गाने-बजानेकी सामग्री, पलंग, बिस्तरा, कुर्सी, चौकी, मेज़, लम्प इत्यादिको निजी सम्पत्ति माना जा सकता है। बाइसिकिल, मोटर, घोड़ेको भी निजी सम्पत्ति मानना चाहिये। घरके सम्बन्धमें कुछ मतभेद है। कुछ लोगोंकी सम्मति है कि मकान सार्वजनिक सम्पत्ति रहे। पर इन सब भोग्य वस्तुओंके सम्बन्धमें भी एक आवश्यक बात ध्यान देने योग्य है। भोगकी भी मात्रा होती है। किसीको इतना बड़ा मकान रखनेका अधिकार नहीं हो सकता जिसका वह उचित उपभोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई अनुचित मात्रामें अन्न-वस्त्रादिका भी संग्रह नहीं कर सकता। क्या अनुचित है और क्या उचित इसका निर्णय वही कर सकता है जो सबसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तटस्थ और सबके ऊपर हो अर्थात् राज। अतः यद्यपि भोग्य वस्तुएँ निजी सम्पत्ति हो सकती हैं पर इस प्रकारकी सम्पत्ति-पर भी राजका नियन्त्रण रहना परमावश्यक है। इसीलिए समाजवादियोंमें एक कहावत प्रचलित है, जबतक सबको रोटी न मिल ले तबतक किसीको मालपुआ नहीं मिल सकता। राज-को यह देखना पड़ेगा कि ऐसा न हो कि कुछ लोगोंके पास भोग्य वस्तुओंका भण्डार जमा हो जाय और दूसरे लोग नंगे, भूखे सड़कोंपर मारे-मारे फिरें। जबतक ऐसी सामग्री कम है तबतक सबको ही थोड़ा-थोड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। युद्धकालमें असमाजवादी सरकारें भी विवश होकर परिसीमन* करती हैं। उनको यह तय कर देना पड़ता है कि कोई व्यक्ति इतनेसे अधिक अन्न या शक्कर या घी नहीं रख सकता। इस आज्ञाका उल्लङ्घन करने पर कठोर दण्ड दिया जाता है। परन्तु आवश्य-कता इस बातकी है कि शान्तिकालमें भी इसका नियन्त्रण किया जाय। रूसकी सरकार कुछ साल पहले रोटीका परिसीमन करती थी पर अब इसकी आवश्यकता नहीं रही, लोग जितना चाहें रख सकते हैं। अधिकांश सभ्य देशोंमें इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। जिसके पास पैसा हो वह चाहे जितना बड़ा भण्डार जमा कर सकता है, चाहे उसी समय दूसरे लोग उन वस्तुओंके लिए व्याकुल हो रहे हों। आजकल जो अशान्ति छायी हुई है उसका एक बड़ा कारण यही है। लोग दूसरेकी अपार धनराशिको सन्तोषपूर्वक देख सकते हैं पर अपने पास आवश्यक भोग्य सामग्रीका अभाव असह्य हो उठता है।

---

* Rationing (रेशनिंग).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब उस सामग्रीको लीजिये जो उत्पादनकी साधक हो सकती है। इसको निजी सम्पत्ति माननेसे जो हानि हो रही है उसका पर्य्याप्त वर्णन पिछले कई अध्यायोंमें आ चुका है। भूमि, बंक, रेल, पुतलीघरको निजी सम्पत्ति माननेसे ही पूँजीवाद और साम्राज्यवाद या पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीका समुदय हुआ है। अतः यदि आगेके लिए इस विपत्तिसे बचना है तो उत्पादन, वितरण और विनिमयके मुख्य साधनोंको सार्वजनिक सम्पत्ति ही मानना ठीक है। कोई कृषक चाहे तो फूल-तरकारी बोकर बेच सकता है, कोई कारीगर चाहे तो अपने हाथसे चीज़ें बनाकर बेचे पर कारख़ाना न बनने पाये। श्रम अपना हो, दूसरेका नहीं।

तीसरी वस्तु जो निजी सम्पत्ति होती है रुपया है। रुपया भोग्य-वस्तुओंका प्रापक भी है और पूँजीके रूपमें उत्पादनका भी साधक है। जहाँतक रुपयेसे भोग्य-वस्तुओंको प्राप्त करनेका काम लिया जाता है वहाँतक उसको निजी सम्पत्ति माननेमें कोई हानि नहीं है पर उसको पूँजीके रूपमें नहीं लगने दिया जा सकता।

इस प्रश्नपर एक और दृष्टिसे विचार करना चाहिये। किसीके पास सम्पत्ति कहाँसे आती है? इसके दो ही मुख्य द्वार हैं। या तो मनुष्य कमाकर उसे प्राप्त करता है या अपने पूर्वजोंसे पाता है। परन्तु 'कमाने'का क्या अर्थ है? जो मनुष्य अपने शरीर या मस्तिष्कसे श्रम करता है वह कमानेवाला कहा जा सकता है पर ऐसी दशामें तो यह होना चाहिये कि जो जितना ही श्रम करे उसके पास उतनी ही सम्पत्ति हो। इसी प्रकार यह होना चाहिये कि जो जितना ही मितव्ययी हो उसके पास उतनी ही सम्पत्ति अधिक हो पर ऐसा होता नहीं। श्रम करके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किफ़ायतसे व्यय करनेवालोंके पास बहुत कम सम्पत्ति होती है, श्रम न करनेवाले, जो दोनों हाथों रुपया लुटाते हैं, बहुधा सम्पन्न होते हैं। क्या किसी बड़ी कम्पनीका मैनेजिंग डाइ-रेक्टर या मैनेजिंग एजेंट बहुत श्रम करता है? वह जो रुपया जमा करता है वह किस बातका पुरस्कार है? क्या ऐसा माना जा सकता है कि वह बुद्धिसे श्रम करता है? यदि ऐसा है तो यह मानना होगा कि उसकी बुद्धि बड़ी ही तीव्र है, पर क्या डाइरेक्टरकी बुद्धि गणितके अध्यापककी बुद्धिसे तीव्र होती है? यदि नहीं तो गणितके अध्यापकको उतना रुपया क्यों नहीं मिलता? यह सब प्रश्न विचारणीय हैं। विचार करनेसे हम इसी परिणामपर पहुँच सकते हैं कि जो बड़ी आमदनियाँ हैं, जिनके आधारपर बड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र की जाती हैं, वह श्रम मात्रका पुरस्कार नहीं हैं। पूँजीशाही पद्धति, दूसरोंके श्रमसे अनुचित लाभ उठाना, परहितका हनन करना, महाभारतके शब्दोंमें 'पर मर्मको छेदन करना' ही ऐसी आमदनियों और सम्पत्तियोंके जमा होनेको संभव बनाता है। जो लोग सम्पत्ति जमा करते हैं उनको सारे राष्ट्रसे सहायता मिलती है। राज उनके व्यापार-व्यवसायकी सुविधाके लिए सड़क बनवाता है, रेल चलाता है, पुलिस और सेना रखता है। उनके हितके साधक क़ानून बनाये जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी ओरसे दूसरे राजोंसे लड़ाईतक की जाती है। यह भी, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं, निश्चित है कि यह सम्पत्ति सहस्रों मनुष्योंके शरीरों और मस्तिष्कोंके श्रमका फल है। अतः कोई एक व्यक्ति इसका स्वामी नहीं माना जा सकता। जहाँ उत्पादनके साधन सार्वजनिक सम्पत्ति होंगे वहाँ तो ऐसी बड़ी आमदनी और सम्पत्ति जमा हो ही नहीं सकती पर जहाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा न हो वहाँ भी पूँजीपतियोंकी आयका बहुत बड़ा भाग टैक्स-के रूपमें राजकोषमें जाना चाहिये ताकि राजने उसके संग्रहमें जो सहायता दी है उसकी क्षतिपूर्ति हो जाय और शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा आदिपर खर्च होकर यह रुपया उन सहस्रों मनुष्योंके पासतक पहुँच जाय जिन्होंने उसको वस्तुतः पैदा किया था। इस नियन्त्रणके साथ लोगोंको अपनी कमायी हुई सम्पत्तिको रखने और भोगनेका अधिकार हो सकता है।

अब पैतृक सम्पत्तिपर विचार कीजिये। आजकल जब कि यह निश्चय नहीं है कि कौन कमा सकेगा और कौन बेकार भिखारी बनकर घूमेगा यह स्वाभाविक-सी बात है कि लोग अपने लड़के-बच्चोंके लिए सम्पत्ति छोड़ना चाहें। इसमें कोई सिद्धान्तकी बात नहीं है। लड़कोंका पिताकी सम्पत्तिपर कोई प्राकृतिक हक़ नहीं है। जो श्रम करे वह सम्पत्तिका उपभोग करे यह बात समझमें आ सकती है, पर बिना श्रम किये ही किसीको भोग-सामग्री मिल जाना तो अनुचित है। यदि किसी व्यक्ति-विशेषका पुत्र होनेसे एक मनुष्य सम्पत्ति भोगनेका अधिकारी हो सकता है तो दूसरा मनुष्य मन्त्रीका पुत्र होनेसे मन्त्री, सेनापतिका पुत्र होनेसे सेनापति, कविका पुत्र होनेसे कवि या गणितके पण्डितका पुत्र होनेसे गणितका पण्डित हो सकता है। पर ऐसा कोई नहीं मानता। सम्पन्नकी सम्पत्ति-पर उसके पुत्रका अधिकार भी उतना ही निराधार है। वस्तुतः मरने पर सम्पत्ति सार्वजनिक हो जानी चाहिये। यदि सबको काम देने और भरण-पोषणका भार राज अपने ऊपर ले ले तो पिताकी सम्पत्ति पुत्रको मिलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सम्पन्न पिताकी सन्तान होनेसे उसको यों ही कई प्रकारका फ़ायदा पहुँच चुका होगा। पर जबतक राज इतना दायित्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनेपर नहीं लेता तबतक पैतृक सम्पत्तिकी प्रथा भी रहेगी। फिर भी नियन्त्रण करना होगा। जितनी सम्पत्ति कोई व्यक्ति छोड़ जाय वह सबकी सब उसके लड़कोंको मिले यह कोई आवश्यक बात नहीं है। यूरोपकी असमाजवादी सरकारें भी इस बातको मानती हैं। कई देशोंमें मृत्युकर* या उत्तराधिकार-कर† लिया जाता है। जब कोई मरता है तो उसके उत्तराधिकारियोंको उसकी छोड़ी हुई सम्पत्तिपर एक विशेष टैक्स देना पड़ता है। सम्पत्ति जितनी ही अधिक होती है, टैक्सकी दर भी उतनी ही ऊँची होती है। इस नियन्त्रणके साथ पैतृक सम्पत्तिका भी उपभोग किया जा सकता है। रूसमें ही इस समय समाजवादी शासनका प्रयोग हो रहा है। वहाँ इन बन्धेजोंके साथ निजी सम्पत्ति भोगनेकी व्यवस्था है।

हमने सम्पत्तिके दो भेद किये हैं, भोग्य और उत्पादक। कुछ लोग भोग्यको वैयक्तिक‡ और उत्पादकको निजी§ सम्पत्ति कहते हैं। उनकी शब्द-योजनाके अनुसार वैयक्तिक सम्पत्ति उचित और निजी सम्पत्ति अनुचित है।

सम्पत्तिके सम्बन्धमें समाजवादियोंका जो मन्तव्य है वह ऊपर कही हुई बातोंसे स्पष्ट हो जाता है। उनका विश्वास है कि उत्पादक सम्पत्ति वस्तुतः सामाजिक सम्पत्ति है अर्थात् उसके उत्पादनमें सारे समाजका हाथ रहा है। अतः वह चाहते हैं कि ऐसी सम्पत्ति सार्वजनिक रहे। इसके साथ ही वह चाहते हैं कि भोग्य सम्पत्तिकी खूब वृद्धि हो। किसी मनुष्यको भोजन, वस्त्र, घरका अभाव न हो, सबका जीवन सुखमय हो, सबको विद्योपार्जन, ललितकलाऽस्वाद, अपनी रुचिके अनुसार

---

* Death duties. † Succession tax. ‡ Personal. § Private.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन, विज्ञान, राजनीतिके गूढ़ प्रश्नोंपर विचार करनेकी फुर्सत प्राप्त हो। पर यह तभी हो सकता है जब उत्पादक सामग्री सार्वजनिक हो और सबको लाभ पहुँचाये। आज ऐसा नहीं है। इसीलिए इतनी अशान्ति है। जो नंगे, भूखे, अनिकेतन हैं वह धनिकोंकी अट्टालिकाओं और धन-धान्यपूर्ण भण्डारोंको सतृष्ण एवं सक्रोध दृष्टियोंसे देखते हैं। उनकी तृष्णा स्वाभाविक और क्रोध न्याय्य है। जब तक यह वैषम्य रहेगा तबतक शान्ति नहीं हो सकती। ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके ही तो संस्कृतके किसी कविने कहा है—

अशनं वसनं वासो, येषाञ्चैवाव्यवस्थितम्।
मगधेन समा काशी, गङ्गाऽप्यङ्गार-वाहिनी॥

(जिसके भोजन, वस्त्र और निवासकी व्यवस्था नहीं है उसके लिए काशी मगधके समान है और गङ्गामें शीतल जलके स्थानमें अङ्गारोंकी धारा बहती है)।

हम ऊपर कह आये हैं कि समाजवादी इस बातके विरोधी नहीं हैं कि भोग्य वस्तुएँ लोगोंकी वैयक्तिक सम्पत्ति बनें। यह बात व्यवहारकी दृष्टिसे तो ठीक है पर सिद्धान्तसे नहीं। अभी तो बहुत दिनोंतक ऐसा ही होगा कि समाजवादी देशोंमें भी लोग भोग्य वस्तुओंका संग्रह करेंगे। लोग काम करेंगे, उसके लिए पारिश्रमिक मिलेगा, उससे सम्पत्ति इकट्ठी होगी। पर यह बीचकी अवस्था है जब समाजवादी पद्धति सर्वत्र पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो पायी होगी। आगे चलकर जब यह व्यवस्था प्रौढ़ हो जायगी तब लोग स्वतः अपनी शक्ति और योग्यता भर श्रम करेंगे। इसके लिए उनपर दबाव डालनेकी आवश्यकता न होगी। इस श्रमके फलस्वरूप सभी भोग्य वस्तुओंकी राशियाँ एकत्र हो जायँगी। उनका परिमाण इतना होगा कि सबके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याप्त हो। कोई मनुष्य मज़दूरी न चाहेगा। अपने काम भर भोग्य सामग्री सार्वजनिक भण्डारसे उठा ले जायगा। सबके लिए सामग्री पर्याप्त होगी और सभी लोग लोकहितके भावसे प्रेरित होंगे, इसलिए यह आशंका न रहेगी कि कोई ऐसी वस्तु ले जायगा जिसकी उसको आवश्यकता न हो या अपनी आवश्यकतासे अधिक उठा ले जायगा। संग्रह करनेके लिए कोई प्रलोभन न होगा क्योंकि संग्रह करना अनावश्यक होगा। उस समय न किसी प्रकारके दवाव डालनेकी ज़रूरत होगी, न क़ानून बनानेकी। सम्पत्ति-संग्रहकी प्रथा आपसे आप ही धीरे-धीरे मिट जायगी। सार्वजनिक सम्पत्ति किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति न होगी पर उत्पादक हो या भोग्य वह सबकी सम्पत्ति होगी। उसी समय समाजवादका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त फलीभूत होगा—प्रत्येक व्यक्तिसे, उसकी योग्यताके अनुसार; प्रत्येक व्यक्तिको, उसकी आवश्यकताके अनुसार।

चौदहवाँ अध्याय

राजका स्वरूप

राजसत्ताके सम्बन्धमें पिछले अध्यायोंमें भी थोड़ा बहुत ज़िक्र आया है किन्तु यहाँ इस विषयपर किञ्चित् विस्तारसे विचार करना आवश्यक है। बहुतसे लोगोंमें यह धारणा है कि समाजवादी राजसत्ताके विरोधी हैं। यदि उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाथमें अधिकार आया तो न राज* रह जायगा, न सरकार रह जायगी। प्रत्येक मनुष्य स्वच्छन्द हो जायगा। जिसके जीमें जो आयेगा, करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसीके जान-मालकी रक्षाका भरोसा न होगा।

बहुत-सी धारणाओंकी भाँति यह ख़याल भी निर्मूल है। ऐसी स्वच्छन्दताका परिणाम यह होगा कि सभ्यता तथा संस्कृति धूलिमें मिल जायगी और पृथ्वी हिंस्र पशुओंसे संकुल वनस्थली हो जायगी। समाजवादी यह नहीं चाहता, इसलिए वह राज-सत्ताको मिटा देनेकी बात इस तरह नहीं करता। अराजकता-वादके† आचार्य प्रिंस क्रोपाट्किन आदि भी इस प्रकारकी जंगली उच्छृंखलताके पक्षपाती नहीं थे।

परन्तु यह सत्य है कि जिस प्रकारके राज आजकल हैं, चाहे उनमें किसी नरेश या अधिनायकके हाथमें अधिकार हो या किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभाके, उनसे समाजवादी सन्तुष्ट नहीं है। वह उस सिद्धान्तको ही नहीं मानता जिसके आधारपर यह राज चल रहे हैं। वह जितना ही भयावह और हानिकर वर्गयुद्ध, पूँजीवाद तथा साम्राज्यशाहीको समझता है उतना ही बुरा वर्तमान राज-व्यवस्थाको समझता है। उसका विश्वास है कि आजकलके राज्योंका अस्तित्व शान्तिका प्रबल विरोधी है। राजनीति-शास्त्रके बहुतसे पण्डितोंका यह कहना है कि मनुष्यके विकासके लिए राज होना आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी राजका नागरिक नहीं है, उसके बहुतसे नैतिक और आध्यात्मिक गुण मृत्यु पर्यन्त आलीन रहते हैं। बिना नागरिकताके कर्तव्यों और अधिकारोंका अनुभव किये मनुष्य

---

* The State † Anarchism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपूर्ण रहता है। समाजवादी ऐसा नहीं मानता। उसका विश्वास है कि वर्तमान राजसत्ता, जो आजकी नहीं वरन् हज़ारों वर्षसे चली आ रही है, मनुष्यके विकासको रोकने और उसे अपूर्ण रखनेका प्रबल साधन है। वह उसे मिटाना चाहता है पर उसके स्थानपर दूसरे भवनका निर्माण भी करना चाहता है।

राजकी अनेक परिभाषाएँ हैं। उनमेंसे एक यह है कि सरकार और प्रजाके रूपमें सङ्गठित राष्ट्रको राज कहते हैं। इससे व्यावहारिक अर्थ तो निकल आता है पर राजका पूरा पूरा स्वरूप प्रकट नहीं होता। कुछ विद्वानोंका यह कहना है कि इसके सिवाय और कुछ स्वरूप है भी नहीं। उनके मतमें किसी देश-विशेषके निवासियोंकी उस संस्थाका नाम राज है जिसके द्वारा उनकी सम्मिलित शक्तिका राजनीतिक उपयोग हो सके। साधारण बोलचालमें भी लोग ऐसा ही समझते हैं। राजका अर्थ सरकार होता है। परिभाषामें भले ही सरकार और जनताका संयुक्त नाम राज हो पर लोग ऐसा ही मानते हैं कि प्रजासे पृथक् और उसके ऊपर जो सत्ता है उसका ही नाम राज या सरकार है।

दूसरी ओर वह विद्वान् हैं जिन्होंने इस विषयका दार्शनिक दृष्टिसे गम्भीर अध्ययन किया है। वह राज शब्दको बहुत व्यापक अर्थमें लेते हैं। बर्नर्ड बोज़ांकेट अपनी 'फ़िलॉसाफ़िकल थियरी आव दि स्टेट'में लिखते हैं "राज केवल राजनीतिक संस्था नहीं है वरन् वह उन सब छोटी बड़ी संस्थाओंकी समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। उसमें परिवार, व्यापार, सम्प्रदाय, विश्वविद्यालय सभी अन्तर्भूत हैं। राज ही वह वस्तु है जो इन सभोंको सजीव और सार्थक बनाती है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल, जो बोज़ांकेटके दार्शनिक गुरु थे, राजकी प्रशंसामें गद्यकाव्यकी रचना करने लग जाते हैं। उनके अनुसार मनुष्यको राजके द्वारा ही आध्यात्मिक सत्यता प्राप्त होती है। वह कहते हैं 'विश्वात्मा पृथ्वीपर अपने स्वरूपका ज्ञानपूर्वक अनुभव राजके रूपमें करता है।' राजकी सत्ता जगत्‌में ईश्वरकी गति है।

यह तो राजका स्वरूप हुआ। राजसत्ता पृथ्वीपर है कबसे? कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आदिकालमें किसी प्रकारका राज न था। सब लोग स्वच्छन्द रहते थे। पर जब बलवानों और बलहीनोंका सङ्घर्ष बढ़ा तो लोगोंने सम्मिलित होकर इस संस्थाको जन्म दिया ताकि यह सबके ऊपर रहे और निष्पक्ष होकर न्याय करे अर्थात् सबके हक़ोंकी रक्षा करे। राज लोगोंके आपसके समझौतेका फल है। काम चलानेके लिए लोगोंने अपनी स्वच्छन्दताका कुछ अंश राजशक्तिके रूपमें राजको सौंप दिया। इसके विरुद्ध दूसरे लोगोंका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है। आदि या अनादिकालसे ही मनुष्य-समुदाय राजके रूपमें संघटित है।

राजकी शक्तिका आधार क्या है? समझौता तो जब हुआ तब हुआ पर इस समय लोग राजका नियन्त्रण क्यों मानते हैं? क्या मनुष्य इस दैवी संस्थाका गुलाम है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि मनुष्य गुलाम नहीं है पर उसकी स्वतन्त्रता इसी बातमें व्यक्त होती है कि वह राजका समर्थन करता है। यह समर्थन स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। हम राजका समर्थन इसलिए करते हैं कि हमारी इच्छा वही होती है जो राजकी इच्छा होती है। पर ऐसा अनुभव तो सदैव नहीं होता। बहुतसे अवसरोंपर तो ऐसा प्रतीत होता है कि राजकी इच्छा हमारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निजी इच्छाके एकदम विरुद्ध है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि ऐसी प्रतीति इसलिए होती है कि हमको अपनी वास्तविक इच्छाका* सदैव अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि हमारी वास्तविक इच्छापर क्षण-क्षणमें राग-द्वेष, आवेश आदिका पर्दा पड़ जाया करता है। फिर उसके जाननेकी विधि क्या है? इसका उत्तर बोज़ांकेट यों देते हैं—'अपनी वास्तविक इच्छाको ठीक-ठीक जाननेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षण-विशेषकी इच्छाका संशोधन अपने अन्य क्षणोंकी इच्छाओंके द्वारा करें। पर हमारी इच्छा अन्य लोगोंकी इच्छासे टकराती है अतः हमको अपनी इच्छाका संशोधित रूप तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसका जोड़ दूसरोंकी इच्छाओंके साथ बैठा सकें। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरोंकी क्षणिक इच्छाओंका संशोधन उनकी अन्य क्षणोंकी इच्छाओं द्वारा कर लें।' यह सारी प्रक्रिया तर्कशास्त्रके अनुकूल होगी पर इस प्रकारके संशोधनोंके बाद हमारी इच्छाका जो रूप हमारे सामने आयेगा हम उसको पहिचान ही न सकेंगे। बोज़ांकेटके अनुसार यही रूप जो पहिचाना नहीं जा सकता हमारी वास्तविक इच्छा-का स्वरूप होगा। यह वास्तविक इच्छा एक व्यक्तिकी नहीं, सभी मनुष्योंकी, जो पागल नहीं हैं, इच्छा होगी। इसी बातको हॉबहाउसने मेटाफ़िज़िकल थियरी आव दि स्टेटमें संक्षेपमें यों लिखा है 'हम नैतिक दृष्ट्या उसी समय स्वतन्त्र होते हैं जब हमारे काम हमारी वास्तविक इच्छाके अनुसार होते हैं, हमारी वास्तविक इच्छा जन-सामान्यकी इच्छा† है और जन-सामान्यकी इच्छा पूर्णरूपेण राजसत्तामें मूर्त होती है।'

यह बातें बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण और बुद्धिवर्द्धक हैं। पहले

* Real Will. † General Will.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो इनको समझना कठिन है, शब्दयोजनाको पार करके अर्थतक पहुँच जाना सबका काम नहीं है। अर्थ गम्भीर है और उसको अपनानेमें बुद्धि चकरा जाती है। पर समझ लेनेके बाद मनुष्यको यह आश्चर्य होता है कि यह किस लोककी बातें हैं। राजसत्ता द्वारा विश्वात्मा जगत्‌में अपनी अनुभूति करता है। राजकी सत्ता जगत्‌में ईश्वरकी गति है। यह बातें किस राजके सम्बन्धमें फलीभूत होती हैं? हम यह मान सकते हैं कि परिभाषामें व्यापक शब्दोंका प्रयोग होता है। शास्त्रका नियम है कि परिभाषामें अव्याप्ति दोष नहीं आना चाहिये। यदि हमको मनुष्यकी परिभाषा करनी हो तो हम किसी विशेष रङ्ग या लम्बाईका उल्लेख नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्य कई रङ्गों और लम्बाइयोंके होते हैं। पर इसके साथ ही यह भी शास्त्रीय नियम है कि परिभाषामें असम्भव दोष नहीं आना चाहिये अर्थात् कोई ऐसा लक्षण नहीं बताना चाहिये जो किसी व्यक्तिमें न पाया जाय। यह कह देनेसे कि मनुष्यको सींग होता है असम्भव दोष आ जायगा। ऊपर विद्वानोंने राजकी जो कुछ गाथा गायी है, उसमें असम्भव दोषका प्राचुर्य है। जहाँतक इतिहासकी गति है, अतीतकाल या वर्तमानकालके किसी भी राजको देखकर ऐसा कहते नहीं बनता। कमसे कम उस भावसे तो इन शब्दोंका प्रयोग करना कठिन है जो इनके रचयिताओंका था। राजमें उत्पीड़न, वर्गसङ्घर्ष, दारिद्र्यके साथ-साथ संस्कृति, सभ्यता, उन्नति भी देख पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि सुख-दुःख, भला-बुरा सभी विश्वात्माका स्वरूप है, सभी ईश्वरकी गति है पर इसको ज्ञानपूर्वक स्वानुभव नहीं कह सकते। यदि हो भी तो इससे किसी व्यथित हृदयको शान्ति नहीं मिल सकती। इससे इतना भी तो नहीं निकलता कि यदि सारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वीपर एक राज हो जाय तो दैवी गति बदल जायगी और उत्पीड़नका अन्त हो जायगा। फिर भी प्रबल राज इस परिभाषाको बहुत पसन्द करते हैं। इससे उनको दार्शनिक आधार मिल जाता है। राजको जीवनके सभी अङ्गोंमें हस्तक्षेप करनेका बहाना मिल जाता है और जो व्यक्ति राजकी इच्छाको, जो किसी भी समयविशेषमें वस्तुतः सरकार अर्थात् ऊपरके दो चार या एक व्यक्तिकी इच्छा होती है, पसन्द नहीं करता उससे यह कहा जा सकता है कि यही तुम्हारी भी वास्तविक इच्छा है पर तुम अपने अज्ञानवश इसे पहचानते नहीं हो। ऐसा कहकर राज सबका मुँह बन्द कर सकता है और अपने राज्यके भीतर उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् और निरङ्कुश हो सकता है जैसे कि इस जगत्में ईश्वर माना जाता है। स्यात् इसीको ज्ञानपूर्वक स्वरूपका अनुभव कहते हैं। इस सर्वशक्तिमत्ताको ही प्रभुत्व* कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक स्वतन्त्र राज पूर्णप्रभु होता है। वस्तुतः कोई राज पूर्णप्रभु नहीं होता क्योंकि यदि और कुछ नहीं तो दूसरे स्वतन्त्र राजोंका अस्तित्व पूर्ण प्रभुत्वका बाधक होता है और फिर राज्यके भीतर भी प्रायः सदैव कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो राजेच्छाको अपनी इच्छा मानकर चुप बैठनेको तैयार नहीं होते। फिर भी प्रत्येक राज अपने सामने यही आदर्श रखता है।

समाजवादी अपनेको इस दार्शनिक जङ्गलमें खोना नहीं चाहता। वह बौद्धिक व्यायाम करनेके पहले वर्तमान राजोंके स्वरूपका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषणके परिणामका इतिहासके प्रकाशमें अध्ययन करता है। इस अध्ययनका जो नतीजा निकलता है उसको सामने रखकर वह राजकी प्रशस्ति

* Sovereignty.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गानेमें अपनेको असमर्थ पाता है। राजकी इच्छाको अपनी या जनसामान्यकी वास्तविक इच्छा मानना तो दूर रहा, उसको ऐसा प्रतीत होता है कि राजेच्छा बहुधा जनसामान्यकी इच्छाके विरुद्ध चलती है और राजकी शक्तिका आधार जनता द्वारा समर्थन नहीं प्रत्युत बल है। वह राजके अस्तित्वको अपने आध्यात्मिक विकासका एकमात्र साधन न पाकर विकासके मार्गमें कण्टकवत् देखने लगता है। यहाँ हम संक्षेपमें समाजवादके आचार्य्योंका मत राजके सम्बन्धमें देना उचित समझते हैं।

पहले तो यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि राज पृथ्वीके आदिकालसे या यों कहिये कि पृथ्वीपर मनुष्यके आनेके समयसे चला आता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है। यह तो ठीक ही है कि आरम्भकालसे ही मनुष्य छोटी बड़ी टुकड़ियोंमें रहते होंगे। मनुष्य जैसा प्राणी, जिसको न दाँतका अवलम्ब है न पञ्जेका, किसी अन्य उपायसे बनैले पशुओंसे अपनी रक्षा कर नहीं सकता था। यह भी निर्विवाद है कि जहाँ दो व्यक्ति एक साथ रहते हैं वहाँ भी आपसमें वरतनेके लिए कुछ नियम वन जाते हैं अतः उस प्राचीनकालके मानव समुदायोंमें भी आपसके व्यवहारके लिए कुछ न कुछ नियम अवश्य रहे होंगे। पर न तो ऐसे समुदायोंको राज कह सकते हैं, न उन नियमोंको क़ानूनका नाम दिया जा सकता है। पशु-पक्षियोंके भी समुदाय होते हैं पर उनको कोई राज नहीं कहता। आत्मरक्षाकी सहज प्रवृत्ति समुदायके राजनीतिक जीवनकी रक्षा करती है। भैंसों और गायोंके झुण्डपर जब किसी बनैले हिंस्र पशुके आक्रमणकी आशङ्का होती है तो बछड़ों और गायोंको बीचमें करके सब नर घेरा बाँधकर खड़े हो जाते हैं ताकि शत्रु जिधरसे आये उसे सींगोंका सामना करना पड़े। घोड़े और गधे पिछली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टाँगोंको बाहर करके खड़े होते हैं ताकि शत्रुको लात मार सकें। आरम्भमें मनुष्यके जीवनमें इससे अधिक राजनीतिका समावेश नहीं था। सार्वजनिक शत्रुओंका सामना करनेके लिए सहज प्रवृत्ति सबको खड़ा कर देती थी। कोई न कोई नेता भी रहता होगा। भेड़ियोंके गोलमें भी जो भेड़िया अधिक बलवान् और चतुर होता है वह स्वतः नेता बन जाता है और दूसरे उसके पीछे पीछे चलते हैं। पर इसमें न कोई संघटन है न नेताके दैवी आधिपत्य माननेकी बात है, न उसकी आज्ञाको अनिवार्यतया मानना है। प्राचीन मनुष्य समाजमें भी ऐसा ही रहा होगा। पशु-पक्षियोंमें भी आपसमें बरतनेके नियम होते हैं और जो उन नियमोंको तोड़ता है उसे सब मिलकर दण्ड देते हैं। यों कह सकते हैं कि उस पशु या पक्षिसमुदायका लोकमत नियमके उल्लङ्घन करनेवालेको दण्ड देता है। यह नियम समुदायके अनुभवके आधारपर आप ही बन गये हैं अर्थात् इनके पालनसे समुदाय सुव्यवस्थित और चिरजीवी रह सकता है अतः यह समुदायके प्रायः प्रत्येक प्राणीकी मनःप्रवृत्तिके अविच्छेद्य अङ्ग हैं। परन्तु क़ानूनमें यह बात नहीं होती। क़ानूनकी परिभाषा यह है कि वह ऐसी आज्ञा होती है जिसके साथ दण्ड लगा होता है। 'चोरी मत करो, अन्यथा अमुक अमुक दण्ड पाओगे' यह क़ानूनका रूप है। पशु-समाजमें ऐसे क़ानून नहीं होते, प्राचीन मनुष्य-समाजमें भी न रहे होंगे, क्योंकि क़ानूनके लिए कोई बनानेवाला, नियामक, आज्ञा देनेवाला चाहिये। ऐसा नियामक न पशु-समाजमें है, न पुराने मनुष्य-समाजमें था। यह नहीं कह सकते कि क़ानून उन प्राकृतिक नियमोंके समान हैं जिनसे समुदायकी रक्षा होती है, इसलिए वह सबके हृदयमें आप ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'चोरी न करो' तो स्यात् ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नियम माना जाता पर 'सड़कपर अपने बायें हाथ चलो' मनुष्य-समुदायके लिए प्राकृतिक नियम नहीं है। यह तो किसी नियामकका ही बनाया हुआ है।

यह अवस्था कबतक चली गयी यह नहीं कहा जा सकता पर बुद्धिप्रधान मनुष्य पशुपक्षियोंकी भाँति सदा एक ही अवस्थामें तो रह नहीं सकता था। उसने कच्चे मांसकी जगह पका भोजन खाना सीखा, खेती करना सीखा, पशु पाले, मकान बनाये, पृथ्वीके गर्भसे खनिजोंको निकालना और उनको गलाना तथा ढालना सीखा। मनुष्य-समुदायका स्वरूप जटिल और जटिलतर होता गया। श्रमविभाग हुआ। कुछ लोग एक काम, कुछ दूसरे काममें लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहिले सब बराबर थे, वहाँ अब सम्पत्ति-वैषम्य हो गया। किसीके पास अधिक सम्पत्ति थी, किसीके पास कम। स्वभावतः वह लोग अधिक सम्पन्न थे जिनके पास भूमि थी। उनकी बराबरी यदि कर सकते थे तो वही लोग कर सकते थे जो भूलोकका स्वर्लोकसे संबंध जोड़ सकते थे। यह पुरोहित सर्वश्रेष्ठ थे। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि समुदायमें आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हुआ। इसके साथ हैसियत, दर्जेमें भी वैषम्य हुआ। यह ऊँचा है, यह नीचा है ऐसा भाव दृढ़ होने लगा। जहाँ पहिले कोई बलवान् व्यक्ति कभी कभी अपनेसे दुर्बलोंको कुछ तंग कर लेता होगा वहाँ अब बलवानोंका वर्ग बन गया और इस वर्गने दूसरोंको उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। अब नेतृत्व भेड़ियों या प्राचीन मनुष्योंकी भाँति अपनी चतुरता या अपने बाहुबलके आधारपर नहीं मिलता था वरन् अपने वर्गके आधारपर। यही संस्कृत ग्रंथोंमें प्रशस्त 'अभिजन बल' है। इधर उत्पीड़कोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए दूसरोंको भी फ़िक्र हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि यह वर्गयुद्ध यों ही अव्यवस्थित रूपसे चला जाता तो उत्पीड़ितोंका तो संहार हो ही जाता, इसके बाद उत्पीड़क भी ख़त्म हो जाते और समुदाय ही न रह जाता। ऐसी परिस्थितिमें राजका जन्म हुआ है।

पुराणोंमें राजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो कथा दी है वह भी इसी बातका समर्थन करती है। ऐसा लिखा है कि पहिले कोई राजा न था। लोग आपसमें मिलकर रहते थे। परन्तु कुछ दिनोंके बाद यह अवस्था बदली। बलवान् लोग दुर्बलोंको 'मात्स्यन्यायेन' खाने लगे अर्थात् उसी प्रकार खाने लगे जिसे प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं। यह रूपक ध्यान देने योग्य है। शोषक और शोषितमें यही मात्स्य-न्याय बरता जाता है। युक्त-प्रान्तके कई बड़े ज़मीनदार कृषकों-को अपना 'आहार' कहते सुने गये हैं। अस्तु, इस परिस्थितिसे त्रस्त होकर सबने मनुसे प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनिये। इस प्रकार प्रथम राजकी सृष्टि हुई।

परन्तु राजने उत्पन्न होकर किया क्या? वह वस्तुतः था क्या? ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे तो यही धारणा होती है कि राज उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनोंसे पृथक् और दोनोंके ऊपर एक ऐसी सत्ता थी जो दोनोंमें न्याय करनेके लिए स्थापित हुई थी। मनु न तो बड़ी मछली थे, न छोटी मछली। उनका काम दोनों प्रकारकी मछलियोंके बीच न्यायका पलड़ा बराबर रखना था। न्यायका अर्थ भी यही हो सकता है कि सबको अपना अपना हक़ प्राप्त हो। आजकल भी राजोंका यही दावा है कि वह दुर्बल और सबल, उत्पीड़क और उत्पीड़ित, के बीच न्याय करते हैं। इसी दावेके आधारपर वह जन-साधारण-से निरपेक्ष राजभक्ति तलब करते हैं और बहुधा पा भी जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर एक बात विचारणीय है। क्या सचमुच राज इस प्रकारका न्याय करता है? यदि न्यायका अर्थ सबको अपना अपना हक़ दिलवाना है तो राज उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनोंको अपना अपना हक़ दिलवाता होगा। परन्तु उत्पीड़कका हक़ कैसा होता है? जो लुट रहा हो उसका तो हक़ मारा जा रहा है अतः उसकी रक्षा होनी ही चाहिये पर लूटनेवाले डाकूका कौन-सा हक़ है जो उसको दिलवाया जायगा? अतः यदि राज न्यायपर तुला था तो उसके लिए एक मात्र यही मार्ग था कि वह उत्पीड़ितोंका, छोटी मछलियोंका साथ देता। पर यदि राजने ऐसा किया होता तो बड़ी मछलियाँ बच ही न जातीं। इक्का दुक्का दुष्प्रकृति मनुष्य रह सकता था। वह चाहे कितना भी चतुर या बुद्धिमान् क्यों न होता पर उसके लिए तो लोक-मत पर्य्याप्त था। उससे तो लोग उसी प्रकार निपट लेते जैसे पशु-समुदाय अपनेमेंसे दुष्ट प्रकृतिवालोंसे निपट लेता है। आज भी यदि कोई बदमाश खुले बाज़ारमें किसी स्त्रीको छेड़ता है या किसी बच्चेका ज़ेवर उतारना चाहता है तो राजकी सहायताके बिना ही लोग उसे ठीक कर देते हैं। परन्तु हम पिछले अध्यायों-में देख आये हैं कि उत्पीड़क या शोषक तो अब भी सङ्घटित वर्गोंमें विद्यमान हैं, पहले भी जहाँतक इतिहाससे पता चलता है, विद्यमान थे। राजके रहते हुए इस प्रकारके वर्गोंके अस्तित्व-के दो ही अर्थ हो सकते हैं—या तो राजका दावा झूठा है, उसने निष्पक्ष होकर उत्पीड़ितोंके हक़की रक्षा करनेका प्रयत्न ही नहीं किया या परिस्थिति ऐसी है कि राज अपने वर्तमान स्वरूपसे इस प्रकारका प्रयत्न कर ही नहीं सकता या करके सफल नहीं हो सकता। दोनों ही अवस्थाओंमें यह विचारणीय प्रश्न होगा कि आया मनुष्यके लिए राजका भार ढोना श्रेयस्कर है या नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुस्थिति यह है कि आजतक न तो राजने इस प्रकारका न्याय करना अपना कर्तव्य समझा, न इसके लिए प्रयत्न किया, यद्यपि लोगोंके सामने बराबर इसकी दुहाई दी जाती थी और है। राज वस्तुतः वर्गसङ्घर्षको, मात्स्यन्यायको, मिटानेके लिए नहीं वरन् उसको सुव्यवस्थित करनेके लिए स्थापित हुआ। व्यवस्थाके अभावमें, जैसा कि मैंने पहले कहा है, उत्पीड़क भी न रह जाते। आवश्यकता इस बातकी थी कि बड़ी मछलियोंको आहार मिलता रहे, इसलिए छोटी मछलियाँ संख्यामें भी काफ़ी हों और मोटी-ताज़ी भी हों। इसके साथ ही यह भी देखना था कि वह इतनी बलवान् न हो जायँ कि बड़ी मछलियोंका मुक़ाबिला करने लग जायँ। सबसे बड़ी बात यह थी कि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि वह अपनी अवस्थासे सन्तुष्ट रहें ताकि नित्य प्रत्यक्ष रूपसे खून-खराबा न करना पड़े। यह सब काम राजके द्वारा हो गया। यह प्रबन्ध कुछ-कुछ उसी ढङ्गका था जो एक पुरानी कहानीमें सुना गया है। किसी जङ्गलमें एक सिंह था जो वहाँके पशुओंको बराबर मारा करता था। इससे उनकी संख्या बहुत क्षीण हो चली। अन्तमें यह समझौता हुआ कि सिंह आप कष्ट न करे, पशुगण पञ्चायत करके नित्य अपनेमें से एकको उसके पास भेज दिया करें। सिंहका भी बिना परिश्रमके पेट भरता रहे, पशुओंका भी अनावश्यक संहार न हो। इतना ही नहीं, उनको यह सन्तोष भी रहा होगा कि हमपर कोई दबाव नहीं है, यह न्यायपूर्ण बराबरीका समझौता है और हम अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जिसको चाहते हैं चुनकर भेज देते हैं। सम्भवतः जिसकी बारी होती होगी वह भी अपनेको समझा लिया करता होगा कि यद्यपि इस समय मैं मरनेसे घबरा रहा हूँ पर मेरी वास्तविक इच्छा, जिसका मुझे खुद पता नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही है कि मैं आज सिंहके हाथसे मारा जाऊँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि राज वस्तुतः शोषकवर्गके अधिकारोंकी रक्षाका साधन है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह अधिकार उन्होंने आप अपनेको दे लिया है। राजके भीतर जो क़ानून चलते हैं वह शोषक वर्गके बनाये होते हैं और उनका उद्देश्य इस वर्गके आधिपत्यको अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। राजकी इच्छा वस्तुतः जनताकी वास्तविक इच्छा नहीं है। इस जनता शब्दसे जनसाधारण अर्थात् यदि देशके सब निवासी नहीं तो उनमें से बहुत बड़े भागका बोध होता है। पर बहुत बड़ा भाग तो उन्हीं लोगोंका है जो उत्पीड़ित या शोषित हैं। एक ओर राजकी, अर्थात् मुट्ठीभर उत्पीड़कोंकी, वास्तविक इच्छा, दूसरी ओर जनताकी, अर्थात् बहुसंख्यक उत्पीड़ितोंकी वास्तविक इच्छा—यह दोनों इच्छाएँ कदापि एक नहीं हो सकतीं, क्योंकि इन दोनों वर्गोंके हित पृथक् पृथक् हैं।

यह कहा जा सकता है कि विदेशी आक्रमणके सामने सबके हित एक हो जाते हैं। इसमें सन्देह है। यदि शत्रु ऐसा हुआ जो मज़हबके नामपर लोगोंके जीवनमें हस्तक्षेप करता है तब तो सम्भव है कि सबकी इच्छाएँ पूर्णतया एक हो जायँ अन्यथा ग़रीब जनताको अल्पकालीन लूटपाटका भले ही भय हो पर उसके लिए 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाँड़ि न कहाउब रानी' वाली बात चरितार्थ है। इनके विपरीत जो अधिकार-युक्त शोषक वर्ग है उसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न हो जाता है, क्योंकि उसका अधिकार सदाके लिए छिन जानेका डर रहता है, अतः वह सचमुच प्राणपणसे लड़ता है। अन्य लोगोंकी देश-भक्ति बहुत ही कच्ची होती है। राजपुतानेके इतिहासपर हिन्दुओं-को बड़ा गर्व है। यह गर्व अनुचित नहीं है पर इस इतिहासमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजपूतोंको छोड़कर दूसरे हिन्दुओंकी देशभक्तिकी कथा कम ही मिलती है। सारा रोना यह है कि अपने-अपने राज्यमें शिशोदियों, कछवाहों, राठौरों, झालों, की हुकूमत बनी रहे।

जिन देशोंमें लोकतन्त्र शासन है उनमें राजेच्छा और जनताकी इच्छामें कोई भेद नहीं प्रतीत होता, क्योंकि राजका परिचालन सबकी रायसे होता प्रतीत होता है। पर यह भी एक धोखेकी टट्टी है। जहाँ भिन्नभिन्न वर्गोंमें इतनी आर्थिक विषमता हो वहाँ लोकतन्त्र एक विडम्बना मात्र है। जैसा कि डेलाइल बर्न्सने डेमाक्रेसीमें कहा है 'दरिद्रता लोकतन्त्रको असम्भव और स्वयं सभ्यताको दूषित बना देती है। दरिद्रतासे तात्पर्य है भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चित्तकी शान्तिकी उस कमीसे जिसके कारण मानव-जीवन सम्भव नहीं हो सकता।......जो मनुष्य भूख या सर्दीसे तड़प रहा है और बराबर इस चिन्तामें जल रहा है कि उसको और उसके बच्चोंको रोटियाँ मिलेंगी या नहीं वह इस अवस्थामें ही नहीं है कि अपने प्रतिनिधियोंको चुन सके...' फिर भी चुनाव तो होते हैं। फलतः ऐसे ही लोग प्रायः चुने जाते हैं जिनको शोषक वर्ग बहुत नापसन्द नहीं करता। 'स्वतन्त्र' जनता अपने 'स्वतन्त्र' वोटोंके द्वारा अपने स्वामियोंकी इच्छाका ही समर्थन करती है। पर हाँ, लोकतन्त्रके द्वारा उसको धोखा देना सुकर होता है। यदि उसके मालिक अपने हितके लिए कोई युद्ध छेड़ देते हैं तो भी जनता उसे अपना युद्ध समझकर उनकी ओरसे लड़ती है और प्राण देती है पर इससे हित-सङ्घर्ष या वर्ग-सङ्घर्ष समाप्त नहीं होता। शासकवर्ग जनताको मरनेका अधिकार दे सकता है पर शोषणसे मुक्त होनेका नहीं।

यह कहना भी ग़लत है कि जनता राजका समर्थन करती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और यह समर्थन राजशक्तिका आधार है। वस्तुतः राजशक्तिका आधार बल है जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति सेना और पुलिस है। सारे देशकी जनतासे पैसा वसूल किया जाता है और इस पैसेसे सेना तथा पुलिस रखकर उसी जनताको दबाया जाता है। धोखा यह दिया जाता है कि यह चीज़ें जनताकी रक्षाके लिए हैं। सचमुच यदि रक्षाकी ही बात होती तो थोड़ीसी स्थायी और वेतनभोगी सेनाके बदले समस्त जनता आत्मरक्षाके लिए तैयार की जाती। जिस प्रकार शत्रुके आक्रमणके सामने आत्मरक्षाकी प्रवृत्ति पशु-समुदायोंको तैयार कर देती है, उसी प्रकार सारा समुदाय एक होकर खड़ा हो जाता। मनुष्य न तो सींग मारता है न लात चलाता है अतः लोगोंके हाथमें समयानुकूल शस्त्रास्त्र होने पर सिद्धान्त वही होता। ऐसा न करके प्राचीन कालसे ही राजने जनताको आत्मरक्षाकी ज़िम्मेदारीसे मुक्त कर दिया। शोषक वर्गके व्यक्ति और उनके खास साथी ही शस्त्रास्त्र चलाना जानते थे और यदि आवश्यकता पड़ गयी तो अपनी हुकूमत बनाये रखनेके लिए विदेशियोंसे भी लड़ लेते थे। अन्यथा अपने सङ्गठन और शस्त्राभ्यासके ज़ोरसे सामान्य प्रजाको दबाये रहते थे। लोग हिन्दू वर्ण-व्यवस्थाकी प्रशंसा करनेमें इस बातका बड़े अभिमानसे ज़िक्र करते हैं कि राष्ट्रकी रक्षाका भार क्षत्रियोंने अपने ऊपर ले लिया था पर यह भूल जाते हैं कि इसका परिणाम यह हुआ कि शेष जनता ऐसी निकम्मी बना दी गयी कि उसे अपनी रक्षा करना भूल ही नहीं गया, रक्षा करनेका भाव भी जाता रहा। औरोंकी बात तो जाने दीजिये, वैश्य तो क्षत्रियोंकी ही भाँति आर्य्य थे पर वह भी शस्त्र चलानेसे इतनी दूर जा पड़े कि 'वणिक पुत्र जाने कहा, गढ़ लेवेकी बात' एक प्रसिद्ध कहावत हो गयी। आजकलको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेनाओं और पुलिसका वही स्थान है जो पहले सामन्त-सरदारों या क्षत्रिय वर्गोंका था। ज्यों-ज्यों वर्गसंघर्ष तीव्र होता जाता है त्यों-त्यों सेना और पुलिसका यह रूप और स्पष्ट होता जाता है। यदि सेना बाहरी आक्रमणसे रक्षा करनेके लिए ही है तो उसे भीतरी प्रक्षोभोंका दमन करनेमें हाथ न डालना चाहिये। समाजवादी, असमाजवादी, पूँजीपति, मज़दूर कोई भी वर्ग आपसमें आधिपत्यके लिए लड़ते हों, सेनाको तटस्थ रहना चाहिये पर ऐसा होता नहीं। आजकल तो कई देशोंमें सेनासे जो शपथ ली जाती है उसमें भी यह बात रहती है कि हम समाजवादका विरोध करेंगे। पुलिस भी केवल चोर डाकुओंसे रक्षा करनेके लिए नहीं होती। यदि समाजकी व्यवस्था ठीक हो तो ऐसे लोग बहुत कम हों। लोकमत उनसे निपट ले और पुलिसकी आवश्यकता ही न पड़े। एक ओर आजकी व्यवस्था बेकारों और भुक्खड़ोंकी सृष्टि करती है, दूसरी ओर उनका पुलिस द्वारा दमन करती है। शोषक वर्गकी ओरसे मज़दूरों और किसानोंपर तो डण्डे और गोलियाँ चलते देखा गया है पर धनिक वर्ग चाहे जो करे उसपर पुलिसका प्रहार नहीं होता।

इस बातको कितना भी छिपाया जाय पर लोकात्मा इसको खूब समझती है। जो दल समाजके संघटनको बदलना चाहता है, उसका पहला प्रयत्न यह होता है कि राजयन्त्र अपने हाथमें आ जाय अर्थात् सरकारपर क़ब्ज़ा हो जाय। यह इसलिए नहीं होता कि चोर-डाकुओंको दबाने या विदेशी शत्रुओंसे लड़नेमें सुविधा हो वरन् इसलिए कि पुलिस और सेना घरेलू विरोधियोंको दबाकर पंगु बनानेके साधन हैं। जो वर्ग जिस समय आर्थिक और राजनीतिक महत्ता रखता है वह इनका उपयोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करके अपने अधिकारोंकी रक्षा करता है। जब कोई दूसरा वर्ग प्रधान बनना चाहता है तो स्वभावतः वह भी इस साधनसे काम लेना चाहता है। किसी समय सरदार-सामन्तोंका ज़माना था। उनसे लड़कर मध्यम वर्गने अधिकार प्राप्त किया पर अधिकार प्राप्त करके अपने पुराने नारोंको भूल गया। वह भी सेना और पुलिससे ठीक उसी ढंगका काम ले रहा है जैसा कि उससे पहले क्षत्रियवर्ग लेता था। अब दूसरे वर्गने सिर उठाना आरम्भ किया है। श्रमिक और कृषक चाहते हैं कि राजका सूत्र अर्थात् विरोधियोंके दमनके साधनोंपर अधिकार उनके हाथमें आ जाय।

जब राज वर्गविशेषके हितोंकी रक्षाका साधन है तो वह सब वर्गोंके ऊपर और सबसे पृथक् अर्थात् तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हो सकता। इसका प्रयत्न अवश्य होता है। छोटेसे छोटे अहलकारको भी ऐसा दर्जा दिया जाता है कि वह समाजसे ऊपर हो जाता है। दरबार, अदालत, कचहरीमें उठने, बैठने, बोलनेके ऐसे ऐसे नियम बनाये जाते हैं कि लोगोंपर आतङ्क छाया रहता है और इन जगहोंमें आने-जानेवालोंको ऐसा अनुभव होता है जैसे उन्हें किसी प्रत्यक्ष देवके मन्दिरमें पाँव रखनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा हो। इन युक्तियोंके प्रयोगसे राज लोगोंके चित्त-पर शासन करता है और उसको अपने नख और दाँत अर्थात् पुलिस और सेनासे प्रतिदिनका काम लेनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती।

[यह स्मरण रहे कि ऊपर जो कुछ कहा गया है किसी एक राजके लिए नहीं वरन् राजमात्रके लिए लागू है। भारतके छोटे-छोटे राजोंसे लेकर बड़ेसे बड़े साम्राज्योंतकका यही चित्र है। इस-लिए एक वचनमें प्रयुक्त राज शब्द इन सबके लिए आया है।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंद्रहवाँ अध्याय

राजसत्ताका अन्त

जैसा कि हम पिछले अध्यायमें देख चुके हैं राज वह संस्था है जिसके द्वारा अधिकार-प्राप्त वर्ग दूसरे वर्गोंपर अपना अधिकार क़ायम रखता हैं। सेना और पुलिसके द्वारा यह संस्था काम करती है। यदि कोई विरोधी सिर उठाता है तो वह इसके बलसे दवा दिया जाता है। अधिकारयुक्त वर्गका तीसरा शस्त्र क़ानून है। क़ानून वर्गसंघर्षकी बीभत्सताको यथासम्भव छिपाता है। उसका काम यह है कि शोषित वर्ग-के जीवनको नित्यप्रति ऐसे बन्धनोंसे जकड़ रखे कि सेनासे काम न लेना पड़े। हर सरकार क़ानून और अमनकी दुहाई देती है। इसका तात्पर्य्य यही है कि वस्तुस्थितिमें कोई गहरा परिवर्त्तन न हो। जो हुकूमत करता है वह हुकूमत करता रहे, जो दास है वह दास बना रहे। इसके बिना थोड़ेसे मनुष्य बहुतसे मनुष्योंको दबाकर रख नहीं सकते।

राजका यह स्वरूप ऐसे शब्दाडम्बरसे छिपाया जाता है कि साधारण मनुष्य सचमुच उसको एक निष्पक्ष संस्था समझता है और उससे निरपेक्ष न्यायकी आशा रखता है। पर जब उत्पादनके साधनोंका रूप बदलता है और उन साधनोंसे काम लेनेवाला दूसरा वर्ग ऊपर उठना चाहता है तो उसे राजके सच्चे स्वरूपका बहुत ही शीघ्र बोध हो जाता है। उसको यह विदित हो जाता है कि राज वस्तुतः उस वर्गकी एक प्रकारकी कार्य्य-कारिणी समिति है जिसके हाथमें अबतक आर्थिक और राज-नीतिक अधिकार रहा है। नया वर्ग अपने लिए सुविधाएँ चाहता है पर पुराना वर्ग अपनी अर्थात् राजकी सारी शक्तिसे इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुविधाओंको रोकता है क्योंकि वह समझता है कि यदि नया वर्ग सम्पन्न हुआ तो वह सारे अधिकार अपने हाथमें ले लेगा। इस प्रकार वर्गसङ्घर्ष, जो अबतक मन्द और आलीन था, तीव्र और प्रकट हो उठता है। नये उठनेवाले वर्गको यह बात साफ़ देख पड़ती है कि यदि उसे आगे बढ़ना है तो फिर राजपर क़ब्ज़ा करना चाहिये, विदेशियोंसे लड़नेके लिए नहीं अपने घरेलू प्रतियोगियोंसे लड़नेके लिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' राजपर क़ब्ज़ा करनेका अर्थ है सेना और पुलिसपर क़ब्ज़ा करना अर्थात् इनसे काम ले सकना। इसका दूसरा अर्थ है क़ानून बनानेकी शक्ति प्राप्त करना। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी लालसाने ही मध्यमवर्गको सामन्त-सरदारोंके हाथसे राजयन्त्र छीननेपर विवश किया। राजशक्तिको हाथमें लेते ही मध्यम वर्ग सामन्तोंकी कुर्सीपर जा बैठा था। जो अबतक शोषित था वह स्वयं शोषक बन गया। जिस प्रकार पहले थोड़ेसे क्षत्रियवर्गीय अपनेसे अधिक संख्या वालोंपर हुकूमत करते थे, उसी प्रकार पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीके द्वारा थोड़ेसे मध्यमवर्गीय करोड़ों मनुष्योंपर हुकूमत कर रहे हैं अर्थात् करोड़ों मनुष्योंका शोषण कर रहे हैं।

ऐसी दशामें राजके प्रति समाजवादीका क्या रुख़ हो सकता है? यह तो हम देख चुके हैं कि वह वर्गसङ्घर्षको बहुत बुरी चीज़ समझता है। हम यह भी देख चुके हैं कि वह उत्पादनके साधनोंपर व्यक्तियोंके निजी स्वत्वको बुरी चीज़ मानता है और पृथ्वीपर फैली हुई अशान्तिका प्रधान कारण समझता है। उसकी रायमें जबतक यह वैयक्तिक स्वत्व रहेगा तबतक पृथ्वीपर पूँजीशाही, साम्राज्यशाही, वर्गसङ्घर्ष और अन्तारा्ष्ट्रिय युद्ध आजकी भाँति बने रहेंगे और आकाश-पुष्पकी भाँति शान्तिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभाव रहेगा। वह यह भी देखता है कि सम्प्रति राज पूँजीपतियोंके हाथमें है और उस वर्गको दबानेमें अपनी सारी शक्ति लगा रहा है जो पूँजीपतियोंके हाथसे उत्पीड़ित और शोषित होनेसे ऊबकर अब सिर उठाना चाहता है। यह वर्ग श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग है। यह बातें एक और ही पाठ पढ़ाती हैं। यदि समाजवादी सचमुच पूँजीशाहीको मिटाना चाहता है तो उसको वही काम करना होगा जो इसके पहले पूँजीपतियोंने किया था। उसको राजपर क़ब्ज़ा करना होगा। राजकी लगाम उसके हाथमें आते ही सरकार उसकी होगी, सेना और पुलिस उसकी आज्ञाओंका पालन करेगी, अपनी इच्छाके अनुकूल क़ानून वह बनवा सकेगा।

ऊपर मैंने लिखा है कि समाजवादीको राजपर क़ब्ज़ा करना होगा। वस्तुतः यह निरर्थक-सा वाक्य है। समाजवाद एक सिद्धान्त है। उसको माननेवालोंका कोई विशेष आर्थिक वर्ग नहीं होता। मेरा असली तात्पर्य्य यह था कि जो आजकलका प्रताड़ित वर्ग है, अर्थात् शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग, उसको राजकी बाग सँभालनी होगी। जबतक राजशक्ति अपनी नहीं होती तबतक पूँजीशाहीका बाल बाँका नहीं हो सकता, समाजवाद केवल पुस्तकोंके पन्नोंमें ही धरा रह जायगा। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी इच्छाने ही शोषितोंको सिखलाया है कि उन्हें हुकूमत करनी होगी। मूसाकी बाबत कहा जाता है कि वह आग ढूँढ़ने गये थे, पैग़म्बर हो गये। इसी प्रकार वर्गोंका अभ्युत्थान होता है।

यहाँपर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि राजपर क़ब्ज़ा कैसे होता है। साधारण तौर पर तो यह देखनेमें आता है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुव्यवस्थित देशोंमें एकके बाद दूसरा राष्ट्रपति आता है, एककी जगह दूसरा मन्त्रिमण्डल लेता है। इसीको एककी जगह दूसरी सरकारका आना कहते हैं। परन्तु विचार करनेसे यह देख पड़ता है कि व्यक्ति भले ही बदलते रहें पर राजकी नीतिमें कोई तात्विक परिवर्त्तन नहीं होता। इसका कारण यह है कि शासनकी डोर एक ही वर्गके हाथमें होती है। आज पूँजीपति वर्ग प्रधान है। बड़े बड़े पूँजीपति अपनी कोठी छोड़कर सरकारी दफ़्तरोंमें नहीं बैठते। यह काम तो वह अपनी कठपुतलियों अर्थात् नरेशों, राष्ट्रपतियों और मन्त्रियोंको सौंप देते हैं पर इतना बराबर ध्यान रखते हैं कि कोई राजनीतिक दल उनका नुक़सान न करने पावे। ब्रिटेनके मज़दूर-दलका इतिहास इस बातका साक्षी है। इस दलके नेता अपनेको समाजवादी कहते हैं पर उनका विश्वास है कि एक दिन वोटोंके बलपर वह राज-शक्तिके स्वामी बन जायँगे। अबतक तो वह मुँहकी खाते रहे हैं। पूँजीपति वर्ग उनको पार्लिमेण्टमें आने देगा, मन्त्री भी बनने देगा क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकार सरकारी कुर्सियोंपर बैठनेवाले पुरानी पद्धतिको बहुत नहीं बदल सकते। पर वह जब देखेगा कि यह लोग सचमुच पूँजीशाहीसे टक्कर लेना चाहते हैं तो इनके पाँव न जमने देगा। १९८१ वि० में मज़दूर दलका बहुमत था पर वह कुछ न कर पाया। पाँच वर्ष बाद उसका फिर बहुमत हुआ परन्तु फिर निकाला गया। यह सब जानते हैं कि यदि आज ब्रिटेनमें कोई सरकार पूँजीशाहीके छत्तेमें सचमुच हाथ डाल दे तो वह बुरी तरह घायल होगी। पूँजीपति अपनी स्थितिकी रक्षाके लिए सब कुछ कर डालेंगे। भयंकर गृहयुद्ध छिड़ जायगा। इस युद्धका क्या रूप होगा वह स्पेनमें अभी हालमें ही देख पड़ा है। यह बात किसीको अच्छी लगे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या न लगे पर इसमें पूँजीपतियोंका कोई दोष नहीं है। उन्होंने सामन्तवर्गसे लड़कर यह पद प्राप्त किया है। उनके सारे हित इसके साथ बँधे हुए हैं। अपने स्वत्वोंके लिए न लड़ना आत्म-हत्या करनेके समान होगा। यह ठीक है कि पूँजीशाही कई ऐसे क़ानूनोंको बनने देती है जिनसे कुछ देरके लिए उसके मुनाफ़ेमें कमी हो जाती है और मज़दूरोंकी सुविधाएँ बढ़ जाती हैं पर यह उसकी युद्धकला है। कुशल सेनानी पीछे हटकर भी विजय प्राप्त करता है। छोटे छोटे सुधारोंकी दूसरी बात है पर पूँजीशाही धीरे धीरे अपना गला आप न घोंटेगी और न किसी भी पार्लिमेण्ट या व्यवस्थापिका सभाको ऐसा करने देगी।

अतः वैध उपायोंसे, व्यवस्थापक सभाके वोटोंसे, राजपर वह क़ब्ज़ा प्राप्त नहीं हो सकता जो समाजवादीको अभीष्ट है। इसीलिए समाजवादी बराबर कहते हैं कि राजपर क़ब्ज़ा क्रान्ति द्वारा हो सकता है। इतिहास भी उनके कथनका समर्थन करता है। ब्रिटेन और फ़ान्समें क्रान्तिके द्वारा ही मध्यम वर्गने सामन्त वर्गको हटाकर राजपर क़ब्ज़ा किया। रूसमें श्रमिक वर्गको क्रान्ति द्वारा ही अधिकार मिला। जर्मनी और इटलीमें अपने अधिकारको पुनः स्थापित करनेके लिए पूँजीशाहीको क्रान्ति करनी पड़ी।

क्रान्ति अवैध, क़ानूनके विरुद्ध, होती है। सफल क्रान्तिके बाद क्रान्तिकारियोंकी इच्छा ही क़ानूनका रूप धारण करती है पर जबतक राजयन्त्र, या यों कहिये कि उसके प्रत्यक्ष चिह्न सेना और पुलिस, पर क़ब्ज़ा नहीं हो जाता तबतक वह ग़ैरक़ानूनी है। क्रान्तिका अर्थ केवल सरकार बदलना नहीं वरन् राजके साँचेको बदलना है; बलका मुक़ाबिला बलसे करना है; एक वर्गके आधिपत्यको हटाकर दूसरे वर्गके आधिपत्यको स्थापित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना है। इसीलिए यदि क्रान्ति सफल हो गयी तो जो नयी सरकार बनती है वह उन कामोंको कर सकती है जो वोटोंके द्वारा चुनी गयी सरकार नहीं कर सकती। वोटके बलपर खड़ी सरकार वस्तुस्थितिको बराबर बदल नहीं सकती। वह उन ज़िम्मेदारियोंसे बहुत कुछ बँधी हुई है जो उसके पहलेकी सरकारें छोड़ गयी हैं। जिन क़ानूनोंकी छायामें वह चुनी गयी उनको वह एकदम तोड़ नहीं सकती। जो लोग वोटरोंके कन्धोंपर बैठकर राजके विधाता बने हैं उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी नहीं हो सकती कि वह भूतको एकदम मिटाकर नये वर्तमान और भविष्यका निर्माण करें। परन्तु क्रान्तिकारी इन बन्धनोंसे मुक्त होता है। उसकी मनोवृत्ति उग्र न होती तो वह क्रान्तिके भयावह और कण्टकाकीर्ण मार्गपर पाँव ही न रखता। जब वह क़ानूनके विरुद्ध चलकर शक्तिसम्पन्न हुआ है तो उसे उस क़ानूनका कोई व्यामोह नहीं हो सकता। उसको मिटा देनेमें उसे कोई हिचक न होगी। उसको कोई अधिकार सौंपता नहीं, वह आप लेता है। पिछले अधिकारी दूसरे वर्गके थे, वह दूसरे वर्गका है अतः उनकी छोड़ी हुई ज़िम्मेदारियाँ उसको बाँध नहीं सकतीं। न वह उनके लिये हुए ऋणको देनेके लिए बाध्य है, न उनके द्वारा की गयी सन्धियोंका मानना उसके लिए अनिवार्य्य है। व्यवहारमें सम्भवतः वह इनमेंसे बहुतसी ज़िम्मेदारियोंको अपनी इच्छासे ओढ़ लेगा पर सिद्धान्तदृष्ट्या उसके हाथ-पाँव उन्मुक्त हैं।

पर क्रान्ति हो कैसे ? इसका अबतक तो इतिहासने एक ही उत्तर दिया है। क्रान्ति जहाँ जहाँ हुई है सशस्त्र ही हुई है। ब्रिटेन, फ़्रान्स और रूसको इसी उपायसे सफलता मिली। जहाँ जहाँ क्रान्ति सफल हुई है वहाँ या तो विशेष परिस्थितिके कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरम्भसे ही क्रान्तिकारियोंका भौतिक बल अधिक था या वह शीघ्र ही राजके भौतिक बल अर्थात् सेना, पुलिस, ख़ज़ाना और युद्धसामग्रीको अपनी ओर मिला सके। परन्तु बलका जवाब बलसे ही दिया गया, तोप और तलवारने तोप और तलवारसे लोहा लिया। इस बातको देखकर कुछ लोग यह कहते हैं कि समाजवादको हिंसासे पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि समाजवादी व्यवस्था हिंसात्मक क्रान्तिके बिना स्थापित नहीं हो सकती। यह उनका समाजवादके विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग है।

पर यह आक्षेप न्याय्य नहीं है। इसमें उतना ही तथ्य है जितना इस आक्षेपमें कि स्वाधीनता हिंसात्मक, अथच त्याज्य, है। हमारे पास पृथ्वीका हज़ारों वर्षका इतिहास है पर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी राष्ट्रने सशस्त्र, हिंसात्मक, युद्धके विना अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता फिरसे प्राप्त की हो। अभी हालमें ही इटलीने एथियोपियाकी चिर-सञ्चित स्वतन्त्रताको नष्ट किया है। यह उसने अपने स्वार्थके लिए ही किया है अतः इटली यह कदापि न चाहेगा कि उसका धन-जन-व्यय व्यर्थ जाय और अबीसीनियावाले स्वतन्त्र हो जायँ। फिर भी कोई ज़िम्मेदार इटालियन अपने मुँहसे यह नहीं कह सकता कि चूँकि स्वाधीनताकी प्राप्तिके लिए हिंसात्मक उपायोंका प्रयोग होता रहा है इसलिए तत्वतः स्वाधीनता बुरी चीज़ है। इसी प्रकार समाजवादका विचार करते समय क्रान्तिके साधनोंका ज़िक्र छेड़ना अनुचित है और विषयान्तर करना है। मूल प्रश्न यह है कि समाजवाद स्वतः अच्छी चीज़ है या नहीं, उसका दार्शनिक आधार कैसा है, उसने मनुष्य समुदायकी अवस्थाके रोगोंका जो निदान किया है वह काल्पनिक है या साधार और जो लक्ष्य वह अपने सामने रखता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह मनुष्योंके लिए कल्याणकारी है या नहीं। साधनका प्रश्न गौण है। यदि स्वाधीनता अच्छी चीज़ है तो पराधीनको स्वाधीन बननेका प्रयत्न करनेका हक़ है। पिंजड़ेमें बन्द चिड़िया-को यह सुनाना कि दूसरी चिड़ियोंकी भाँति स्वच्छन्द उड़नेका तो तुमको नैसर्गिक हक़ है पर तुम इस जन्मसिद्ध हक़को मेरे बताये हुए उपायसे ही प्राप्त करो, उसकी हँसी उड़ाना है। चिड़िया अपने क़ैद करनेवालोंकी राय माननेको बाध्य नहीं की जा सकती। वह अपने पिंजड़ेके जिस तारको जहाँसे कमज़ोर देखेगी उसको वहींसे तोड़कर बाहर निकल जायगी। अन्ता-राष्ट्रिय विधान इस बातको स्वीकार करता है।

यह तो सिद्धान्तकी बात हुई पर व्यवहार-दृष्ट्या ऐसा कोई समझदार नहीं है जो अहिंसाको हिंसासे अच्छा न समझता हो। हिंसासे क्रूरता पृथक् नहीं की जा सकती और शस्त्र-प्रयोगमें गेहूँके साथ घुनके पिस जानेकी सदैव सम्भावना रहेगी। इसलिए जहाँ हिंसा अहिंसाके मुक़ाबिलेका प्रश्न होगा वहाँ सभी अहिंसाको पसन्द करेंगे। समाजवादके आचार्य्योंके सामने यूरोपमें जो परिस्थिति थी उसमें उनको हिंसात्मक उपायोंसे ही सफलताकी आशा हो सकती थी। मार्क्स, एंगेल्स या लेनिनके सामने कोई दूसरा मार्ग न था। पर वह लोग नर-मेधके पुरोहित नहीं थे। उनको हिंसामें कोई खास रस नहीं था, इसलिए उन्होंने हिंसाका उपदेश कभी नहीं किया है। स्वयं लेनिनने 'दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन' में लिखा है "मध्यम वर्गीय राजके स्थानमें सर्वहारा राज 'साधारणतः' हिंसात्मक क्रान्तिके द्वारा ही स्थापित हो सकता है।" इसका स्पष्ट तात्पर्य्य यह है कि असाधारण परिस्थितिमें वह अहिंसात्मक क्रान्तिकी सम्भा-वना भी स्वीकार करते थे। कौनसी परिस्थिति साधारण है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और कौनसी असाधारण इसका कोई तात्त्विक विवेचन नहीं हो सकता—यह देशकालपर निर्भर है।

पर इस समय तो यह प्रश्न और भी अनावश्यक है। महात्मा गान्धीने अहिंसाको राजनीतिमें स्थान दिया है। उनका ऐसा विश्वास है कि अन्ताराष्ट्रिय ग्रन्थियाँ भी इसके द्वारा सुलझायी जा सकती हैं। भारतमें और भारतके वाहर वहुतसे मनुष्य उनके अनुयायी हैं। अहिंसात्मक क्रान्ति कैसे होगी यह तो किसीको भी ठीक ठीक नहीं मालूम है क्योंकि अभी तो अहिंसा-त्मक युद्धशैलीका शैशवकाल है। पर यदि पैंतीस करोड़की आवादीवाले भारत जैसे विशाल देशका अहिंसात्मक उपायोंसे स्वाधीन होना सम्भव है तो अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा समाज-वादी व्यवस्थाका क़ायम होना भी सम्भव है। यह कोई नहीं कहता कि हिंसा मनुष्य समुदायके लिए आदर्श है।

पर जैसा कि हमने ऊपर कहा है इस गौण विषयपर शास्त्रार्थ उठाना उचित नहीं है। यह तो मूल विषयसे ध्यान हटाकर विषयान्तरकी ओर ले जानेकी एक चतुरतापूर्ण युक्ति है और समाजवादको वदनाम करनेका उपाय है। इसमें उल-झना व्यर्थ है।

अस्तु, मान लिया जाय कि सफल क्रान्तिके द्वारा अद्यावधि-शोषित श्रमिक और कृषकवर्गने राजपर क़ब्ज़ा प्राप्त कर लिया। फिर क्या होगा? जो उत्तर पहले मुँहको आता है वह तो यही है कि इस बार भी वही होगा जो अवतक होता आया है अर्थात् अपने क्रान्तिकालीन नारोंको भूलकर यह वर्ग भी राजसे अपने सङ्कुचित वर्ग-हितोंके साधनका काम लेगा। भेद इतना है कि अवतक यह शोषित था, अब यह शोषक होगा और दूसरे वर्ग शोषित होंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। पहले तो इस वर्गके कोई सङ्कुचित वर्गहित हैं ही नहीं। यह तो शोषणसे व्यथित होकर उठा था अतः इसका एक ही उद्देश्य है और वह है शोषणको मिटा देना। जिन समाजवादी सिद्धान्तोंकी प्रेरणाने इसको प्राणित किया है उनका भी यही परिणाम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह वर्ग इस समय सबसे नीचा है। इसमें वह लोग हैं जो उत्पादनकी किसी सामग्रीके स्वामी नहीं हैं। इनकी जीविका दूसरोंकी कृपापर निर्भर है। अतः अब यह किसको सतायेगा? इसके उत्तरमें स्यात् यह कहा जायगा कि जो आजकल शोषक हैं वही भविष्यमें शोषित हो जायँगे। पर ऐसा नहीं हो सकता। इस समय शोषकोंकी संख्या थोड़ी है परन्तु शोषितोंकी संख्या बहुत बड़ी है। मुट्ठीभर पूँजीपति प्रायः सारी जनताको कामधेनु बनाकर दुह रहे हैं। क्रान्तिके बाद तो यही जनता अधिकारमें होगी पर यह आजके पूँजीपतियोंका शोषण नहीं कर सकती। थोड़ेसे आदमी बहुतोंका शोषण कर सकते हैं, बहुतसे आदमी थोड़ोंका शोषण नहीं कर सकते। दो चार शेर मिलकर जङ्गलके और पशुओंका शोषण कर सकते हैं पर यदि सारे पशु मिल जायँ और शेरोंको वशमें करके उनका शोषण करना चाहें तो नहीं कर सकते। दो दिनमें शेर खतम हो जायँगे। थोड़ोंके आहार बहुत हो सकते हैं, बहुतोंके लिए यह सम्भव नहीं कि थोड़ोंको आहार बनाकर कुछ दिनतक अपना पेट भरें। अतः मज़दूर और कृषक वर्गके हाथमें राजशक्ति आ जाने पर शोषण बन्द हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि राज शोषणका साधन न रह जायगा। पर अबतक तो यही उसका प्रधान लक्षण है कि वर्गसङ्घर्षमय इस जगत्में राज एक वर्गको दूसरेका शोषण करनेमें सहायता देता है। अब यह पहली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात न होगी। सेना, पुलिस और क़ानून बनानेका अधिकार होते हुए भी इनका उपयोग पुराने ढङ्गपर न होगा। राजके पुराने रूपका अन्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रमिकों और कृषकोंके हाथमें अधिकार आने पर यह संस्था जो आजसे हज़ारों वर्ष पहले शोषणको सुव्यवस्थित, चिरायु और सफल बनानेके लिए स्थापित हुई थी और जो आजतक इस कामको करती आयी है स्थानच्युत हो जायगी। अपने असली स्वरूपको खोकर राज, राज न रह जायगा। पर उसका ढाँचा बहुत दिनोंतक रहेगा। समाजवादी न तो फ़ौज या पुलिसको बर्खास्त कर देंगे, न क़ानून बनवाना छोड़ देंगे। उनके सामने अभी तो बहुत काम पड़ा होगा जिसमें इन साधनोंसे सहायता मिलेगी।

समाजवादियोंका उद्देश्य वर्गसङ्घर्षको मिटाकर वर्गहीन समाजको जन्म देना है। वह यह भी चाहते हैं कि मनुष्य द्वारा मनुष्यका शोषण न हो। पर यह बातें सङ्कल्पमात्रसे न होंगी। कृषकों और श्रमिकोंके हाथमें शासन आ जाने मात्रसे भी न होंगी। जो लोग अबतक शोषणकी बदौलत पलते रहे हैं वह एकदम चुप नहीं बैठ सकते। यदि सम्भव हुआ तो वह विदेशियोंको अपनी सहायताके लिए ले आयेंगे। फ्रेञ्च क्रान्तिके बाद फ़्रांसके राजवंश और सरदारोंकी ओरसे ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये थे। हालमें रूसी क्रान्तिके बाद रूसको चार वर्षतक रूसी विद्रोहियों और उनके विदेशी हिमायतियोंका मुक़ाबिला करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त देशके भीतर भी नये अधिकारियोंको पदे पदे पुराने स्वार्थोंसे लड़ना होगा। उनके हर काममें अड़चन डाली जायगी। हर प्रकारके ऐसे प्रयत्न किये जायँगे जिनसे उनके शासनकी व्यवस्था बिगड़ जाय,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके प्रयोग असफल हों, प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो। उनके साथ बात बातमें असहयोग किया जायगा। उनकी अनुभव-हीनतासे हर प्रकारका अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा की जायगी। बिना इस प्रकारके कुयत्नोंको असफल बनाये क्रान्ति विफल हो जायगी। रूसकी क्रान्तिकारी सरकारको यह सब दिक़तें भुगतनी पड़ी हैं। यदि नये शासक दृढ़प्रतिज्ञ हैं तो वह इस विपत्ति-सागरको भी पार कर जायँगे और क्षुद्र स्वार्थियोंको मुँहकी खानी पड़ेगी। उनकी सारी कोशिशें विफल होंगी और वर्गभेद मिटकर रहेगा। इस काममें नये शासकोंको राजके ढाँचेसे अर्थात् सेना, पुलिस और क़ानूनसे बड़ी सहायता मिलेगी। जो शस्त्र शोषणको क़ायम रखनेके लिए निकाला गया था वह यदि अच्छे हाथोंमें पड़ जाय तो उससे शोषणका अन्त करनेका काम लिया जा सकता है। इसलिए समाजवादी श्रमिक और कृषक राजके ढाँचेको एकदम बिगाड़ न देंगे।

इस ढाँचेकी सहायतासे उनको अपना मूल उद्देश्य, अर्थात् समाजवादी व्यवस्था और वर्गहीन समाजका संस्थापन, सिद्ध करना होगा। पुराने शोषकवर्गके विरोधकी कमर टूट जाने पर जो लोग उस वर्गमें थे या उससे सम्बन्ध रखते थे वह भी श्रमकी महत्ताको स्वीकार कर लेंगे और अपनी शक्ति तथा योग्यताके अनुसार काममें लग जायँगे। ऐसा होने पर समाजसे वर्गभेद, अथवा वर्गसंघर्ष, मिट जायगा। दूसरी ओर उत्पादनके साधनोंपर समुदायका अधिकार हो जायगा। जो युवक और युवती इस नये युगमें शिक्षा पाकर प्रौढ़-जीवनमें क़दम रखेंगे, उनके लिए रुपया जोड़ना और रुपयेके लिए काम करना एक अस्वाभाविक-सी बात प्रतीत होगी। वह लोक-हितको सामने रखकर काम करेंगे और समाजकी समृद्धिमें शरीक होना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझेंगे। इस परिस्थितिमें समाजवादी व्यवस्था आप ही स्थापित हो चलेगी। पर यह समझ रखना चाहिये कि अकेला कोई एक देश पूर्णरूपेण समाजवादी पद्धति नहीं चला सकता। अस्तु, जिस दिन यह व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो जायगी उस दिन राज अनावश्यक हो जायगा। न क़ानून बनानेकी आवश्यकता रह जायगी, न सेनाकी, न पुलिसकी। राजका ढाँचा व्यर्थका भार होगा और आप ही टूट जायगा। एंगेल्सके शब्दोंमें राज मुरझाकर झड़ जायगा। वह दिन आज नहीं है, पर आ सकता है और प्रत्येक समाजवादी ऐसी आशा करता है कि आयेगा। उस समय भी कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो सामूहिक-जीवनको ख़राब करना चाहे। लोकमत उसको सुधारने और यदि ज़रूरत हो तो दण्ड देनेके लिए काफ़ी होगा। समुदायकी आत्मरक्षा-प्रवृत्ति वेतनभोगी सेनाओंकी अपेक्षा रक्षाका अच्छा आयोजन कर सकती है क्योंकि यह रक्षा किसी एक वर्गके हितोंकी रक्षा नहीं वरन् सबकी रक्षा होगी।

इस सम्बन्धमें एंगेल्सके नीचे लिखे वाक्य इस सारे कथनका निचोड़ देते हैं—"सर्वहारा वर्ग राजशक्तिपर क़ब्ज़ा करता है और उत्पादनके साधनोंको राजसम्पत्तिमें बदल देता है पर ऐसा कर लेने पर वह खुद सर्वहारा नहीं रह जाता, सारे वर्गभेद और वर्गविरोध ख़त्म हो जाते हैं और राजरूपसे राजका भी अस्तित्व ख़त्म हो जाता है। पुराने समाजको, जिसका जीवन वर्गसंघर्षमें बीतता था, राजकी अर्थात् शोषकवर्गके संघटनकी आवश्यकता थी ताकि उत्पादनकी तत्कालीन अवस्था क़ायम रहे; अतः उसको राजकी विशेष ज़रूरत इसलिए थी कि शोषितवर्ग (जो समय समयपर ग़ुलाम, ज़मीनके साथ बँधा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसान या मज़दूरका रूप धारण करता रहता है) बलात् दबाया जा सके। ऊपरसे तो राज सारे समाजका प्रतिनिधि था। जब राज सचमुच सारे समाजका प्रतिनिधि हो जायगा तो वह अनावश्यक हो जायगा। जब कोई ऐसा वर्ग नहीं रह जाता जिसको दबाना हो, जब वर्ग-आधिपत्य और पहिलेकी उत्पादन-सम्बन्धी कुव्यवस्थासे उत्पन्न वैयक्तिक जीवनके लिए संघर्षके साथ साथ आपसके झगड़े और अत्याचार ख़त्म हो जायँगे तो ऐसी कोई चीज़ ही न रह जायगी जिसका शमन करना हो और विशेष दमनकारी शक्ति अर्थात् राजकी ज़रूरत न रहेगी। जो पहिला काम सारे समाजके प्रतिनिधिके रूपमें राज करता है—अर्थात् सारे समाजके नामपर उत्पादनके साधनोंपर क़ब्ज़ा करना—वही राजकी हैसियतसे उसका अन्तिम स्वतंत्र काम है। क्रमशः सामाजिक सम्बन्धके विभिन्न क्षेत्रोंमें राजका हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर आप ही आलीन हो जाता है। व्यक्तियोंपर शासन करनेके स्थानमें वस्तुओंकी व्यवस्था और उत्पादनकी क्रियाओंका सञ्चालन रह जाता है। राजको कोई ख़त्म नहीं करता, वह खुद मुरझाकर झड़ जाता है।"*

---

* ऊपरके अवतरणमें, जो एंगेल्सके 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राजकी उत्पत्ति'से लिया गया है, उस शोषित वर्गके लिए जो भविष्यमें समाजवादी व्यवस्था क़ायम करेगा 'सर्वहारा' शब्दका प्रयोग किया है। हमने इस अध्याय और पिछले अध्यायमें इस वर्गको श्रमिकों और कृषकोंका वर्ग कहा है। वस्तुतः दोनों नामोंमें कोई तात्त्विक विरोध नहीं है पर एक भेद है जिसे समझ लेना आवश्यक है। श्रमिक तो सर्व-हारा है क्योंकि सिवाय अपने शरीर और मस्तिष्कके उसके पास उत्पा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोलहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—प्रथम सोपान

इस पुस्तकके तीसरे अध्यायमें एक प्रश्न पूछा गया था। वह प्रश्न संक्षेपमें यह था कि जगत्में इतनी अशान्ति, इतना दुःख क्यों है। हमने चौथे अध्यायमें इस प्रश्नके कुछ उत्तरोंपर विचार किया और यह दिखलाया कि वह अपर्य्याप्त हैं। उसके बाद इस समस्यापर समाजवादीके दृष्टिकोणसे ग़ौर किया गया और उन दो तीन मुख्य बातोंके स्वरूपका निरूपण किया गया जो समाजवादीकी रायमें सारी बुराईकी जड़ हैं। प्रसङ्गतः हमने यह भी दिखलाया है कि इन दो तीन बातोंकी सन्तति बढ़कर कितनी व्यापक और भयावह हो गयी है। जैसा कि पिछले अध्यायोंसे ज्ञात होता है, जबतक उत्पादनके मुख्य साधनोंपर व्यक्तियोंका स्वाम्य रहेगा तबतक अर्थमूलक

दनका कोई दूसरा साधन नहीं है। पर कृषक बड़ा व्यापक नाम है। ऐसे लोग भी कृषक कहलाते हैं जिनके क़ब्ज़ेमें सैकड़ों बीघे ज़मीन होती है। यह लोग मज़दूरोंसे खेती कराते हैं और दूसरोंको खेतीके लिए अपनी ज़मीन देते हैं। इनको कृषक इसीलिए कहते हैं कि वह ख़ुद ज़मीनके मालिक नहीं हैं वरन् किसी ज़मीनदारको कुछ लगान देते हैं। ऐसे लोग ख़ुद शोषकवर्गमें हैं। असली कृषक तो वह है जो किसी अर्थमें ज़मीनका मालिक नहीं कहा जा सकता, जो अपनी जीविकाके लिए दूसरोंकी कृपापर आश्रित है। ऐसे कृषककी अवस्था मज़दूरके ही बराबर है और इस प्रकारके शोषित श्रमिक और कृषक ही सर्वहारा हैं। वर्गसंघर्ष और वर्ग-आधिपत्यके यह पुराने शिकार ही वर्गहीन समाजकी सृष्टि कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग रहेंगे और वर्गसङ्घर्ष जारी रहेगा। इसके ही फलस्वरूप पूँजीशाही और उसकी प्रसूति साम्राज्यशाही क़ायम रहेगी और वर्ग-आधिपत्यका साधन राज भी क़ायम रहेगा। इन सबके क़ायम रहनेका एकमात्र अर्थ है आपसमें अन्धी प्रतियोगिता, व्यक्ति-व्यक्तिमें, वर्ग-वर्गमें, राष्ट्र-राष्ट्रमें, कलह; शोषण; राजनीतिक और आर्थिक दासता और विषमता; क्रोध और विद्रोह तथा दमन; हिंसा और प्रतिहिंसा; दूसरे शब्दोंमें, दुःख और अशान्ति। इस निरन्तर दुःख और अशान्तिके कारण ही मानव-समुदाय जङ्गली पशुओंका समुदाय हो रहा है और सच्चे समाजका स्वरूप नहीं धारण कर सकता; इसीके कारण यह आशङ्का है कि कहीं सहस्रों या लाखों वर्षोंकी उपार्जित संस्कृति एवं सभ्यताका ही लोप न हो जाय।

इस अध्यायमें हम यह देखना चाहते हैं कि समाजवादी इस अवस्थामें कैसे सुधार करना चाहता है। कुछ हदतक तो उसके कार्य्यक्रम और कार्य्यशैलीका संकेत पिछले अध्यायोंमें भी आ चुका है, क्योंकि जिस बातको वह दोष समझता है स्वभावतः उसको दूर करनेका प्रयत्न करेगा। यह भी मानना ही चाहिये कि इन बुराइयोंके दूर हो जाने पर जो व्यवस्था रह जायगी वह शुद्ध समाजवादी व्यवस्था होगी। यह अनुमान ठीक है, फिर भी किञ्चित् विस्तारके साथ इस प्रश्नपर विचार करना श्रेयस्कर होगा। समाजवादियोंसे बहुधा लोग यह सवाल करते हैं। रूसमें जो प्रबन्ध है वह इस सवालका जवाब है सही पर आंशिक, इसलिए तात्विक विवेचन करना अच्छा है। देश-कालकी दृष्टिसे इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन होता रहेगा।

समाजवादीके लिए पहली ज़रूरत यह है कि वह राजपर अधिकार प्राप्त करे। सम्भव है यह अधिकार वैधानिक उपायों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से ही प्राप्त हो जाय—कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि फ़्रांसमें पापुलर फ़्रण्ट सरकारकी स्थापना इसकी शुभ सूचना है—परन्तु अबतक यह अधिकार-परिवर्त्तन क्रान्ति द्वारा ही होता रहा है। समाजवादी क्रान्तिका यह अर्थ होगा कि राजनीतिक अधिकार उस वर्गके हाथमें आ जाय जो आज शोषित है। इस क्रान्तिकी पद्धति क्या होगी, यह हिंसात्मक होगी या अहिंसात्मक, यह हमारे लिए अप्रासङ्गिक है। पर यह आवश्यक है कि राजनीतिक अधिकार समाजवादियोंके हाथमें आये। केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि जिन लोगोंका राजयन्त्रपर क़ब्ज़ा हो वह समाजवादी विचार रखते हों परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि यह समाजवादी अद्यावधि-शोषित वर्गके हों अर्थात् मज़दूर और किसान, एक शब्दमें सर्वहारा या तत्सम अर्थात् निम्न मध्यमवर्गके, हों। इसका तात्पर्य्य यह है कि यदि समाजवादी अधिकारियोंको इस दलितवर्गकी सक्रिय सहानुभूतिके द्वारा अधिकारकी प्राप्ति हुई होगी तब तो वह समाजवादी व्यवस्थाकी ओर निर्भयताके साथ बढ़ सकेंगे; अन्यथा यदि वह दूसरे, अर्थात् आजकलके साधिकार, वर्गोंकी सहायतासे शासनकी गद्दीपर बैठेंगे तो उनको पदे पदे समझौतेकी नीति बरतनी पड़ेगी और अपनी समाजवादी कार्य्यशैलीको पीछे रखकर अपने हिमायतियोंका हितसाधन करना पड़ेगा। उनके हाथों बहुतसे उपयोगी सुधार हो जायँगे पर सुधारमात्रके लिए क्रान्तियाँ नहीं होतीं।

इसका एक और अर्थ निकलता है, वह भी समझ लेना चाहिये। यदि समाजवादियोंकी परिस्थिति वैसी ही रही जैसी कि लोकतन्त्र देशोंमें विभिन्न राजनीतिक दलोंकी होती है अर्थात् यह कि कभी पार्लिमेण्टमें बहुमत हो गया तो दो चार वर्षतक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्त्रिमण्डलमें आ गये, अल्पमत हुआ तो पदसे पृथक् हो गये तो भी वह कुछ नहीं कर सकते। ऐसे राजनीतिक दलोंको सदैव यह डर लगा रहता है कि यदि हमने कोई व्यापक उलट-फेर किया तो हमारे बाद जिस दलका बहुमत होगा वह हमारा किया-धरा सब उलट देगा, अतः वह डरकर ही आगे बढ़ते हैं। न तो उनको अतीतसे नाता तोड़ते बनता है, न अनागतकी ओर लम्बे डग डाल सकते हैं। ऐसे लोग भी साधारण सुधारक होकर ही रह जाते हैं। यदि समाजवादी व्यवस्था क़ायम होनी है तो यह आवश्यक है कि समाजवादी देशके एक नहीं, एकमात्र, राजनीतिक दल हों। यह निश्चय होना चाहिये कि वह जो कुछ करेंगे उसमें स्थायित्व होगा और उनको दूसरे दलोंके साथ समझौता करके अपनी कार्य्यपद्धतिमें परिवर्त्तन करनेकी ज़रूरत नहीं है। यह स्थायित्व तभी हो सकता है जब साधारण पार्लिमेण्टरी ढङ्ग कुछ कालके लिए स्थगितसा हो गया हो और समाजवादियोंके हाथमें क्रान्तिके द्वारा अधिकार आया हो।

इस जगह एक आक्षेपपर विचार करना आवश्यक है। कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि समाजवादमें कुछ तथ्य है तो समाजवादी कहीं छोटेसे क्षेत्रमें उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता सिद्ध करें। भारतमें बहुधा यह सुना जाता है कि गान्धीवाद और समाजवादका इस समय मुक़ाबिला है। इन दोनोंमें गान्धीवाद तो नित्य व्यवहारमें बरता जा सकता है पर समाजवादकी परीक्षा नहीं होती, इसलिए उसके पीछे पड़ना अपनेको एक सन्दिग्ध चीज़के हाथों बेच देना है। कांग्रेसके महामान्य नेता सरदार वल्लभ भाई पटेलने कहीं सुन लिया कि भारतीय कांग्रेस समाजवादी दलके प्रथम मन्त्री श्री जयप्रकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नारायणकी यह राय है कि कृषिमें ट्रैक्टर जैसे यन्त्रोंका उपयोग होना चाहिये। वह कहते फिरते हैं कि समाजवादी किसी क्षेत्रमें ट्रैक्टरसे खेती करके दिखलाते क्यों नहीं। ऐसे आक्षेप कभी तो अज्ञानवश सच्चाईके साथ किये जाते हैं, कभी मज़ाक उड़ानेके लिए। पर इनसे साधारण जनतामें बुद्धिभेद उत्पन्न हो जाता है और समाजवादके नये विद्यार्थी भी क्षुब्ध हो जाते हैं। इसीलिए इनपर दृष्टिपात करना ज़रूरी है।

यूरोपमें कई बार छोटेसे क्षेत्रमें समाजवादी प्रयोग करनेका प्रयत्न किया गया। समाजवादी बस्तियाँ तक बसायी गयीं। पर यह सब प्रयोग असफल रहे। आज रूसमें ही ऐसा प्रयत्न सफल हो रहा है। कारण स्पष्ट है। जबतक सारे देशमें समाजवादी वातावरण न हो तबतक कोई एक कल-कारख़ाना समाजवादी ढङ्गसे नहीं चल सकता। जो मिल-मालिक ऐसा करने चलेगा उसका दो दिनमें दिवाला निकल जायगा। बिना सरकारी सहायताके सम्मिलित खेती भी नहीं हो सकती। यह तो हो सकता है कि मुनाफ़ेकी कुछ रक़म मज़दूरोंमें बाँट दी जाय या खेत-कारख़ानेके चलानेमें कुछ उनकी भी राय ली जाय पर इतनेसे समाजवादकी पुष्टि नहीं होती। जिस पद्धतिके अनुसार मालगुज़ारी ली जाती है, आमदनीका टैक्स लिया जाता है, बङ्कों या महाजनोंसे ऋण मिलता है, बाज़ारोंमें माल बिकता है, उसके विरुद्ध चलकर कोई व्यवसायी सफल नहीं हो सकता। अतः बिना शासनके आसनपर आरूढ़ हुए समाजवादी प्रयोग नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी समाजवादीको यह चुनौती देता है कि तुम समाजवादकी व्यावहारिकता छोटे क्षेत्रमें दिखला दो तो उसका यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गान्धीवाद और समाजवादका सवाल उठाना भी निरर्थक है। गान्धीवाद या तो साधन है या साध्य। यदि यह साधन है तो यह तप, इन्द्रियनिग्रह, उदारता आदिका नाम है। इन चीज़ोंके स्वरूपके विषयमें थोड़ा बहुत मतभेद भले ही हो पर समाजवादियोंको इनसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। इतना ही नहीं सफल समाजवादी भी तपस्वी होता है। समाजवादके आचार्य कार्ल मार्क्स तपश्चर्या और त्यागकी मूर्ति थे। यह बातें किसी सम्प्रदाय-विशेषकी निजी सम्पत्ति नहीं हैं। यदि गान्धीवाद किसी प्रकारका साधन है तो उससे कोई और वस्तु प्राप्त होती होगी। योग-दर्शनमें पतञ्जलिने यम-नियमोंको साधन ही माना है और उनका परिणाम 'द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—पुरुषका कैवल्य—माना है। इस दृष्टिसे समाजवादी व्यवस्थाके साधन—कृषकों और श्रमिकोंका संघटन, समाजवादी विचारोंका प्रचार, राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन इत्यादि —सर्वथा व्यवहार्य्य है। यदि एक व्यक्ति यह कह सकता है कि तप, अहिंसा, सत्य आदिकी प्रतिष्ठा प्राप्त होनेसे मोक्ष होता है तो दूसरा व्यक्ति भी यह कह सकता है कि समाजवादी आन्दोलनके चरमावस्थातक पहुँच जाने पर मनुष्योंको सुख, समृद्धि और शान्तिका अनुभव होगा। हाँ, दोनोंमें एक प्रत्यक्ष भेद है। एकका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है अतः उसका फल जल्दी देख पड़ जाता है, दूसरेका सम्बन्ध राष्ट्रोंसे है, अतः उसका फल दीर्घकालमें देख पड़ता है।

वस्तुतः समाजवादकी व्यावहारिकताका सबूत माँगना वैसा ही है जैसे स्वाधीनताकी व्यावहारिकताका प्रमाण माँगना। न समाजवादका प्रयोग छोटेसे क्षेत्रमें हो सकता है, न स्वाधीनताका। दोनोंके लिए कठिन परिश्रम करना होता है और यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिश्रम दीर्घकालतक जारी रखना होता है। बिना राजयन्त्रपर क़ब्ज़ा किये दोमेंसे एकका भी आस्वाद नहीं हो सकता। इस-लिए इस प्रकारके कुतर्क उठने पर किसी भी समाजवादीको विचलित होनेका कोई कारण नहीं है। उसे विश्वास रखना चाहिये कि जिस दिन उसके हाथमें शासनका सूत्र आयेगा, उसी दिन वह समाजवादकी व्यवहार्य्यता सिद्ध करनेमें समर्थ होगा।

अस्तु, अधिकार प्राप्त करके समाजवादी कल-कारख़ानों, बङ्कों, रेलों, जहाज़ों, खानों और जङ्गलोंको सार्वजनिक सम्पत्ति बना देंगे, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसा कारख़ाना चल सके जिसमें कई व्यक्ति मज़दूरकी हैसियतसे काम करें और एक या थोड़ेसे व्यक्ति मुनाफ़ा लें। जो लोग माल तैयार करनेवाले और गाहँकके बीचमें बड़ी-बड़ी आढ़तें खोलकर मुनाफ़ा करते हैं, उनका स्थान सार्वजनिक दूकानें या ग्राहकोंकी सहयोग-समितियाँ लेंगी। खेतीकी अवस्था भी आज जैसी नहीं रह सकती। शोषण तो ख़त्म हो ही जायगा। न तो ज़मीनदारी प्रथा रह जायगी, न काश्तकार ही अपनी भूमि दूसरोंको लगानपर उठा सकेंगे। छोटी-छोटी टुक-ड़ियोंकी खेती लाभदायक नहीं हो सकती। चकबन्दीकी कोशिश हो सकती है पर इससे भी अच्छी चीज़ सम्मिलित कृषि है अर्थात् गाँवके सब कृषकोंकी भूमिको एक साथ खेती हो। सबकी ज़िम्मेदारीपर बीज, खाद इत्यादिके लिए ऋण भी सुग-मतासे मिल सकता है; मशीनें भी ख़रीदी जा सकती हैं या राजकी ओरसे मिल सकती हैं; पैदावारकी बिक्रीका भी अच्छा प्रबन्ध हो सकता है। सब ख़र्च काटकर जो मुनाफ़ा बचेगा उसमें सबका हिस्सा लग जायगा। निजी सम्पत्तिका भी कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न कुछ पुनर्वितरण होगा। एक मकानोंका ही उदाहरण लीजिये। ऐसे भी लोग हैं जिनके मकानोंमें इतनी जगह है कि सारे घरके लोग कितना भी फैल कर रहें उसका उपयोग नहीं कर सकते। एक एक मकानके चारों ओर बागके रूपमें इतनी भूमि घिरी पड़ी है जिसमें एक एक छोटासा गाँव बस सकता है। यह अनुचित है कि इतनी ज़मीन एक परिवारके क़ब्ज़ेमें रहे और हज़ारों परिवारोंके सिरपर श्रावण-भाद्रकी वर्षामें एक छप्पर तक न हो। ऐसे मकानोंमें सैकड़ों परिवार बसाये जा सकते हैं और जायँगे। पण्योंका परिसीमन भी करना होगा। नया प्रवन्ध होगा। अनुभवकी कमी होगी। पुराने अनुभवी लोगोंकी ओरसे, जो पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठा रहे थे, असहयोग होगा। इसलिए आरम्भमें पण्योंकी पैदावार भी कम होगी, जो चीज़ें मिलेंगी वह सम्भवतः बहुत अच्छी भी न होंगी। पर ऐसा करना होगा कि सबकी ज़रूरतकी चीज़ें, जैसे अन्नवस्त्र, सबको मिल सकें और कोई उनको व्यर्थ जमा न कर सके। एक बहुत बड़ी दिक़्क़त यह होगी कि नयी व्यवस्थाके स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेके कारण साधारण जनता इच्छा रहते हुए भी पूरी सहायता न कर सकेगी।

मैंने इन बातोंको बहुत संक्षेपमें इसलिए लिखा है कि इन ब्योरेकी बातोंका विस्तारसे वर्णन करना इस पुस्तकका विषय नहीं है। प्रत्येक देशके समाजवादी शासकोंको अपने देशकी परिस्थितिके अनुसार काम करना होगा। सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक होगा। सबकी कोशिश यह होगी कि उत्पादन, वितरण और विनिमयके मुख्य साधनोंपर सार्वजनिक अधिकार हो और शोषण बन्द हो ताकि वर्गसङ्घर्ष खत्म हो जाय और सारे देशमें अपनी मेहनतसे कमाकर खानेवाले ही देख पड़ें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् वर्गभेद मिट जाय। इस लक्ष्यको सामने रखकर चलनेमें भिन्न भिन्न देशोंमें किञ्चित् भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करना पड़ सकता है। रूसको,* जहाँ बड़ी बड़ी ज़मीनदारियाँ थीं, प्रजा अशिक्षित और रूढ़ियोंसे दबी हुई थी और पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठानेवालोंने असहयोगका कोई उपाय छोड़ नहीं रखा, इस पद्धतिके अनुसरणका अवसर मिला है। रूस सरकारकी पञ्चवर्षीय योजनाओंकी नक़ल आधे जीसे असमाजवादी सरकारें भी करने लगी हैं। इन योजनाओंमें उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है, यह बात उसके शत्रुओंको भी स्वीकार करनी पड़ती है। अन्न, तेल, कोयला, लोहा, वस्त्र, लकड़ी सभी आवश्यक चीज़ोंकी उपज कई गुणा बढ़ गयी है, मकान बराबर बनते जाते हैं, रूस अब बाहरके बाज़ारोंमें माल भेजने लगा है। शिक्षाका प्रचार इतना बढ़ गया है कि एक पुश्तमें कोई अशिक्षित मनुष्य न देख पड़ेगा। विज्ञान, साहित्य, सङ्गीतमें ज़बर्दस्त उन्नति हुई है। रोज़गार मुनाफ़ेके लिए नहीं होता इसलिए मज़दूरोंको थका मारनेकी कोशिश नहीं है। रूस ही ऐसा सभ्य देश है जिसमें इस समय बेकारीकी कोई समस्या नहीं है। पूँजीशाहीके अभावके कारण रूसमें साम्राज्यशाही भी नहीं है। रूस सरकार बलवान् है क्योंकि उसको प्रबल विदेशी शत्रुओंका मुक़ाबिला करनेको तैयार रहना पड़ता है पर यह सब जानते हैं कि रूस ही ऐसा देश है जो दूसरे देशोंके राजनीतिक और आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण नहीं करना चाहता। वह अपना

---

* हमने सुविधाके लिए रूस लिख दिया है। अब पुराने रूसी साम्राज्यका नाम यू० एस० एस० आर० (यूनिअन आव सोविएत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स—पञ्चायती समाजवादी प्रजातन्त्रोंका सङ्घ) है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्तिमय विकास करना चाहता है पर रूस एक उदाहरण मात्र है। कोई दूसरा देश उसकी ठीक ठीक नक़ल नहीं कर सकता। पूँजीपतियों और ज़मीनदारोंकी ताक़त, प्रजाकी शिक्षा, कृषि और व्यवसायकी उन्नति आदिके कारण पृथक् देशोंकी परिस्थितियाँ पृथक् होंगी।

अक्सर लोगोंका यह ख़याल है कि समाजवादी दस्तकारियोंका विरोधी होता है क्योंकि वह मशीनोंके प्रयोगका पक्षपाती है। ऐसे लोग यह समझते हैं कि समाजवादियोंके हाथमें अधिकार आते ही सब हाथके काम ख़त्म कर दिये जायँगे। यह ख़याल ग़लत है। समाजवादी न तो मशीनोंके हाथ बिका है, न उसको हाथकी कारीगरीसे शत्रुता है। वह इन चीज़ोंपर किसी रूढ़िका दास होकर विचार नहीं करता। हाथकी कारीगरी प्राचीन है अथच उसमें कोई विशेष धार्म्मिकता या पूज्यता है, ऐसा वह नहीं मान सकता। मशीन नयी चीज़ है इसलिए उसका प्रयोग होना ही चाहिये, यह भी कोई अकाट्य नियम नहीं है। सब बातें परिस्थितिपर निर्भर हैं। समाजवादी व्यवस्थामें जब कृषि सम्मिलित ढङ्गसे होगी तब पैदावार बढ़ जायगी पर आदमी कम लगेंगे। इन लोगोंके लिए जीविकाका प्रबन्ध करना होगा। आजकलसा ज़माना न होगा कि किसीको जीविका मिले या न मिले इसमें सरकारकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती। व्यवसाय लोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए होगा, मुनाफ़ेके लिए नहीं। इसलिए उसकी भी ख़ूब वृद्धि होगी और आदमी भी बहुत खपेंगे क्योंकि आजकलकी भाँति लम्बे घण्टे न होंगे। फिर भी यह बहुत सम्भव है कि ऐसे लोग बच जायँ जो न तो खेतीमें लगे हों न व्यवसायमें। ऐसे लोग यदि हाथ की दस्तकारी करें तो हर तरह प्रोत्साहन मिलना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये। उदाहरणके लिए, भारतमें कपड़ा बिननेकी कारीगरी-के लिए अब भी उज्ज्वल भविष्य हो सकता है। हाँ, राजका यह कर्तव्य है कि जिन दस्तकारियोंमें मनुष्यको अस्वास्थ्यकर परिस्थितिमें बहुत थोड़े पैसोंके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है उनको उठा देनेका प्रयत्न करे। इसी प्रकार जो व्यव-साय गन्दे हैं उनको यथाशक्य ख़त्म करना चाहिये।

पर कई ऐसे काम हैं जो मशीनकी अपेक्षा हाथसे ही अच्छे हो सकते हैं। चित्रकारी हाथसे ही होगी, बाजे हाथसे ही बजेंगे। कई प्रकारके धातु या लकड़ीके काम हाथसे बड़े अच्छे बनते हैं। मिट्टी या काग़ज़के खिलौने हाथके ही अच्छे होते हैं। सिलाईकी बारीकियाँ हाथमें ही देख पड़ती हैं। सूततक जितना बारीक हाथसे कतता है, उतना मशीन नहीं तैयार कर सकती। इन कामोंको रोकना तो दूर रहा, राज और जनसमु-दायसे हर प्रकारका प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि ज्यों-ज्यों लोगों-की संस्कृतिमें उन्नति होगी और फ़ुरसत बढ़ेगी त्यों-त्यों गुण-ग्राहकता भी बढ़ेगी।

और भी कई व्यवसाय हैं जिनको छोटे व्यवसायी अच्छा चला सकते हैं। अपने बाग़में माली या किसान प्रेमसे बड़े सुन्दर फूल और बड़ी अच्छी तरकारियाँ पैदा कर सकता है। अपनी गायके दूधसे ताज़ा मक्खन निकाल सकता है। इस प्रकारके व्यवसायोंमें कोई रुकावट नही पड़ सकती। रूसमें भी इनके लिए अनुमति है।

एक और ख़याल बहुत फैला हुआ है। लोग समझते हैं कि समाजवादी पारिवारिक जीवनके शत्रु हैं और उनके हाथमें अधिकार आते ही विवाहकी प्रथा तोड़ दी जायगी और कौटुम्बिक जीवनका अन्त हो जायगा। यह ख़याल भी ग़लत है। इसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फैलानेकी बहुत कुछ ज़िम्मेदारी उन लोगोंपर है जिन्होंने रूसी क्रान्तिके बाद रूसकी नयी सरकारको बदनाम करनेके लिए यह ख़बर उड़ा दी कि उसने स्त्रियोंका राष्ट्रीकरण कर दिया अर्थात् उनको सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया। बहुतसे भोले-भाले आदमी इस कुटिल प्रचारके शिकार हुए। इतना अवश्य है कि समाजवादी स्त्रीको पुरुषका ग़ुलाम नहीं मानता और समाजवादी शासनमें न केवल स्त्रियों वरन् बच्चोंके स्वत्वोंका भी लिहाज़ किया जायगा। आज पुरुष चाहे जो कर सकता है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय दूसरी स्त्रीको धोखा देकर या पैसा देकर उसकी मिट्टी ख़राब करता है और यदि बच्चा पैदा हुआ तो वह दर-दरका भिखारी होता है। बाप-माँके पापका बोझ उस निरपराधको ढोना पड़ता है। प्राचीन कालके आर्य्योंने आठ प्रकारके विवाह मानकर सभी प्रकारके बच्चोंको पिताकी सन्तान, अथच जायज़, मान लिया था पर आजकल केवल ब्राह्म विवाह क़ानूनी रह गया है इसलिए पुरुष पिता बनकर भी सन्तानके भरण-पोषणके दायित्वसे बच जाता है। इसका प्रबन्ध तो करना ही होगा। पर इन बातोंका समाजवादसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। प्रगतिशील विचारोंके असमाजवादी भी इन दिशाओंमें सुधार चाहते हैं। आज भारतमें असमाजवादियों द्वारा जहेज़, तिलाक, असवर्ण-विवाह आदिके सम्बन्धमें क़ानून बनवानेकी कोशिश हो रही है। समाजवादी न तो विवाह-प्रथाको नष्ट करना चाहता है, न पारिवारिक जीवनका अन्त करना चाहता है। हाँ, यह अवश्य है कि बच्चे केवल बाप-माँकी नहीं, वरन् सारे समुदायकी सम्पत्ति हैं। उनके भरण-पोषण, शिक्षा आदिका दायित्व सारे समुदायपर है अतः बाप-माँ या अन्य अभिभावक इस विषयमें स्वतन्त्र नहीं छोड़े जा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकते। यदि इस देख-रेखका प्रभाव यह पड़े कि दो चार सौ बरस या और अधिक समयमें पारिवारिक बन्धन धीरे-धीरे ढीला होते होते आप ही राजकी भाँति मुरझाकर झड़ जायँ और परिवार ख़त्म हो जाय तो इसकी बाबत कुछ कहा नहीं जा सकता। समाजवादियोंका रुख़ रूस सरकारकी कार्यशैलीसे जाना जा सकता है। क्रान्तिके पहले वर्षोंमें पारिवारिक बन्धन कुछ शिथिल पड़ गये थे, अब उनको फिर दृढ़ करनेका प्रयत्न हो रहा है। तिलाकोंके कम करने और बच्चोंको गुरुजनका समादर सिखलानेकी विशेष कोशिश हो रही है।

समाजवादी धर्म्मके प्रति क्या करेंगे इस सम्बन्धमें बहुत लोगोंको चिन्ता है। ऐसे प्रसङ्गमें धर्म्मका अर्थ मज़हब या सम्प्रदाय होता है। जहाँतक धर्म्मका अर्थ मनुप्रोक्त धृतिक्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तुसे है वहाँतक कोई चिन्ताकी बात नहीं है। वह तो सचमुच सनातन है पर वैष्णव, शैव, शाक्त, इस्लाम, ईसाईमत, हीनयान, आदि सम्प्रदायोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी? इस सम्बन्धमें इतना निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि समाजवादी राजमें किसीकी उपासनामें बाधा नहीं डाली जायगी पर किसी सम्प्रदायके साथ कोई ख़ास रिआयत भी न होगी। कोई पद किसी सम्प्रदायका अनुयायी होनेके कारण नहीं दिया जा सकता। यह भी तय है कि सम्प्रदायोंकी आड़में जो अनाचार होते हैं या विशाल सम्पत्तियाँ थोड़ेसे व्यक्तियोंके भोगकी सामग्री बन जाती हैं उनपर रोक होगी। पर इससे किसी भी सच्चे धर्म्मभीरुको क्षुब्ध न होना चाहिये। समाजवादियोंको यह विश्वास है कि साम्प्रदायिक झगड़ोंका निपटारा तभी हो सकता है जब उनकी तहमें छिपे हुए आर्थिक संघर्षोंका निपटारा हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगोंको यह चिन्ता इसलिए हुई कि रूसमें ईसाई धर्म्म-संस्थानपर शुरू शुरूमें बड़े ज़ोरसे प्रहार हुआ और सरकारने अनीश्वरवादका खूब प्रचार कराया। वहाँकी देखादेखी भारतमें भी कुछ तथाकथित समाजवादियोंने अनीश्वरवादकी चरचा शुरू की। यह बात मान-सी ली गयी कि समाजवादीके लिए अनीश्वरवादी और अनीश्वरवादका प्रचारक होना अनिवार्य्य है। यह सच है कि मार्क्सके दार्शनिक विचारोंमें किसी जगदारम्भक सगुण ईश्वरके लिए स्थान नहीं है पर अनीश्वरवाद मार्क्सका निकाला हुआ नहीं है। भारतमें आजसे हज़ारों वर्ष पहले अनीश्वरवादी थे। कोई समाजवादी ईश्वरको मानता हो या न मानता हो पर इसकी कोई खास ज़रूरत नहीं है कि वह दूसरोंसे साम्प्रदायिक झगड़ा मोल ले। रूसका उदाहरण सर्वदेशीय नहीं है। यूरोपमें ईसाई मज़हबने एक विशेष रूप धारण कर लिया है। जिस प्रकार नरेशतन्त्र देशोंमें राजासे लेकर गाँवके पटवारीतक सरकारी अहलकार होते हैं, उसी प्रकार ऊपरके आर्चबिशप (या इसी प्रकारके अन्य अधिकारी) से लेकर गाँवतकके पादरी होते हैं। सबको वेतन मिलता है, बदली होती रहती है, तरक्की होती है, दण्ड मिलता है। राजके भीतर राज होता है। इस संघटनके कारण यह धर्म्म-संस्था बड़ी प्रबल होती है। साधारणतः यह सरकारका ही साथ देती है पर रुष्ट होने पर बड़े बड़े नरेशोंके छक्के छुड़ा देती है। अपनी शक्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए हर प्रकारकी पुरानी रूढ़ियोंका समर्थन करती है और हर बातमें ईश्वरीय आज्ञाओंकी दुहाई देती है। परिणाम यह होता है कि जो नयी विचारधारा उठती है उसको इस धर्म्म-संस्थासे* टक्कर लेनी

* The Church.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ती है। जिस प्रकार नरेश और सरकारके विरुद्ध आन्दोलन करना पड़ता है, उसी प्रकार पादरियोंके सङ्गटनका मुक़ाबिला करना पड़ता है। रूसी क्रान्तिके विधाताओंको दोनों शक्तियों-का समान रूपसे सामना करना पड़ा क्योंकि दोनोंकी शक्तियाँ मिल गयी थीं। उनको ज़ारकी सेनाके साथ-साथ ख़ुदाकी सेना-से भी लड़ना पड़ा अतः यह स्वाभाविक था कि अधिकार पाने पर वह ज़ारशाहीके साथ-साथ पादरीशाहीके गढ़को भी ध्वस्त करें। इसीलिए रूसमें विशेष रूपसे मज़हबका विरोध हुआ। कुछ दिनोंतक तो नयी सरकारकी यह कोशिश हुई कि ईसाई मज़हबकी जगह अनीश्वरवादी बौद्ध-धर्म्मका प्रचार हो। परन्तु प्रजाने ही इस बातको नापसन्द किया, इसलिए यह प्रयत्न छोड़ दिया गया।

हिन्दुओं और मुसलमानोंमें कोई सङ्गठित धर्म्म-संस्था नहीं है। एक पुरोहित, धर्म्मशास्त्री या मौलवी दूसरेके साथ किसी ज़ाब्तेके सूत्रसे नहीं बँधा है। इसलिए भारत जैसे देशमें रूस जैसी परिस्थिति नहीं है, वैसे सङ्घर्षकी आशङ्का नहीं है। फिर भी यदि यहाँके धर्म्मोपजीवी अपना मार्ग छोड़कर लक्ष्मी-पतियोंकी ढाल बनना चाहेंगे और दलितोंकी आहकी ओर ध्यान न देकर समाजवादका व्यर्थ विरोध करेंगे तो सम्भव है यहाँभी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो और इन लोगोंकी अदूरदर्शिताके कारण लोग मज़हबके नामके ही विरोधी हो जायँ। सामाजिक सुधा-रोंका विरोध करके और साम्प्रदायिक वैरविरोधका समर्थन करके इस समुदायने अब भी मज़हबके नामको काफ़ी बदनाम किया है और अपनी रोटियोंको ख़तरेमें डाल रखा है।

यह कहना न होगा कि इस ज़मानेमें जनसाधारणकी अवस्थामें कल्पनातीत उन्नति होगी। समाजवादी राज इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बातका ज़िम्मा लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्तिको काम दिया जायगा। कोई बेकारीके कारण नङ्गा-भूखा न रहने पायेगा। जबतक काम नहीं दिया जाता तबतक उसका भरण-पोषण सरकारी कोषसे होगा। पर काम देनेका तात्पर्य वैसा काम देना नहीं है जैसा हमारे देशमें कभी कभी क़हतके ज़मानेमें दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यानमें रखना होगा कि देशके सब लोगोंको काम देना है अतः किसी एक आदमीसे बहुत काम करानेका फल यह होगा कि दूसरोंकी बारी न आयेगी। काम अधिक न होनेसे सबके पास पर्याप्त अवकाश रहेगा। आजकल अवकाश काटनेका साधन नहीं मिलता। फुर्सतवाले बहुधा मद्यपान करते, जुआ खेलते या ऐसे ही दूसरे निन्द्य काम करते पाये जाते हैं। फुर्सतसे लाभ उठानेकी योग्यता भी सबमें नहीं है। समाजवादी सरकारपर इसका भी ज़िम्मा होगा। वह शिक्षाका व्यापक प्रबन्ध करेगी। बच्चोंको ही नहीं, बूढ़ोंको भी इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि विषयोंके विद्वानोंके भाषण सुननेका मौक़ा मिलेगा। थियेटर, पार्क, बाग़, संग्रहालय और चित्रागार, मनोरञ्जन तथा शिक्षाकी सामग्री सबके पास पहुँचायेंगे। प्रत्येक प्रसूता स्त्रीका स्वास्थ्य और प्रत्येक बच्चेकी शिक्षा राजकी खास ज़िम्मेदारी होगी। जिस प्रकार किसीका नङ्गा-भूखा रहना राजके लिए लाञ्छन होगा, उसी प्रकार किसी रोगीका औषधोपचारके बिना रह जाना उसका कर्तव्यसे पतन होगा। जवानीमें अनिवार्य बीमा करके राज सबके बुढ़ापेको निष्कण्टक बना देगा। यह सब बातें कोरी कल्पनाकी सृष्टि नहीं हैं। रूसकी सरकार इनका प्रबन्ध करती रही है और वर्तमान शासन-विधानमें इनका साफ़-साफ़ ज़िक्र है। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब ज़िम्मेदारी समाजवादी सरकार ही ले सकती है। इसका कारण यह है कि दूसरे शासनोंमें व्यापार-व्यवसायका जो मुनाफ़ा थोड़ेसे पूँजीपतियोंकी जेबोंमें जाता वह यहाँ सरकारी कोषमें रहता है।

अदालतोंका काम बहुत हल्का हो जायगा। सम्पत्तिकी व्यवस्था बदल जानेसे दीवानीके मुक़दमें बहुत कम हो जायँगे। खाने-पीनेका सुख होने पर ऐसे कामोंकी ओर भी बहुत कम लोगोंकी प्रवृत्ति जायगी जो फ़ौजदारी क़ानूनके भीतर आते हैं। सब लोग इन्द्रिय-निग्रह करनेमें समर्थ हो जायँगे ऐसा दावा तो नहीं किया जा सकता पर पेटके लिए वेश्यावृत्ति धारण करने-वाली स्त्रियाँ बाज़ारोंको कलुषित करती न देख पड़ेंगी। जाग-रित लोकमत बहुतसे अपराधोंका आप ही दण्ड दे लेगा।

हमने ऊपर कई बार साहित्य और कलाकी उन्नतिका ज़िक्र किया है। जब लोगोंके जीवनमें नये उत्साहका सञ्चार होता है, जब हृदय नयी स्फूर्तिसे भर जाते हैं, तभी सच्चे साहित्यकी सृष्टि होती है। साधारण मनुष्यके लिए यह जगत् एक ऐसी पहेली है जो समझमें नहीं आती। तामसी बुद्धि इसको जड़वत् देखती है। पर जो मनुष्य अपनेको जीवनके स्रोतके साथ मिला देता है, जो अपने तुच्छ स्वार्थोंको भुलाकर लोकहितको अपना हित बना देता है, उसको इस पहेलीका अर्थ समझमें आता है। वह जगत्के अनाद्यनन्त प्रवाहके साथ एकीभूत होनेके रसका आस्वाद करता है। उसी व्यक्तिको सौन्दर्यका अनुभव होता है। वही सच्चा कवि है और उसीकी कृति सच्ची कला है। क्षुद्र वैय-क्तिक स्वार्थोंका शमन करके समाजवादी व्यवस्था कलाकी धात्री होगी। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले कला थी ही नहीं। समाजवादी ऐसा नहीं कहता। यह भी एक धारणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गयी है कि समाजवादी वर्तमान शील, सदाचार, साहित्य, कला सबके विरोधी हैं। यह धारणा भी ग़लत है। यह सब संस्कृतिके अङ्ग हैं। संस्कृतिकी धारा आदिकालसे आजकलतक चली आयी है। साम्राज्य आये और गये; जातियाँ उठीं और नष्ट हुईं; वर्गोंका अभ्युदय और पतन हुआ पर संस्कृतिकी झोलीमें सभी कुछ न कुछ डालते गये। समाजवादी पूँजीशाहीका भले ही विरोधी हो पर वह जानता है कि इस पूँजीशाही युगमें भी संस्कृतिकी पुष्टि हुई है। जिस प्रकार मिट्टीमें पड़ा हीरा अपनाया जाता है उसी प्रकार समाजवादी वर्त्तमान सभ्यता और संस्कृतिकी अच्छी बातोंको अपनाता है और फिर अपनी प्रतिभा और युग-धर्म्म-प्रेरणाके अनुसार उनका परिवर्धन करता है।

यह सब होगा पर हम उस बातकी ओर फिर ध्यान आकर्षित करना उचित समझते हैं जो इस अध्यायके आरम्भमें कही गयी थी यानी यह कि समाजवादी इस बातको कदापि पसन्द न करेगा कि जो अधिकार उसको इतनी दिक़्क़तसे मिला है वह हाथसे निकल जाय और समाजवादका प्रयोग अपूर्ण रह जाय। इसलिए वह किसी भी व्यक्तिको ऐसी बातोंके कहने या करनेका कदापि मौक़ा न देगा जिससे समाजवादी राज आपन्न हो। आलोचना हो सकेगी पर एक निश्चित सीमाके भीतर। इसमें भी सन्देह है कि पार्लिमेण्ट या इसी नामकी किसी अन्य सभा द्वारा शासन होगा या नहीं। जबतक लोगोंमें आर्थिक वैषम्य है, तबतक मताधिकार व्यर्थका ढकोसला है। उलटे, उन लोगोंको जो नये शासनमें अड़ङ्गा लगाना चाहेंगे शरारतका मौक़ा मिल जायगा। इसलिए शासनका सारा भार समाजवादियोंको प्रायः अपने ही ऊपर लेना पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजवादी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकतन्त्रके विरुद्ध हैं। उनका विश्वास है कि जब वर्गभेद मिट जाय तो शासनका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक ही होना चाहिये। रूसमें अधिनायकतन्त्र खत्म करके लोकतन्त्र स्थापित हो गया है।

कुल लोग यह आक्षेप करते हैं कि इससे, अर्थात् राज द्वारा लोगोंपर कड़ी देख-रेख रखनेसे, व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें बाधा पड़ती है। हम इसको स्वीकार करते हैं। पर यह बात वस्तुतः उतनी भयावह नहीं है जितनी कि सुननेमें प्रतीत होती है। सोचना यह है कि किसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमें रुकावट पड़ेगी। जो लोग नये विधानके साथ होंगे, उनको तो डरनेकी कोई बात नहीं है। यह भी मानना चाहिये कि वह सब लोग जो आज शोषित और उत्पीड़ित हैं अर्थात् सब शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिक और कृषक, वह लोग जो वर्ग-आधिपत्य और वर्गसंघर्ष तथा शोषणके विरोधी होंगे, वह लोग जो पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीसे व्यथित होंगे, नये विधानके साथ होंगे। पर ऐसे ही लोगोंका नाम तो जनता है। इनको निकालनेके बाद तो वही मुट्ठी भर आदमी बच जायँगे जो अपने क्षुद्र स्वार्थके कारण पुरानी व्यवस्थाको फिर लाना चाहेंगे। ऐसे लोगोंके स्वातन्त्र्य-पर अंकुश लगाना बुरा नहीं हो सकता। जो लोग इनकी बिगाड़ी हुई दुनियाको बनानेका बीड़ा उठाकर चले होंगे वह इनको फिर बिगाड़नेका मौक़ा तो नहीं ही दे सकते। इनके प्राण कोई नहीं लेता। इनको भी औरोंकी भाँति काम करनेका पूरा अवसर है पर यदि वह इस अवसरसे लाभ उठानेका अर्थ यह लगायें कि उनको नये शासनकी जड़ खोदने दिया जाय तो ऐसी हठधर्म्मीका लिहाज़ नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि नये शासकोंको उच्छृङ्खल न होना चाहिये। उनको अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामोंकी टीका-टिप्पणी सुननेको तैयार रहना चाहिये। अह-म्मन्यता और असहिष्णुता उनके लिए दूषण होगी। पर आलो-चकोंको भी यह स्मरण रखना चाहिये कि उनकी आलोचना नवविधानकी परिधिके बाहर न जाय।

इसपर कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि समाजवादी आगे चलकर अपने विरोधियोंके स्वातन्त्र्यको इस प्रकार रोकने-का विचार रखते हैं तो उनको इस समय स्वातन्त्र्यकी आशा न रखनी चाहिये। इसमें कोई घबरानेकी बात नहीं है। समाज-वादियोंको यों भी बहुत कम स्वातन्त्र्य है। उनकी संस्थापर उनके विरोधियोंके दाँत रहते हैं। जितनी कड़ाईसे दुनियाकी सरकारें समाजवादी भाषणों, लेखों और पुस्तकोंको देखती हैं उतनी दूसरोंके लिए नहीं होती। हाँ, आजकलकी लोकतन्त्रा-त्मक पद्धतिसे समाजवादी जो कुछ फ़ायदा उठा सकते हैं उठा लेते हैं। यह समाजवादके सिद्धान्तकी ख़ूबी और समाज-वादियोंकी लियाक़त है। जर्मनी और इटली जैसे देशोंमें भी जहाँकी सरकारें खुलकर उनके विरुद्ध खड्गहस्त हैं, वह अपना प्रचार प्राणकी बाज़ी लगाकर करते हैं। यदि पूँजीशाही देशोंमें लोकतन्त्र देख पड़ता है तो यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए विशेषरूपेण कृतज्ञता प्रकट की जाय। कुछ अधिकार तो श्रमिकोंने, जो समाजवादके प्रमुख स्तम्भ हैं, अपने सङ्घटनके बलपर प्राप्त किये हैं। शेष अधिकार, यह सारा लोकतन्त्रका ढाँचा, चुनाव और पार्लिमेण्ट और मन्त्रिमण्डलका नाटक, सम्पन्न वर्गने अपने हितकी दृष्टिसे फैला रखा है। यदि थोड़ेसे मनुष्य बहुतसे मनुष्योंसे काम लेना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वह उन्हें मिलाकर रखें। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि हुकूमत-की असली कुञ्जी अपने हाथमें रखते हुए भी उनको विश्वास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिला दिया जाय कि शासनमें उनको भी समान अधिकार है। इससे वह शौक़से काम करते हैं। दूसरी बात यह है कि इस ज़रियेसे शासकोंको प्रजाके असन्तोषका पता चलता रहता है और बहुतसा असन्तोष तो भाषण, लेख और शास्त्रार्थकी गर्मी-के रूपमें आप ही उड़ जाता है। फलतः आजकल विद्रोह और क्रान्तिकी नौबत बहुत कम आती है। यह समझकर ही यह खेल किया जाता है और समाजवादियोंको भी थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता मिल रहती है। इस स्वतन्त्रताको छीननेका अर्थ केवल थोड़ेसे पढ़े-लिखे समाजवादियोंका मुँह वन्द करना न होगा वरन् करोड़ों शोषितोंके असन्तोषको प्रकट होनेसे रोकना होगा। एक वार ऐसा किया जा सकता है पर जो अग्निशिखा ऊपर न उठने पायेगी वह भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी और किसीको पता भी न चलेगा। एक दिन विस्फोट अवश्य होगा। फिर उसको सँभालना सरल न होगा। इसलिए समाजवादियोंपर एहसान करके उनको कोई विशेष स्वतन्त्रता नहीं दी जा रही है। जो लोग इसे छीन लेनेकी धमकी देते हैं उनका अपना स्वार्थ उन्हें रोक रहा है। सख़्ती करनेसे समाज-वादियोंकी वर्तमान कठिनाइयाँ निःसन्देह बढ़ायी जा सकती हैं पर इसकी प्रतिक्रिया यह होगी कि पूँजीशाहीकी भावी कठि-नाइयाँ भी बढ़ जायँगी।

इस ज़मानेमें काम करनेवालोंको मज़दूरी मिलेगी। मज़दूरी-के दो रूप हो सकते हैं। रूसमें भी दोनों चलते रहे हैं। कुछ मज़दूरी तो नक़्द रुपयों (या उनकी जगह कागज़की मुद्रा) में मिलेगी। इससे लोग अपने अपने शौक़की चीज़ें, जैसे पुस्तकें या चित्र या बाजा या बाइसिकिल, ख़रीद सकते हैं। शेष मज़दूरी पण्योंके रूपमें दी जायगी। प्रत्येक श्रमिकको एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्टिफ़िकेट मिल जायगी जिसको दिखलाकर वह अन्न-वस्त्र आदिके भण्डारोंसे एक निश्चित परिमाणमें इन आवश्यक चीज़ों-को प्राप्त कर सकता है।

मज़दूरीमें आज जैसी व्यवस्था या कुव्यवस्था न होगी। राज यह स्वीकार करेगा कि समुदायके जीवनके लिए सभी मनुष्योंकी आवश्यकता है। न तो सभ्य सामूहिक जीवन गणितके अध्यापकके विना चल सकता है, न सड़कपर झाड़ू देनेवालेके विना। जो भी व्यक्ति अपने श्रमकी कमाई खाता है और कोई ऐसा काम करता है जिसका सामूहिक जीवनमें उप-योग है उसके योगक्षेमका भार समुदायपर है। यह भी मानना होगा कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी आवश्यकताओंमें भेद होते हुए भी बहुतसे अंशोंमें सभी मनुष्य बराबर हैं। भूख सबको लगती है, सर्दी भी सबको लगती है, सिरपर छप्पर सबको चाहिये। आज इसका लिहाज़ नहीं किया जाता, इसीलिए लोगोंकी मज़-दूरियोंमें वे-सिर-पैरकी विषमता है। भारतका गवर्नर-जनरल सरकारी नौकर है, चपरासी भी सरकारी नौकर होता है। दोनों ही मनुष्य हैं पर जहाँ गवर्नर-जनरलको २५,०००) मासिक दिये जाते हैं वहाँ चपरासीके लिए १०) पर्य्याप्त समझा जाता है। लोगोंकी ग़रीबी और बेकारीसे फ़ायदा उठाकर मज़दूरी कम करनेकी कोशिश की जाती है। यह समझा जाता है कि एक आदमी चला जायगा तो दस मिल जायँगे। पर जो बहुत कम मज़दूरीपर काम करेगा वह न तो अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है, न लड़के-बच्चोंका। उसकी कार्य-क्षमता घटती है और वह अपनी सन्तानको अक्षम बनाता है। यह उसका और उसके लड़कोंका ही नुक़सान नहीं है, सारे समुदायका नुक़सान है। अतः समाजवादीका यह आग्रह है कि श्रम करनेवालोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए देशकाल देखकर ऐसी मज़दूरी नियत होनी चाहिये जिससे जीवन-यात्रा चल सके। उससे कम पारिश्रमिक या वेतन देना और लेना क़ानूनसे जुर्म क़रार देना चाहिये। यूरोपके कुछ असमाजवादी देश भी अब इस सिद्धान्तको स्वीकार करने लगे हैं।

इस नीचेकी सीमापर ही वेतन और पुरस्कार क़ायम होंगे। दिमाग़से काम करनेवालों, दफ़्तरोंके बाबुओं, मशीन चलानेवाले कुशल मिस्त्रियों और साधारण मज़दूरोंकी मज़दूरियोंमें कुछ न कुछ फ़र्क होगा। जहाँ किसीको रुपयेकी पूँजी नहीं बनानी है, वहाँ आज जैसा भेद न होगा पर होगा अवश्य।

मज़दूरी या वेतन निश्चित करनेमें एक ही सिद्धान्तसे काम लिया जा सकता है, बराबर कामके लिए बराबर मज़दूरी दी जाय। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहते हैं, जो जैसा और जितना काम करे उसको वैसी और उतनी मज़दूरी दी जाय। यह सिद्धान्त आजकल भी माना जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार ठीक ठीक नहीं किया जाता। लोग इसको न्याय-मूलक समझते हैं, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सबके स्वत्वों-की उचित रक्षा होती है।

परन्तु विचार करनेसे प्रतीत होता है कि न इसमें न्याय है, न सबके स्वत्वोंकी रक्षा। दो व्यक्तियोंके कामकी तुलना कैसे की जाय? डाक्टर, अध्यापक, राजमन्त्री, मिट्टी ढोनेवाला मज़दूर—इन सबके कार्य्यक्षेत्र पृथक् पृथक् हैं, फिर यह कैसे नापा जाय कि किसने कितना श्रम किया? जब श्रमको ही तौलना असम्भव है तो मज़दूरी कैसे बिठायी जाय? बराबर समयसे भी अनुमान नहीं हो सकता। एक ही कार्य्यक्षेत्रमें भी कामकी ठीक ठीक नाप नहीं हो सकती। दो मज़दूर चार चार घण्टे तक एक साथ मिट्टी फेंकते हों। यदि काफ़ी देख-रेख हो तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह सम्भव है कि दोनों गिनकर बराबर टोकरियाँ फेंकें। दस्तूरके अनुसार दोनोंको मज़दूरी भी बराबर मिल जायगी। पर यह न्यायकी बात नहीं हुई। दोनोंकी ताक़त एकसी नहीं हो सकती। यदि एक दुर्बल है तो उतना ही काम करनेमें उसको अधिक श्रम पड़ा होगा। इसलिए दोनोंको बराबर मज़दूरी देना न्याय नहीं प्रत्युत अन्याय है। पर जो व्यवस्था अभी पूँजीशाहीके गर्भसे निकल रही है उसमें पुरानी पद्धतिके कई चिह्नोंका पाया जाना स्वाभाविक है। जैसा कि 'क्रिटीक आव दि गोथा प्रोग्राम' में मार्क्सने कहा है, बराबर श्रम और सामुदायिक पण्य भण्डारमें बराबर भाग (अर्थात् बराबर मज़दूरी) की अवस्थामें वस्तुतः एक व्यक्तिको दूसरेसे अधिक मिलता है, एक व्यक्ति दूसरेसे अमीर होता है। इन दोषोंको दूर करनेके लिए यह आवश्यक है कि स्वत्व बराबर नहीं किन्तु विषम हों। सुननेमें तो यह बात आश्चर्य्यकी प्रतीत होती है कि समतासे अन्याय और विषमतासे न्याय होता है पर जैसा कि लेनिनने कहा है, "हक़का अर्थ है एक ही मान-दण्डसे विभिन्न व्यक्तियोंको, जो एक दूसरेके बराबर नहीं हैं, नापना। इसीलिए 'बराबर हक़' वस्तुतः बराबरीका उच्छेदक और अन्याय है।"

सत्रहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—द्वितीय सोपान

आजसे कुछ काल पहिले प्रमुख समाजवादियोंको यह आशा थी कि बहुत शीघ्र विश्वक्रान्ति हो जायगी और सारी पृथ्वीपर समाजवादी व्यवस्था क़ायम होगी। इच्छा तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी अब भी है पर उसके शीघ्र फलीभूत होनेकी आशा अब उतनी तीव्र नहीं है। जबतक वह दिन नहीं आता तबतक जो देश अपने सामूहिक जीवनको समाजवादी साँचेमें ढालना चाहेगा उसको बलवान् पूँजीवादी देशोंके मुक़ाबलेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। वह उनका प्रत्यक्ष रूपसे कुछ न बिगाड़ता हो पर किसी भी देशमें समाजवादी शासनका सफल होना पूँजीवादियोंको बुरा लगता है। वह समझते हैं कि इससे लोगोंका विश्वास समाजवादी व्यवहार्य्यतापर जम जाता है। इसलिए प्रत्येक समाजवादी देशको प्रत्येक पूँजीवादी देश अपना नैसर्गिक शत्रु समझता है। आज रूसको इसका अनुभव हो रहा है। इस विद्वेषका सामना करनेके लिए समाजवादियोंको अगत्या राष्ट्रिय नीति बरतनी पड़ेगी। समाजवादका सिद्धान्त अन्ताराष्ट्रिय है पर समाजवादी शासनको कई अंशोंमें राष्ट्रिय सरकारोंका अनुकरण करना होगा। दूसरोंके स्वत्वका अपहरण वह न करेंगे पर अपनी रक्षाके लिए बलवान् सेना रखेंगे। सारे राष्ट्रको सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इतना ही नहीं पूँजीवादी देशोंमेंसे कुछके साथ सन्धि और मैत्री करनेकी भी आवश्यकता पड़ सकती है। उनका लक्ष्य यह होगा कि पराधीन देशोंको स्वाधीन बननेमें सहायता दें और लोकतन्त्रात्मक सरकारोंको अधिनायकोंके चंगुलमें फँसनेसे बचावें। राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय भावोंका समन्वय कठिन होते हुए भी असम्भव नहीं है, क्योंकि समाजवाद राष्ट्रिय पराधीनताका प्रबल विरोधी और राष्ट्रिय संस्कृतिकी रक्षाका समर्थक है।

परन्तु अपनी वैदेशिक नीतिमें सफलता प्राप्त कर लेने और पिछले अध्यायमें इङ्गित दिशाओंमें उन्नति कर लेनेसे ही कोई देश अपनेको पूरा समाजवादी नहीं कह सकता। यह बातें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाजवादकी ओर ले जाती हैं और वर्तमान पूँजीशाही प्रथासे तो बहुत दूर हैं पर शुद्ध समाजवादके सिद्धान्तके साथ तौलनेसे इनका पलड़ा हलका, बहुत हलका, ठहरता है। आज बाईस वर्षके प्रयोगके बाद भी रूस यह दावा नहीं करता कि उसने पूर्ण रूपेण समाजवादी व्यवस्था क़ायम कर ली है। जो कुछ अबतक हुआ है, जो कुछ पिछले अध्यायमें वर्णित है, वह मार्गके बड़े स्टेशनके तुल्य है। इसीलिए इस अवस्थाको समाजवादी व्यवस्थाका प्रथम सोपान कहते हैं।

समाजवादी व्यवस्था क्रान्तिके बाद भले ही स्थापित हो पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही होगा अतः वह उसके दोषोंसे एकदम मुक्त नहीं हो सकती। वर्तमान अतीतसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता।

इस समय कामोंका विभाग ऐसा है कि उसमें कोई ऊँचा, कोई नीचा माना जाता है। कामोंका बँटवारा आगे भी रहेगा पर यह ऊँचे-नीचेका भाव क्रमशः मिट जायगा। आज मुँहसे तो यह भले ही कह दिया जाय कि सामूहिक जीवनके लिए सबकी ज़रूरत है अतः न कोई बड़ा है न कोई छोटा, पर यह कहना ठीक वैसा ही है जैसे यह कह देना कि चारों वर्ण विराट् पुरुषके शरीरके अङ्ग हैं अतः उनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं है। शास्त्रकी मर्य्यादाको मानते हुए भी ब्राह्मण अपनेको शूद्रसे ऊँचा मानता है। उसी प्रकार एञ्जिनियर, मनेजर, मिस्त्री अपनेको हथौड़ा चलानेवाले या पहिया घुमानेवालेसे ऊँचा मानते हैं। मस्तिष्क द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाले शरीरसे काम करनेवालोंको अपनेसे छोटा मानते हैं। काम जीविकाके लिए किया जाता है, इसलिए नहीं कि काम करनेमें कोई रस है। यह बात अस्वाभाविक है पर अस्वाभाविक होते हुए भी सभ्य जगत्में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्य है। पशुपक्षी बेकार नहीं बैठते। उनसे कोई ज़बर्दस्ती काम नहीं लेता। पर चलने फिरने दौड़ने उड़नेमें उनको मज़ा आता है। इसी बहाने स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, पेट भी भरता है। मनुष्यने अपनेको मुफ़्तख़ोर बना लिया है। यदि भूखों मरनेकी सम्भावना न हो तो स्यात् हाथ पाँव भी न डुलाये। जो सबसे कम मिहनतका काम होता है उसे ही वह चुनता है और उसे भी इसलिए पूरा करता है कि सिरपर एक निरीक्षक सवार रहता है। यह बात अच्छी नहीं है। काम न तो पेट पालनेके लिए होना चाहिये, न किसी अफ़सरके डरसे। उसके करनेमें स्वतः आनन्द मिलना चाहिये, बिना श्रम किये जीवन अपूर्ण और नीरस लगना चाहिये।

इसके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षा पुस्तकोंसे तो मिलती ही है, उसका बहुत बड़ा साधन मनन है। सिद्धान्तों-पर विचार करना, अच्छे लोगोंको काम करते देखना, सामु-दायिक प्रयोगोंकी सफलता और असफलताके कारणोंपर ग़ौर करना, दूसरोंके साथ मिलकर सार्वजनिक हितके काम करना, यह सब शिक्षाके साधन हैं। सच्ची शिक्षाका परिणाम यह होता है कि व्यक्तिकी कर्तव्यबुद्धि जागती है। जहाँ साधारण मनुष्य-को कर्तव्यपथपर लगानेके लिए पुरस्कार और दण्डकी ज़रूरत पड़ती है वहाँ सच्छिक्षा-मण्डित मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रेरणासे काम करता है। उसकी स्वार्थबुद्धि तिरोहित हो जाती है और उसे स्वहित और लोकहितमें कोई भेद नहीं प्रतीत होता। वह 'सर्वभूतहितेरत' इसलिए नहीं होता कि उसको इह-लोक या परलोकमें किसीको खुश करना है वरन् इसलिए कि लोकसंग्रह उसकी बुद्धिका स्वाभाविक अभ्यास हो गया है। उसको यह ख़याल भी नहीं आता कि मैं दूसरोंका उपकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने जा रहा हूँ वरन् समाजोपयोगी काम उसको आप ही आकृष्ट करते हैं।

कुछ लोगोंको यह शंका रहती है कि समाजवादी व्यवस्थाको पुरस्कारोंका अभाव विफल कर देगा। आज जो मनुष्य कोई नयी घात सोच निकालता है या अधिक परिश्रम करता है उसको अधिक रुपये मिलते हैं और वह इन रुपयोंको बढ़ा सकता है। यह प्रलोभन लोगोंसे काम कराता है। समाजवादी व्यवस्थामें बहुत रुपया भी न मिलेगा, पूँजी भी न जुट सकेगी फिर कोई अपना दिमाग़ क्यों लगायेगा या दूसरोंसे अधिक परिश्रम क्यों करेगा? इसका उत्तर यह है कि प्रलोभनपर काम करना अशिक्षा और असंस्कृतिका द्योतक है। संसारके जितने स्थायी काम हुए हैं वह रुपयेके लोभसे नहीं हुए हैं। न तो व्यासको किसीने रुपये दिये थे, न शङ्कराचार्य्यको। फिर उन्होंने अपने अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ क्यों लिखे। चरकको किस विश्वविद्यालयमें नौकरी मिली और वाल्मीकिके हाथपर किस प्रकाशकने चार पैसे रखे? तुलसीदासजीने क्या यह झूठ कहा है कि उन्होंने रामायणको 'स्वान्तःसुखाय' लिखा। यह कहनेसे काम नहीं चल सकता कि यह लोग असाधारण महापुरुष थे। हम इस बातको स्वीकार करते हैं पर यह भी देखते हैं कि यह महापुरुष ही सब लोगोंको इन्द्रियनिग्रह, अस्तेय, निर्लोभिता आदिका उपदेश देते हैं। इसका अर्थ यह है कि इनकी रायमें साधारण मनुष्यका अन्तःकरण सदाके लिए पतित और स्वार्थी नहीं है। यदि उसपरका कषाय साफ़ कर दिया जाय तो वह निर्मल हो सकता है। समाजवादी भी ऐसा ही मानता है। उसको मनुष्यकी नैसर्गिक पवित्रतापर विश्वास है। पर वह यह देखता है कि कुशिक्षा और बुरी परिस्थितिने लोगोंको ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लालची बना दिया है कि बिना पैसेके कोई काम नहीं करना चाहते। यदि परिस्थितिमें सुधार हो जाय अर्थात् शोषण मिट जाय और सबके लिए मानवोचित सुविधाएँ मिल जायँ तथा इसके साथ ही उत्तम शिक्षा दी जाय तो फिर प्रलोभनोंकी आवश्यकता न रहेगी प्रत्युत लोग शौक़से और केवल लोक-हितके भावसे प्रेरित होकर अपनी पूरी शक्ति भर काम करेंगे। न कोई शारीरिक श्रमसे जान चुरायेगा, न बुद्धिसे काम लेनेसे रुकेगा। जब काममें ऊँच-नीचका भाव मिट जायगा, जब काम लोकसेवाकी दृष्टिसे किया जायगा, जब श्रम जीवनका एक आवश्यक अङ्ग बन जायगा और सब लोग स्वतः अपनी पूरी योग्यता और शक्ति भर काम करने लग जायँगे, उसी समय सच्ची लोकतन्त्रता सम्भव होगी, क्योंकि उसी समय मनुष्य सच-मुच मनुष्य होगा और सब मनुष्योंका बराबर माना जाना सम्भव होगा। बराबरीका अर्थ यह नहीं है कि किसीमें विशेष प्रतिभा न होगी या प्रतिभावालोंकी पूछ न होगी। वस्तुतः प्रतिभाकी तभी क़द्र हो सकती है जब ईर्ष्या-द्वेषका तिरोभाव हो और प्रतिभावान् व्यक्ति समुदायका विशेष समर्थसेवक, अथच सम्मान्य माना जाय।

उसी समय मज़दूरीके अन्यायका भी अन्त होगा। जब बिना किसी दबाव या लालचके सभी अपनी सामर्थ्य भर श्रम कर रहे होंगे, उस समय किसीके श्रमकी नाप-तौल करनेकी आवश्यकता न होगी। जैसा कि हम पिछले अध्यायमें लिख चुके हैं, यह नाप-तौल अन्यायमय है पर वर्तमान कालमें इसके सिवाय कोई और उपाय नहीं है। पर उस समय यह प्रयास निरर्थक होगा। जो सार्वजनिक भण्डार सबके पूर्ण श्रमसे भरपूर होंगे उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज़रूरतके अनु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सार ले लेगा। किसी मज़दूरी देनेवालेकी आवश्यकता न रह जायगी।

उस समय समाजवादी व्यवस्था उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगी। इस अवस्थाको दूसरा सोपान कहते हैं।

इसके बाद सरकारका रूप क्या होगा? न तो उस समय कोई ऐसा वर्ग रह जायगा जिसका दमन करना हो, न लोगोंसे ज़बर्दस्ती काम लेना पड़ेगा, न भोग्य वस्तुओंका मज़दूरीके रूप-में वितरण करना रह जायगा, फिर सरकारके ज़िम्मे क्या काम रहेगा? उद्योग-व्यवसायकी व्यवस्थाकी तब भी आवश्यकता रहेगी। यदि कोई दुष्ट-प्रकृति या श्रमसे जान चुरानेवाला पैदा हो ही गया तो उसका भी नियन्त्रण करना होगा, पर जहाँ लोक-मत इतना जाग्रत होगा वहाँ इन कामोंमें सभी लोगोंकी अभि-रुचि होगी और किसी विशेष सङ्घटनको आवश्यकता न होगी। जनता विभिन्न कामोंके लिए समितियाँ और परिषद् बनायेगी पर इन संस्थाओंकी समता आजकलकी दण्डधारी सरकारोंसे न होगी। कामके अभावसे सरकार आप ही न रह जायगी। परन्तु जब सरकार ही नहीं तो राज कैसा? राजकी सत्ताका भी लोप हो जायगा और जैसा कि हम पन्द्रहवें अध्यायमें कह आये हैं, एंगेल्सके शब्दोंमें उस चरमावस्थामें बिना किसी प्रयासके 'राज मुरझाकर झड़ जायगा।'

वह दिन कब आयेगा, यह हम नहीं कह सकते। कभी आयेगा भी या नहीं, यह भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। जैसा कि लेनिनने 'दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन' में कहा है 'यह बात किसी समाजवादीके दिमागमें नहीं आयी कि वह यह वादा करे कि यह चरमावस्था अवश्य आ जायगी।' पर द्वन्द्व-न्यायके अनुसार अबतककी प्रगतिकी जो कुछ आलोचना की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकती है, उससे ऐसी आशा और दृढ़ आशा की जा सकती है कि पृथ्वीके भाग्य जागेंगे और वह उस दिनको देखेगी। अभी वह काल बहुत दूर है परन्तु क्षितिजपर उसकी धुँधली आभा देख पड़ने लगी है।

इस पुस्तकका आरम्भ इसी समस्याको लेकर हुआ था कि आज मनुष्य हैं पर मानव-समाज नहीं है। लोग पारस्परिक रागद्वेष, कलह और युद्धके शिकार होकर एक दूसरेका और मनुष्यताका संहार कर रहे हैं। स्वार्थने बुद्धियोंको इतना कलुषित कर रखा है कि सम-अजन जो समाजका लक्षण है सम्भव नहीं है। सबके हित विभिन्न और दूसरोंके हितोंके विरोधी हैं। इसका परिणाम पूँजीशाही और साम्राज्यशाही है पर यह दोनों 'शाहियाँ' केवल परिणाम नहीं हैं, कारण भी हैं। यह क्षुद्र प्रवृत्तियोंको और जगाती हैं। समाजवादी इनको समूल नष्ट करना चाहता है। वह उत्पादनके साधनोंको सार्वजनिक सम्पत्ति बनाकर वर्गसंघर्ष मिटा देना चाहता है। उसको इस बातकी आशा है कि मनुष्यसे तुच्छ हितोंका मोह छुड़ाया जा सकता है। यदि उसकी आशा पूरी हुई तो समाजवादी व्यवस्थाकी चरमावस्थाका नाम ही मानवसमाज होगा। उसकी नींव उस दिन पड़ेगी जिस दिन समाजवादियोंके हाथमें अधिकारका सूत्र आयेगा।

कुछ विद्वानोंको इसमें यह आपत्ति है कि केवल आर्थिक और राजनीतिक उपायोंसे काम नहीं चल सकता, मनुष्यके प्रसुप्त आध्यात्मिक गुणोंको जागरित करना होगा। तभी समाजका संस्थापन होगा, अन्यथा लोग फिर लोभादिके वशीभूत हो जायँगे। हम शास्त्रार्थ न करके थोड़ी देरके लिए इसे मान लेते हैं। पर आध्यात्मिक गुणोंके प्ररोहणके लिए भी एक विशेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिस्थिति चाहिये। जबतक स्वार्थ और लोभके द्वारा उन्नति करना सम्भव रहेगा, जबतक मनुष्य दूसरोंका शोषण कर सकेगा तबतक इन आध्यात्मिक गुणोंकी नींद न टूटेगी। समाजवादको ही यह श्रेय है कि वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमें यदि मनुष्यमें कुछ आध्यात्मिक गुण हैं तो वह पनप सकें। इस दृष्टिसे भी मनुष्योंके बिखरे समुदायको समेट कर उसको समाजमें परिणत करनेकी क्षमता सिवाय समाजवादके और किसी दूसरी चीज़में नहीं देख पड़ती।

अठारहवाँ अध्याय

समाजवाद और समष्टिवाद

अभी तक हम इस पुस्तकमें बराबर समाजवाद* शब्दका ही प्रयोग करते आये हैं पर अब एक और शब्द समष्टिवाद† (कम्यूनिज्म) से भी परिचित होना आवश्यक है। कभी कभी इनका प्रयोग एक ही अर्थमें कर दिया जाता है पर साधारणतः अन्तर माना जाता है। समाजवादके अन्तर्गत वह सब मत हैं जो उत्पादनके साधनोंको वैयक्तिक सम्पत्ति माननेके विरोधी हैं। इन मतोंमें गिल्ड सोशलिज्म और सिण्डिकलिज्मकी भाँति कम्यूनिज्म भी है। अतः समाजवाद सामान्यवाची नाम हुआ और समष्टिवाद विशेषवाची।

मार्क्सकी व्याख्या दूसरी है। इस विषयमें मैं भी उनका अनुगमन करता हूँ। उनके अनुसार समाजवादी व्यवस्थाका प्रथम सोपान समाजवाद और द्वितीय सोपान समष्टिवादका

* Socialism. † Communism.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप है। प्रत्युत उन्होंने तो यों कहा है कि प्रथम सोपान समष्टिवादकी निम्न भूमिका (नीचा दर्जा) और द्वितीय सोपान समष्टिवादकी उच्च भूमिका (ऊँचा दर्जा) है। इस मतके अनुसार समाजवादका उन्नत रूप समष्टिवाद है। आजकल समष्टिवादका रूससे कुछ विशेष सम्बन्ध माना जाने लगा है अतः बहुत लोगोंको अपनेको समष्टिवादी कहनेमें संकोच होता है। परन्तु सिद्धान्तकी दृष्टिसे यह संकोच निराधार ही नहीं अनुचित है। किसी समष्टिवादीके लिए हर बातमें रूसका समर्थक होना आवश्यक नहीं है।

इस कम्यूनिज़्म शब्दके लिए हिन्दीमें 'वर्गवाद' चल पड़ा है। यह सर्वथा ग़लत पर्याय है। जो समष्टिवाद वर्गभेदको मिटाना चाहता है उसको वर्गवाद कहना उतना ही न्यायसंगत है जितना कि सार्वजनिक स्वास्थ्य विभागको सार्वजनिक गन्दगी विभाग कहना। सम्भवतः यह भूल कम्यूनिज़्मको भारतमें प्रचलित 'कम्यूनल' शब्दसे मिलानेसे हुई है। कम्यूनलका अर्थ हुआ साम्प्रदायिक अतः कम्यूनिज़्मका अर्थ यह ले लिया गया कि वह किसी एक सम्प्रदाय अर्थात् वर्ग यानी श्रमिक वर्गके आधिपत्यका प्रतिपादन करता है। पर यह आधिपत्य तो अल्पकालीन अवस्था ही हो सकता है। जब वर्ग ही न होंगे तब वर्ग-आधिपत्य कहाँसे होगा? व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे इस शब्दका सम्बन्ध 'कम्यून' से है (यों 'कम्यूनल' भी उसी स्रोतसे निकला है) और इस बातको ध्यानमें रखकर 'समष्टिवाद' अधिक ठीक जँचता है क्योंकि इस नामसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इस मतमें सारे समाज, नागरिकोंकी समष्टि, का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्नीसवाँ अध्याय

भूतलपर स्वर्लोक

इस पुस्तकका विषय तो पिछले अध्यायके साथ समाप्त हो गया। फिर भी लेखनी रखनेके पहिले मैं पाठकोंके साथ भविष्यमें एक वार झाँकनेके लोभको संवरण नहीं कर सकता। इस प्रयासपर जो आपत्तियाँ उठायी जायँगी उनको मैं जानता हू और उनकी साधारताको स्वीकार करता हूँ। भविष्यकी जो झलक मैं सामने रखूँगा वह कल्पनाकी सृष्टि होगी पर यह पुस्तक तो उपन्यास नहीं है। इसमें गम्भीर विचार होने चाहिये, काल्पनिक चित्र नहीं। इसका यही उत्तर हो सकता है कि कल्पना भी बुद्धिका ही एक धर्म्म है और यदि निरङ्कुश न कर दी जाय तो उससे भी उपादेय सामग्री प्राप्त होती है। कला और विज्ञानकी उन्नति कल्पनासे काम लिये विना हो ही नहीं सकती; कल्पनाको त्याज्य माननेवाला शुष्क राजपुरुष कभी सफल शासक नहीं वन सकता। परन्तु कल्पनापर नियन्त्रण रहना चाहिये। यह नियन्त्रण ज्ञान और अनुभवसे प्राप्त होता है। जो व्यक्ति जगत्के भौतिक और मानस अङ्गोंका जितना ही द्वन्द्वन्यायात्मक अध्ययन करता है उसकी कल्पना उतनी ही पुष्ट होगी अर्थात् उसके कल्पनाप्रसूत चित्र उतने ही सत्य निकलेंगे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकारके अध्ययनसे प्रातिभ दर्शनकी विभूति प्राप्त हो जाती है या भविष्यत्का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। न तो द्वन्द्वन्याय किसीको योगी वनाता है न ज्योतिषी, पर कार्यकारणकी शृङ्खलाको समझनेमें निःसन्देह सहायता देता है, जिसकी वजहसे भविष्यके सम्बन्धमें दृढ़ अनुमान किया जा सकता है। जो मनुष्य यह समझ सकता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि जगत्का वर्तमान रुझान, झुकाव, किधर है वह इसका भी अन्दाज़ कर सकता है कि काल पाकर इस झुकावका क्या परिणाम, क्या स्वरूप, होगा। 'यह अवश्य होगा', नहीं कहा जा सकता पर 'सम्भवतः ऐसा होगा' कहा जा सकता है और इस 'सम्भवतः' में बहुत कुछ यथार्थता होगी।

इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'कम्यूनिज़्म ऐण्ड मॉडर्न थॉट'में ए० एम० डेबोरिनका 'कार्ल मार्क्स ऐण्ड दि प्रेज़ेण्ट' शीर्षक एक लेख है। उसमें संवत् १९४५ का लिखा एंगेल्सका एक लेख उद्धृत है। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक महायुद्धका होना अवश्यम्भावी है। उस युद्धका स्वरूप भी उन्होंने इन शब्दोंमें दिखलाया है—अस्सी लाखसे एक करोड़ सिपाही एक दूसरेका गला घोंटेंगे और इसके साथ ही सारे यूरोपको इस प्रकार खा जायँगे कि टिड्डी दल भी उस तरह नहीं खा सकता। जर्मनीकी त्रिंशत्वर्षीय युद्धकी भीषणता तीन या चार वर्षोंमें केन्द्रीभूत हो जायगी और सारे यूरोपीय महाद्वीपमें फैल जायगी—क़हत, बीमारी, न केवल सिपाहियों वरन् जनसाधारणका सभ्यता छोड़कर बर्बरतामें पतन, व्यापार-व्यवसाय और साखके यन्त्रका बुरी तरह बिगड़ जाना, इन सब बातोंका परिणाम व्यापक दिवालियापन होगा। पुराने राज और उनकी पुरानी राजनीति खत्म हो जायगी। दर्जनों मुकुट धरणीपर लोटते होंगे पर कोई गद्दीपर बैठनेकी ज़िम्मेदारी लेनेको तैयार न होगा। यह बात समझमें न आयेगी कि युद्धका परिणाम क्या होगा और कौन जीतेगा, कौन हारेगा। एक ही बात निश्चित है, सभी थक जायँगे और वह परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी जिसमें अन्तमें श्रमिक वर्गकी विजय होगी।

यह वाक्य महायुद्धसे छब्बीस वर्ष पहिले लिखे गये थे पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युद्धका कितना सच्चा चित्र खींचते हैं ! अभी श्रमिक वर्ग विजयी नहीं हुआ है, सम्भवतः इसी प्रकारके एक और महायुद्धकी ज़रूरत है पर उसकी विजयके अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी है। इसी प्रकार संवत् १९३६ में उन्होंने लिखा था कि महायुद्ध जर्मनीके सोशल-डेमाक्रेटिक दलको, जो उस समय जर्मनीका समाजवादी दल था, गाड़ देगा। यही हुआ। इस दलने युद्धके समय और उसके बाद ऐसी दुर्बलता दिखलायी कि आप भी चौपट हुआ और हिटलरको जर्मनीका अधिनायक बना गया। १९४३ में एंगेल्सका बेबेलको पत्रमें यह लिखना कि युद्धके बाद रूसमें क्रान्ति होगी साधारण बात नहीं है।

यह उदाहरण एंगेल्सकी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिए नहीं, प्रत्युत यह दिखलानेके लिए दिये गये हैं कि बुद्धिसे काम लेनेसे भविष्यके सम्बन्धमें काफ़ी सफल कल्पना की जाती है।

एच० जी० वेल्स अंग्रेज़ीके प्रसिद्ध लेखक हैं। कई वर्ष हुए उन्होंने 'टाइम मशीन' नामकी एक छोटीसी पुस्तकमें भविष्यका चित्र खींचा था। उसमें उन्होंने दिखलाया था कि यदि शोषण और वर्गसङ्घर्ष क़ायम रहे तो हज़ार डेढ़ हज़ार वर्षोंमें सभ्यता और संस्कृतिका लोप हो जायगा। हालमें उन्होंने एक नयी पुस्तक लिखी है। उसका नाम है 'दि शेप आव थिंग्ज़ टु कम'। यह भी भविष्यका चित्र है। उसका अन्तिम अंश मनोरञ्जक है। इक्कीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें समस्त पृथ्वी एक राज हो जायगी और एक जगत्परिषत् (वर्ल्ड कौंसिल) सरकारके रूपमें शासन करती होगी। कई वर्षों तक परिषत्को बड़ी दृढ़तासे काम लेना होगा पर धीरे धीरे इसकी ज़रूरत कम होती जायगी। परिषत्की एक बैठक मेगेवमें होगी। वहाँ बात ही बातमें यह प्रतीत हो जायगा कि वस्तुतः अब सरकार शासन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं कर रही है, क्योंकि शासनकी आवश्यकता नहीं रही। अन्तमें निम्नाङ्कित घोषणाके साथ इस बैठककी कार्रवाई समाप्त होती है "जगद्राजने छोटे छोटे राजोंको खत्म किया था, अब वह भी उनकी भाँति खत्म होता है। चक्रवर्ती प्रभु सरकार जिसने अन्य सब प्रभु संस्थाओंको जीतकर अपनेमें मिला लिया था अब मनुष्य-जीवनके पर्देसे गायब होती है। दीर्घकालसे मनुष्य शान्ति और अभयके लिए अन्धेकी तरह कोशिश करता रहा है। आज इस परिषत्की कृपासे यह प्रयत्न सफल हुआ है। परिषत् अब छुट्टी लेती है।...यह संयुक्त मनुष्यताका उषाकाल है। मनुष्यकी शहादतका ज़माना गया।...अब कोई गुलाम नहीं है, कोई निर्धन नहीं है; कोई जन्मना छोटा नहीं माना जाता।...भौतिक जीवनके लिए सङ्घर्ष समाप्त हुआ। उसमें विजय हुई।...अब सबको सत्यके लिए और उस अनिर्वचनीय वस्तुके लिए जिसे सौन्दर्य्य कहते हैं प्रयत्न करनेकी स्वतन्त्रता है......हमको जगत्की आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अपने हिस्सेका काम करना होगा।......हम जहाँ चाहें जा सकते हैं, जो काम चाहें कर सकते है, जो सुख चाहें भोग सकते हैं। शर्त केवल इतनी है कि उस सुखभोगसे दूसरे किसीकी हानि न हो। वीर परिषत्, तुमको धन्यवाद!" इस घोषणाके साथ बैठक समाप्त हुई, उसके साथ ही परिषत्ने अपने आपको तोड़ लिया; जब सरकार ही न रही तो राजकी सत्ताका भी लोप हो गया। केवल स्वास्थ्य, शिक्षा और सद्व्यवहारकी तीन समितियाँ रह गयीं। इनके पास लोगोंके सद्भावके सिवाय कोई दूसरी शक्ति नहीं थी।

ऊपर हमने सुविधाके अनुसार क्रियाओंमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंका प्रयोग कर दिया है पर यह स्पष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि वेल्सने यहाँ अपनी बुद्धि और कल्पनाके अनुसार उस समयका चित्र खींचा है जिसका ज़िक्र हमने सत्रहवें अध्यायमें किया है। यह समाजवादी व्यवस्थाके द्वितीय सोपानके स्थिर हो जानेके बादकी बातें हैं। मेगेवकी घोषणाके बाद जगत्परिषत् और जगद्राजका स्वतः ख़त्म हो जाना उस अवस्थाका स्वरूप है जिसमें एंगेल्सके अनुसार जागरित लोकमत सरकारको अनावश्यक और व्यर्थका भार बना देगा और राज आपसे आप मुरझाकर झड़ जायगा।

पर यह तो पटाक्षेपके समयका चित्र है। मनुष्यको स्वभावतः यह जाननेकी उत्सुकता होती है कि बीचमें लोगोंका रहन-सहन कैसा होगा। इस सम्बन्धमें हम इलिनके 'मॉस्को हैज़ ए प्लैन'से एक अवतरण देते हैं—

पुराने ज़मानेमें नगर कैसे बसता था ?

बीचमें एक क़िला और राजमहल होता था।

इस केन्द्रके चारों ओर दूकानों और बाज़ारोंका घेरा होता था। (इस घेरेके चारों ओर भारतमें तो शहरपनाह अर्थात् नगररक्षक दीवार होती थी।) जब कल-कारख़ाने खुलने लगे तो वह दूकानों और बाज़ारोंके घेरेके बाहर खुले। इस तरह कारख़ानों और उनके साथकी इमारतों, गोदामों, मज़दूरोंके रहनेकी कोठरियों आदिका एक घेरा दूकानों और बाज़ारोंके घेरेके चारों ओर बन गया। इन दूकानों, बाज़ारों और कारख़ानोंके बीच-बीचमें रहनेके मकान होते थे। अच्छे मकान शहरके बीचमें, साधारण घर बाहरी भागोंमें बनते थे।

नया नगर इस प्रकार नहीं बसाया जायगा। उसके बीचमें न तो गढ़ी होगी, न महल, न बाज़ार वरन् एक बड़ा कारख़ाना या बिजलीघर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक बिजलीघर, कारख़ाने और कारख़ानोंके पुञ्जके चारों ओर नगर खड़ा हो जायगा।

नगरके हृदय अर्थात् बिजलीघर या कारख़ाना और रहनेके मकानोंके बीचमें क़िलेकी पत्थरकी दीवारें और तोप चलानेवाले भवयाने बुर्ज न होंगे। उनकी जगह हरी दीवारें होंगी अर्थात् चारों ओर बड़े बड़े बाग़ और पार्क होंगे। इनके बाद तब रहनेके मकान होंगे। इन बाग़ोंके द्वारा मकानोंकी चिमनियोंके धुएँ और कालिखसे रक्षा हो जायगी।

मकान और मुहल्ले भी सब एक प्रकारके न होंगे।

(आज नगरोंमें सड़कें इधर-उधर अनियमित रूपसे निकाली जाती हैं।) इनके दोनों ओर मकान होते हैं। क़वायद करनेवाले सिपाहियोंकी भाँति सब मकानोंका मुँह एक ओर होता है। उस समय ऐसा न होगा। नगरके मध्य भागसे सूर्य्यकी किरणोंकी भाँति सड़कें निकलेंगी। इनके दोनों ओर सायेदार वृक्ष होंगे। मकान इस प्रकार बनाये जायँगे कि उनको सूर्य्यसे अधिकसे अधिक प्रकाश मिल सके। प्रत्येक पाठशाला, पुस्तकालय और अस्पतालके चारों ओर फूलकी क्यारियाँ होंगी। थोड़े थोड़े मकानोंके बाद भी क्यारियाँ होंगी। हर दरवाज़ेपर नीम, मौलिश्री, नीबू, पारिजात आपका स्वागत करेंगे।

नगरकी सड़कोंपर खड़खड़ाहट घड़घड़ाहटकी जगह चिड़ियोंका मधुर कलरव और पेड़ोंका प्रशान्त और आह्लादक मर्मर सुन पड़ेगा। आज जो शोरगुल हमको पागल किये रहता है उसका पता भी न होगा।

संस्थाएँ मकानोंसे दूर रहेंगी। लोगोंको शान्त और नीरव जगहोंमें रहना चाहिये।

सड़कोंमें इतना पैदल या सवारियोंपर आना जाना न होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नगर भी इतने बड़े बड़े न होंगे। एक लाखकी आबादीका नगर भी बड़ा समझा जायगा।

भविष्यका प्रत्येक नगर वस्तुतः कारखानेमें काम करनेवालों-का गाँव होगा। आजकल हर प्रकारके कल-कारख़ाने एक ही केन्द्रमें बना दिये जाते हैं। उस समय ऐसा न होगा। कार-ख़ाने सारे देशमें विचारपूर्वक फैला दिये जायँगे। प्रकृति लोहा, कोयला, तेल, रुई आदि कच्चे मालको एक ही जगह नहीं पैदा करती, फिर सब कारख़ाने एक ही जगह क्यों रखे जायँ?

यह तो नगर-निर्माणकी बात हुई। गाँव किस प्रकारके होंगे?

गाँव होंगे ही नहीं। सरकारी और सम्मिलित खेतों और बाग़ोंके चारों ओर कृषि-कारख़ाने अर्थात् आटा पीसनेकी चक्कियाँ, दूध, दही, मक्खन, घी तैयार करनेकी जगहें, फलोंको मसालेमें भरकर सुरक्षित बनानेके कारख़ाने इत्यादि होंगे। यह सब कारख़ाने खेतों और बाग़ोंकी पैदावारको बाज़ारमें बेचने और घरोंमें बरतने लायक बनायेंगे। इनके चारों ओर नगर होगा। इसका अर्थ यह है कि नगर और गाँवका भेद मिट जायगा। किसान और मज़दूर यह पृथक् नाम भी ग़ायब हो जायँगे। केवल श्रमिक शब्द रह जायगा। (खेतमें, दफ्तरमें और कारख़ानेमें शरीरसे और मस्तिष्कसे काम करनेवाले सभी श्रमिक कहलायेंगे।)

यह बातें आजसे सुदूर भविष्य, हज़ारों वर्ष बाद आनेवाली नहीं हैं। कल्पनासे यह भी लिखी गयी हैं पर इस कल्पनाके लिए दृढ़ आधार है। अपनी पञ्चवर्षीय योजनाओंमें रूसने उपर्युक्त ढङ्गके कई नगरोंको बसानेका आयोजन किया। कल्पना और स्वप्नको जागरित और प्रत्यक्षके क्षेत्रमें लानेका सफल प्रयत्न हमारी आँखोंके सामने हो रहा है। जैसा कि इलिनने इस अवतरणसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोड़ा आगे चलकर कहा है 'समाजवाद अब कहानी, मनकी कल्पना मात्र, नहीं है। हम स्वयं उसका निर्माण कर रहे हैं'।

भविष्यके जो चित्र हमने सामने रखे हैं उनके लिए दूसरे प्रकारका ही मनुष्य चाहिये। जैसा कि हम सत्रहवें अध्यायमें लिख आये हैं, समाजवादियोंकी आशा है कि भविष्यत् कालका मनुष्य आजके मनुष्यसे भिन्न प्रकारका होगा। उस समयका समाज नागरिकोंके सौहार्द, निष्कामिता, सहयोगके आधारपर ही चल सकेगा। समाजवादियोंका अटल विश्वास है कि भविष्यत्के मनुष्यमें यह गुण स्वभावतः पाये जायँगे।

तो क्या समाजवादी भूतलपर स्वर्लोक लाना चाहते हैं? हाँ और नहीं। यदि स्वर्ग स्थापित करनेका यह अर्थ है कि सब लोग सुखी और समृद्ध हों, सब स्वस्थ और ज्ञानसम्पन्न हों तो बेशक हम स्वर्ग स्थापित करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि मनुष्य क्षुद्र बातोंके लिए अपनी मनुष्यता न खो बैठे। हमारी यह आकांक्षा है कि लोग रोटीकी चिन्तासे मुक्त होकर अपनी सांस्कृतिक उन्नति करें। यदि मनुष्यमें कोई गुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं तो उनका सम्बोधन भी उसी अवस्थामें सम्भव है। पर स्वर्गमें ईर्ष्या-द्वेषका अभाव नहीं होता, ऊँच-नीचका भाव नहीं मिटता, युद्ध भी होते हैं। कमसे कम पुराण तो ऐसा ही बतलाते हैं। यदि यह वर्णन सच है तो हम ऐसा स्वर्ग नहीं चाहते, हम पृथ्वीपर इससे अच्छी व्यवस्था चाहते हैं।

यह असम्भव नहीं है। जो लोग ऐसा मानते आये हैं कि मनुष्य योनि सब योनियोंसे श्रेष्ठ है उनको तो यह बात अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये कि मनुष्य अपने इस कर्म और भोगक्षेत्र अर्थात् पृथ्वीको सर्वलोक-मुकुटमणि, सच्ची वसुन्धरा, बना सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहुत दिनोंसे मनुष्यके हृदयसे यह प्रार्थना उठती रही है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ᳪ सस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

हमारा विश्वास है कि समाजवादके द्वारा वह स्वयं इस प्रार्थनाको सफलीभूत करेगा।

बीसवाँ अध्याय

भारत और समाजवाद

यह पुस्तक समाजवादके सिद्धान्तके सम्बन्धमें है। इसका भारतीय राजनीतिसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। पर हम इस देशकी परिस्थितिकी ओरसे तटस्थ भी नहीं हो सकते। अतः इस अध्यायमें संक्षेपमें उन लोगोंका उत्तर देना चाहते हैं जो यह कहते हैं कि समाजवाद पश्चिमसे आया है और भारतीय संस्कृतिके प्रतिकूल है अतः वह भारतके कामकी चीज़ नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद पश्चिमसे आया है पर इतनेसे ही तो वह त्याज्य नहीं हो सकता। यदि यूरोप और अमेरिकाके रहनेवाले यह कहें कि चूँकि वेदान्त और योग-शास्त्रका प्रवर्तन भारतमें हुआ इसलिए यह विद्याएँ गर्हित हैं तो पौर्वात्य संस्कृतिके उपासक क्या उत्तर देंगे? क्या पाश्चात्य होनेके कारण लोग एलोपैथी या होमोपैथीका अभ्यास करनेवाले डाक्टरोंसे चिकित्सा नहीं कराते या उनके शल्य-शास्त्रसे लाभ नहीं उठाते? सिद्धान्तके सम्बन्धमें उत्पत्ति-स्थानका प्रश्न उठाना ही मूर्खता है। केवल गुण-दोषपर विचार करना चाहिये। समाजवाद वर्तमान जगत्की आपत्तियोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमनका मार्ग बतलाता है। यदि भारतमें भी पाश्चात्य देशोंकी भाँति लोग इन आपत्तियोंसे व्यथित हैं तो उनको पाश्चात्य देशों-की भाँति उपायोंसे भी काम लेना होगा। भारतमें भी भूमिपर व्यक्तियोंका स्वत्व है, बड़े बड़े कल-कारख़ाने खुलते जा रहे हैं, लाखों मज़दूर काम कर रहे हैं। किसानोंके लिए लगान देना कठिन हो रहा है, ऋणका बोझ उनकी कमर तोड़ डाल रहा है। मज़दूरों और मिल-मालिकोंमें आये दिन झगड़ा होता है। आज यहाँ कारख़ाना बन्द किया जाता है, कल वहाँ हड़ताल होती है। यही बातें पाश्चात्य देशोंमें भी होती हैं। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो भारतीय साम्राज्यशाही भी देख पड़ती। फिर जब हमने पश्चिमसे इतने रोग मोल लिये हैं तो इनकी औषधसे कैसे मुँह मोड़ सकते हैं? जीवन-संग्राम इतना उत्कट है कि अब भारत आधुनिक कालकी विशेषताओंसे अपनेको नहीं बचा सकता। उसे मशीनें भी रखनी पड़ेंगी, विदेशोंसे सम्बन्ध भी रखना पड़ेगा, वर्तमान कालकी सभी समस्याओंको हल करना पड़ेगा। इसलिए उसे समाजवादका भी आश्रय लेना होगा। कोई दूसरा उपाय उतना व्यापक और सबल देख नहीं पड़ता।

भारतीय संस्कृतिकी प्रतिकूलताकी बात भी उतनी ही निःसार है। विश्वसंस्कृतिके इतिहासमें भारतका स्थान आदरणीय है। भारतीय जनता इस संस्कृतिपर अपनेको बधाई दे सकती है पर अनुचित गर्व करना पागलपन है। यह कहा जाता है कि हमारी संस्कृति अध्यात्म-मूलक है। इस कथनमें चाहे जहाँतक यथार्थता हो और इसका चाहे जो अर्थ हो पर यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि सभी भारतीय आध्यात्मिकतामें निष्णात हैं। मज़हबके नामपर दम्भ और अनाचार, सामाजिक उत्पी-ड़न, दरिद्रता, कृषकोंपर ज़ुल्म-ज़्यादती, सड़कों और घरोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रियों और बच्चोंके सामने अश्लील गालियाँ, झूठी गवाही—इनमेंसे कौनसी बात आध्यात्मिकताकी द्योतक है? क्या लोग ग़रीबी और बीमारीमें असन्तुष्ट तथा अधीर नहीं हो उठते? कितने मनुष्य—सबको जाने दीजिये, कितने पण्डित, संन्यासी या मुल्ला फ़कीर—समाधिस्थ होकर बैठते हैं? कितने साधु-संन्यासी मठाधीश हैं? कितने ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्तिसे जीविकाका निर्वाह करते हैं? फिर आख़िर हमारी आध्यात्मिकता कहाँ छिपी पड़ी है? हम दूसरे देशवालोंसे इस समय किस बातमें भिन्न है? किसी समय सरस्वतीके तटपर सामगान होता था और श्रीमच्छङ्कराचार्य्यने शारीरक भाष्य लिखा था इतनेसे ही हम आज अध्यात्ममूर्त्ति कहलानेके अधिकारी हो गये? क्या मौक़े बे-मौक़े ईश्वरका नाम लेते रहना ही आध्यात्मिकता है? यह गम्भीर प्रश्न हैं। यदि हम इनपर विचार करेंगे तो यह प्रतीत हो जायगा कि हमारी संस्कृतिमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो हमको पृथ्वीके और मनुष्योंसे भिन्न बना दे और समाजवादको हमारे लिए अग्राह्य बना दे।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी संस्कृतिको भुला दें। समाजवादी व्यवस्था शून्यमें स्थापित नहीं होती। उसके पात्र मनुष्य होते हैं और मनुष्य किसी ख़ास परिस्थिति, किसी विशेष संस्कृतिमें, ही पले होते हैं। सिद्धान्त एक ही होगा पर देशकाल-पात्रके भेदसे उसका व्यवहार किञ्चित् विभिन्न रूपोंसे होगा। न तो आज भारतको सतयुगके समय-तक लौटाना सम्भव है न उसे ब्रिटेनकी नक़ल बनाना सम्भव है। पर इसके साथ ही उसको रूस या किसी अन्य देशकी नक़ल बनाना भी सम्भव नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्य्याय-सूची

(१) हिन्दीसे अंग्रेज़ी

अध्यात्मवाद	आइडियलिज़्म	(Idealism)
अर्घ	वैल्यू	(Value)
अतिरिक्तार्घ	सर्प्लस वैल्यू	(Surplus Value)
भोग्यार्घ	यूटिलिटी वैल्यू	(Utility Value)
विनिमयार्घ	एक्सचेञ्ज वैल्यू	(Exchange Value)
अराजकतावाद	अनार्किज़्म	(Anarchism)
दृश्यगत	ऑब्जेक्टिव	(Objective)
द्रष्टृगत	सब्जेक्टिव	(Subjective)
द्वन्द्व न्याय	डायलेक्टिक्स	(Dialectics)
द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद	डायलेक्टिकल मेटीरियलिज़्म	(Dialectical Materialism)
पण्य	कॉमोडिटी	(Commodity)
प्रजनक धन	फंक्शनल वेल्थ	(Functional Wealth)
प्रतिवाद	ऐंटीथेसिस	(Anti-thesis)
परिसीमन	रेशनिंग	(Rationing)
पूँजी	कैपिटल	(Capital)
पूँजीवाद	कैपिटलिज़्म	(Capitalism)
पूँजीशाही	कैपिटलिज़्म	(Capitalism)
बौद्धिक संयमन	रैशनलाइज़ेशन	(Rationalization)
मज़दूरी	वेजेज़	(Wages)
मध्यमवर्ग	बूर्ज्वाज़ी	(Bourgeoisie)
मात्राभेदसे गुणभेद	चेंजिंग आव क्वाण्टिटी इण्टू क्वालिटी	(Changing of quantity into quality)
मुद्रा	क्वाइंस	(Coins)
मूल्य	प्राइस	(Price)
युक्तवाद	सिन्थेसिस	(Synthesis)
राज	दि स्टेट	(The Estate)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रवाद	नेशनलिज़्म	(Nationalism)
वर्ग	क्लास	(Class)
वर्ग-चेतना	क्लास कंशसनेस	(Class Consciousness)
वर्गसंघर्ष	क्लास वार	(Class-War)
वस्तुवाद	रियलिज़्म	(Realism)
वाद	थीसिस	(Thesis)
विपरिणाम	नेगेशन	(Negation)
विपरिणामका विपरिणाम	नेगेशन आव दि-नेगेशन	(Negation of the negation)
विपरीत समवाय	इंटरपेनीट्रेशन आव कण्ट्राडिक्टरीज़	(Interpenetration of contradictories)
व्यष्टिवाद	इंडिविज़ुअलिज़्म	(Individualism)
शोषण	एक्सप्लाईटेशन	(Exploitation)
श्रमकाल	लेबर-टाइम	(Labour-time)
श्रमशक्ति	लेबर-पावर	(Labour-Power)
समष्टिवाद	कम्यूनिज़्म	(Communism)
समाज	सोसाइटी	(Society)
समाजवाद	सोशलिज़्म	(Socialism)
उत्तरकौरव समाजवाद	यूटोपियन सोशलिज़्म	(Utopian Socialism)
सर्वहारा	प्रोलीटेरियन	(Proletarian)
संकट	क्राइसिस	(Crisis)
सम्प्रदाय	रेलिजन	(Religion)
सामन्तशाही	फ्यूडलिज़्म	(Feudalism)
साम्राज्यवाद	इम्पीरियलिज़्म	(Imperialism)
साम्राज्यशाही	इम्पीरियलिज़्म	(Imperialism)
स्वगत उच्छेदक	इनर कंट्राडिक्शन	(Inner Contradiction)
स्वच्छन्दता नीति	लेसे फेयर	(Laissez faire)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्य्याय-सूची

(२) अंग्रेज़ीसे हिन्दी

अनार्किज़्म	(Anarchism)	अराजकतावाद
बूर्ज़्वांज़ी	(Bourgeoisie)	मध्यमवर्ग
कैपिटल	(Capital)	पूँजी
कैपिटलिज़्म	(Capitalism)	पूँजीवाद, पूँजीशाही
चेंजिंग आव क्वाण्टिटी इण्टू क्वालिटी	(Changing of quantity into quality)	मात्राभेदसे गुणभेद
क्लास	(Class)	वर्ग
क्लासवार	(Class-war)	वर्गसंघर्ष
क्लास कंशसूनेस	(Class consciousness)	वर्गचेतना
क्वाइन्स	(Coins)	मुद्रा
कॉमोडिटी	(Commodity)	पण्य
कम्यूनिज़्म	(Communism)	समष्टिवाद
क्राइसिस	(Crisis)	संकट
डायलेक्टिक्स	(Dialectics)	द्वन्द्वनीति
डायलेक्टिकल मेटीरियलिज़्म	(Dialectical Materialism)	द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद
एक्सप्लाईटेशन	(Exploitation)	शोषण
फ्यूडलिज़्म	(Feudalism)	सामन्तशाही
फंक्शनल वेल्थ	(Functional Wealth)	प्रजनक धन
इम्पीरियलिज़्म	(Imperialism)	साम्राज्यशाही, साम्राज्यवाद
इण्डिविजुअलिज़्म	(Individualism)	व्यष्टिवाद
इनर-कण्ट्राडिक्शन	(Inner Contradiction)	स्वगत उच्छेदक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इण्टरपेनीट्रेशन आव-कंट्राडिक्शन्स	(Interpenetration of Contradictions)	विपरीत समवाय
लेबर-पावर	(Labour-Power)	श्रमशक्ति
लेबर-टाइम	(Labour-Time)	श्रमकाल
लेसेफेयर	(Laissez-faire)	स्वच्छन्दतानीति
नैशनलिज़्म	(Nationalism)	राष्ट्रवाद
नेगेशन	(Negation)	विपरिणाम
नेगेशन आव दि नेगेशन	(Negation of the-Negation)	विपरिणामका विपरिणाम
ऑब्जेक्टिव	(Objective)	दृश्यगत
प्राइस	(Price)	मूल्य
रैशनलाइज़ेशन	(Rationalization)	बौद्धिक संयमन
रेशनिंग	(Rationing)	परिसीमन
रेलिजन	(Religion)	सम्प्रदाय, मज़हब
सोसाइटी	(Society)	समाज
सोशलिज़्म	(Socialism)	समाजवाद
यूटोपियन सोशलिज़्म	(Utopian Socialism)	उत्तरकौरव समाजवाद
स्टेट	(State)	राज
सब्जेक्टिव	(Subjective)	द्रष्टृगत
थीसिस	(Thesis)	वाद
ऐण्टीथेसिस	(Anti-thesis)	प्रतिवाद
सिन्थेसिस	(Syn-thesis)	युक्तवाद
वैल्यू	(Value)	अर्घ
यूटिलिटी वैल्यू	(Utility Value)	भोग्यार्घ
एक्सचेंज वैल्यू	(Exchange Value)	विनिमयार्घ
सर्प्लस वैल्यू	(Surplus Value)	अतिरिक्तार्घ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थमें जिन पुस्तकोंका सङ्केत हुआ है उनकी नामावली

राबर्ट ब्रिफ़ोल्ट	रचित	ब्रेकडाउन
भगवान्दास	,,	एंशेण्ट वर्सस माडर्न साएण्टिफ़िक सोशलिज़्म
एंगेल्स	,,	ऐण्टि ड्यूरिंग
,,	,,	ओरिजिन आव दि फ़ैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऐण्ड दि स्टेट
मार्क्स	,,	कैपिटल
,,	,,	क्रिटीक आव दि गोथा प्रोग्राम
,, और एंगेल्स	,,	दि कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो
लेनिन	,,	दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन
,,	,,	इम्पीरियलिज़्म
ट्राट्स्की	,,	हिस्ट्री आव दि रशन रेवोल्यूशन
बोज़ांक्वेट	,,	दि फ़िलॉसॉफ़िकल थियरी आव दि स्टेट
हॉबहाउस	,,	दि मेटाफ़िज़िकल थियरी आव दि स्टेट
हॉब्स	,,	लेविएथन
लास्की	,,	दि ग्रामर ऑव पॉलिटिक्स
क्रोपाट्किन	,,	मीमॉएर्स आव ए रेवोल्यूशनरी
फ्रीमैन और नियरिंग	,,	डॉलर डिप्लोमैसी
डेलाइल बर्न्स	,,	डेमॉक्रेसी
अहमद	,,	दि ऐग्रिकल्चर प्रॉब्लेम इन इण्डिया
वेल्स	,,	दि शेप आव थिंग्ज़ टु कम
बुखारिन आदि	,,	मार्क्सिज़्म ऐण्ड माडर्न थॉट
इलिन	,,	मॉस्को हैज़ ए प्लैन
लेवी आदि	,,	ऐस्पेक्ट्स आव डायलेक्टिक मेटीरिअलिज़्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची और परिचय

डाइरेक्टर आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शनके पत्र संख्या टी० बी
३७९ तथा ३८० तारीख १२ अगस्त १९३८ के
अनुसार अंग्रेजी तथा वर्नाक्यूलर स्कूलोंके
पुस्तकालयों तथा पारितोषिकके लिए स्वीकृत

१—हिन्दी-शब्द-संग्रह

(हिन्दी भाषाका एक बहुमूल्य कोष)

नूतन और परिवर्द्धित संस्करण

सम्पादक—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव तथा श्री राजवल्लभ सहाय

इसमें प्राचीन हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त व्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी इत्यादिके शब्दोंके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्यमें प्रचलित हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी, इत्यादि भाषाओंके शब्दोंका भी संग्रह किया गया है। अप्रचलित शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए विविध ग्रन्थोंसे हज़ारों उदाहरण दिये गये हैं। नये संस्करणमें ५ हजार शब्द बढ़ा दिये गये हैं पर दाम घटा दिया गया है। मूल्य अजिल्द का ३॥), सजिल्द का ४)

कुछ सम्मतियाँ—

"..........Is an extremely handy companion for any one desirous of reading Hindi literature. The words are, on the whole, well-chosen and the meanings succinctly and well expressed." T. Grehame Balley in the Journal of Royal Asiatic Society, London.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरानी कविताओंके अर्थ समझनेमें जिन हिन्दी प्रेमियोंको बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था, उनके लिए 'शब्द-संग्रह' अत्यन्त उपयोगी होगा। —श्री वेंकटेश्वरसमाचार।

'हिन्दीमें इतना सुन्दर, इतने पृष्ठोंमें इतना अर्थपूर्ण तथा उपयोगी शब्दकोष कोई भी नहीं है। प्राचीन हिन्दीग्रन्थोंके पढ़नेवालोंके लिए इस ग्रन्थसे अच्छा कोई भी नही मिल सकता।' —प्रभा।

'व्रजभाषा तथा प्राचीन हिन्दी साहित्यके ग्रन्थोंमें प्राप्त एक भी कठिन शब्द छूटने नहीं पाया है। उदाहरण भरे पड़े हैं।' —भारत।

'यह प्रयास किया गया है कि साहित्यिक हिन्दीके अध्ययनमें यह सहायक हो सके।' —प्रताप।

'इस शब्दकोषके प्रकाशनसे हिन्दीकी एक बहुत बड़ी कमीकी पूर्ति हुई है। ...कालेज तथा स्कूलके विद्यार्थियोंके लिए यह कोष बड़े कामका है।' —हिन्दी बङ्गवासी।

संग्रह वास्तवमें उपयोगी है। प्राचीन कवियोंके ग्रन्थ पढ़ने और समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलेगी तथा आधुनिक हिन्दीके कठिन शब्दोंके लिए भी काम देगा। —जयाजीप्रताप।

'विशेषता यह है कि व्रजभाषा और अवधीके शब्द प्रायः कोषोंमें नहीं मिलते, इसमें दोनों भाषाओंके अधिकांश शब्द संग्रहीत हैं, और उनका अर्थ सप्रमाण और सोदाहरण लिखा गया है।'

—अयोध्या सिंह उपाध्याय (हरिऔध)।

'पुस्तक बड़े ही महत्वकी और बड़ी उपयोगी है, कोई मुख्य शब्द छूटने नहीं पाया है। ...हिन्दीमें इसकी बड़ी आवश्यकता थी।'

—बलदेवप्रसाद मिश्र एम० ए०, एल-एल० बी०।

'यह आजकल बाजारमें उपलब्ध छोटे कोषोंसे बहुत बेहतर है। इस तरहके एक कोषकी वास्तवमें बहुत आवश्यकता थी।'

—धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२—अफलातूनकी सामाजिक व्यवस्था

लेखक—श्रीगोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०

आजकल हमारे देशमें समाजसुधारकी आवाज बड़े जोरोंसे उठायी जा रही है। कुछ समाजसुधारकोंको हमारी सामाजिक व्यवस्थामें दोष ही दोष नज़र आते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने शायद अपनी सामाजिक व्यवस्थाका तनिक विवेचन नहीं किया है और न इसपर ही भलीभाँति विचार किया है कि देशको वास्तवमें किस तरहके समाजकी ज़रूरत है। इस पुस्तकको पढ़नेसे यह प्रश्न हल करनेमें सहायता मिलेगी। इसमें सुप्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् अफलातून (प्लेटो) की पुस्तकों—रिपब्लिक, पोलिटिकस तथा लॉज़—का संक्षेपमें विवेचन किया गया है और उनके आधारपर थोड़ेमें किन्तु स्पष्टरूपसे यह दिखला दिया गया है कि वास्तवमें समाजकी क्या आवश्यकताएँ हैं, उनकी व्यवस्था कैसी होनी चाहिये, अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें और भारतीय सामाजिक व्यवस्थामें कहाँतक साम्य है, इत्यादि। सामाजिक प्रश्नोंपर विचार करनेवाले और समाज-सुधार चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको एक बार अवश्य इस ग्रन्थका अवलोकन करना चाहिये। सुन्दर मोटे कागजपर छपी सवा दो सौ पृष्ठोंकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य १।=)

३—अंग्रेज़ जातिका इतिहास

संशोधित और परिवर्धित द्वितीय संस्करण

लेखक—श्री गंगाप्रसादजी, एम.ए.

इस पुस्तकमें इंग्लिस्तानका इतिहास प्रधानतया वहाँकी राजनीतिक तथा सामाजिक उन्नतिके क्रमपर दृष्टि रखकर ही लिखा गया है। इसमें राजाओंकी जीवनी और युद्धोंके कोरे वर्णन नहीं हैं, प्रत्युत राजा और प्रजाके उस राजनीतिक संघर्षका एवं उन जातीय घटनाओंका विशद

१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन किया गया है जिनके कारण यह नन्हाँ सा टापू इतनी आश्चर्यजनक उन्नति कर सका। मध्यप्रदेशके गवर्नमेंट हाई स्कूलोंमें तथा काशी विश्व-विद्यालय इत्यादि कई संस्थाओंके पाठक्रममें स्वीकृत है और पढ़ाई जाती है। पृष्ठसंख्या ४५७, मूल्य सजिल्दका २॥)

४—पश्चिमी यूरोप

(दूसरा भाग)

इसमें इटली, जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि देशोंका इतिहास फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिके समयसे गत महायुद्ध तकका दिया गया है। अनेक मानचित्रों और अनुक्रमणिकायुक्त सजिल्द पुस्तकका.मूल्य २।)

५—ग्रीस और रोमके महापुरुष

अनु०—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव तथा श्री राजवल्लभ सहाय

(भूमिका-लेखक—डा० भगवान्दासजी)

प्लूटार्क कृत 'वीर-चरित' की गणना संसारकी सौ श्रेष्ठ पुस्तकोंमें की जाती है। इस पुस्तकमें उसके बारह चरितनायकों—सिकन्दर, सीज़र, पाम्पी आदि—का जीवन-वृतांत अत्यन्त रोचक भाषामें दिया गया है। प्रत्येक महापुरुषके जीवन-चरितसे हमें अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं। सात सौ पृष्ठोंकी सजिल्द और सचित्र पुस्तकका मूल्य ३।।।)

६—हिन्दू भारतका उत्कर्ष

या

राजपूतोंका आरम्भिक इतिहास

लेखक—श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम. ए., एल.एल. बी.

इस पुस्तकमें लेखकने अनेक अरब प्रवासियोंके लिखित प्रमाणों तथा शिलालेखों इत्यादिके आधारपर राजपूतोंके प्रारंभिक इतिहासकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी ज्ञातव्य बातोंपर प्रकाश डाला है। राजपूत कौन थे, वे कहाँसे आये थे और उन्होंने बाहरसे आकर आक्रमण करनेवाले अरबों तथा तुर्कोंसे पाँच सौ वर्षों तक दृढ़तापूर्वक लड़कर किस तरह अपने देश तथा धर्मकी रक्षा की, इत्यादि ऐसे ही तथा अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका समुचित उत्तर इसमें दिया गया है। साथ ही तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितिका भी विवेचन किया गया है। मूल्य ३॥)

७—मीर क़ासिम

लेखक—श्री हरिहरनाथ शास्त्री

भूमिका-लेखक—अध्यापक बेनीप्रसाद एम० ए०, डी० एस-सी०

बंगालके सुयोग्य नवाब मीर क़ासिमका नाम किसने न सुना होगा? इतिहासमें उनका नाम सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। उनका इतिहास स्वाभिमान और आत्मगौरवका इतिहास है। उनके समयमें अंग्रेजोंने भारतपर कैसे कैसे अत्याचार किये, शाही फरमानकी आड़में उन्होंने कैसा अन्धेर मचा रखा था, उनके गुमाश्तोंकी ज़्यादतियाँ कहाँतक बढ़ गयी थीं, नवाबने उनकी धमकियोंकी ज़रा भी परवाह न करके किस प्रकार दृढ़तासे काम लिया और देशी व्यापारियोंको हानि उठाते देखकर सभीके लिए निःशुल्क व्यापारकी घोषणा कर दी, इसपर अंग्रेजोंने कैसी उछल-कूद मचायी, उन्होंने नवाबको किस प्रकार युद्धके लिए लाचार किया, निदान किस प्रकार प्रजाके हित तथा न्यायकी रक्षाके लिए कर्त्तव्यपरायण मीर क़ासिमने अपने सुख और ऐश्वर्यकी, अपने प्राणोंतककी आहुति दे दी—इसका पूरा पूरा वृतांत इस पुस्तकमें दिया गया है। इसे पढ़नेसे मीर क़ासिमके सम्बन्धकी अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जायँगी, उनके चरित्रपर जो कलंक लगाये गये हैं वे मिथ्या प्रमाणित होंगे और उनका यथार्थ महत्व समझमें आ जायगा। सुन्दर जिल्ददार पुस्तकका मूल्य १॥।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८—इब्नबतूताकी भारतयात्रा

या

चौदहवीं शताब्दीका भारत

मोरक्को-निवासी यह प्रसिद्ध यात्री चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें भारत आया था। सम्राट् मुहम्मद बिन तुगलकके दरबारमें कोई नौ वर्ष पर्यन्त रहकर इसने यहाँके प्राचीन मुसलमान राजवंश, तत्कालीन सम्राट्, राजदरबार, शासनपद्धति, न्याय-व्यवस्था, प्रसिद्ध घटनाओं और उस समयकी अनेक सामाजिक प्रथाओं एवं धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्थाके सम्बन्धमें जो कुछ देखा-सुना, उसीका वर्णन इस पुस्तकमें है, जो रोचक होनेके साथ साथ अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है। चौदहवीं शताब्दी-के भारतका इतिहास समझनेमें इससे विशेष सहायता मिलती है। पृ० ४००, मूल्य अजिल्दका २), सजिल्दका २।=)

९—जापान-रहस्य

लेखक—श्री चमनलाल

अस्सी वर्षके भीतर ही जापानने जो आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है उसका असली रहस्य इस पुस्तकको पढ़नेसे विदित होगा। वहाँवालोंकी गहरी देशभक्ति, सुदृढ़ अनुशासन, आविष्कारक बुद्धि और जानपर खेल-जानेकी तत्परता इत्यादि सम्बन्धी बातें पढ़कर आप मुग्ध हो जायँगे और आपके मनमें इस बातका उत्साह उत्पन्न होगा कि हम भी इसी पथका अनुसरण कर अपने देशको संसारके राष्ट्रोंमें उपयुक्त स्थान दिलानेका प्रयत्न करें। मूल्य १॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारी अन्य पुस्तकें

१०—साम्राज्यवाद

भूमिका-लेखक—पं० जवाहरलाल नेहरू

रचयिता—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

इसमें वाणिज्य-व्यवसायपर बैंकोंका प्रभाव, पूर्णाधिकारोंकी स्थापना, पूँजीवादी राष्ट्रोंकी लूट-खसोट आदि अनेक बातोंका वर्णन कर यह दिखलाया गया है कि ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि देशोंने किन किन चालोंसे अपना साम्राज्य फैलानेकी चेष्टा की है। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंका कारण क्या है, उपनिवेशोंकी स्थापनाके लिए साम्राज्यवादी राष्ट्र उतावले क्यों रहते हैं, इत्यादि बातोंका पता भी इससे चलेगा। सात सुन्दर मानचित्रोंवाली ४५० पृष्ठोंकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य २॥)

११—संसारकी समाज-क्रान्ति

लेखक—डा० जी० एस० खेर, पी-एच० डी०

इसमें लेखकने इटली, जर्मनी, रूस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशोंका अपनी आँखों देखा हाल लिखा है, और वहाँके सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवनमें आज जो उथल-पुथल मची हुई है, उसका चित्रण बड़ी ही सुन्दरताके साथ किया है। श्रद्धेय श्री भगवान्‌दासजीके कथनानुसार "पचासों पाश्चात्य पुस्तकों और अखबारोंके परिशीलनसे जो ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उसका सार इसके अध्ययनसे हो जायगा।" मूल्य १॥)

१२—ट्राटस्कीकी जीवनी

बोलशेविक क्रांतिका मनोरंजक इतिहास

ट्राटस्की रूसी क्रांतिके सर्वप्रधान नेता लेनिनका दाहिना हाथ था। यह पुस्तक उसीकी आत्मकथा है। इसे पढ़कर देखिये कि ज़ारशाहीसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशका उद्धार करनेमें क्रांतिवादियोंको किन किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, पहली क्रांतिके बाद बोलशेवियोंको किस तरह केरेन्सकी सरकारसे लड़ाई लड़नी पड़ी, उस समय ट्राटस्कीने रात दिन अथक परिश्रम कर कैसी दृढ़ताके साथ क्रान्तिका संचालन किया, पीट्रोग्राडकी रक्षाके समय भागती हुई सेनाका नेतृत्व ग्रहण कर किस तरह उसने पाँसा उलट दिया, अन्तमें लेनिनकी मृत्युके बाद उसके विरुद्ध कैसा कुचक्र रचा गया, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे स्वदेशसे निर्वासित होकर विदेशोंमें दर दर घूमना पड़ा। मूल्य अजिल्दका १॥=)—सजिल्दका २)

१३—राष्ट्रीय शिक्षाका इतिहास

लेखक—श्री कन्हैयालाल शास्त्री

इसमें सरकारी शिक्षाप्रणाली और तत्सम्बन्धी नीतिके संक्षिप्त वृतांतके साथ राष्ट्रीय शिक्षाके आरम्भ और विकासका पूर्ण इतिहास और उसकी वर्तमान अवस्थाका अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। लिखनेके पहले लेखकने बड़े परिश्रमके साथ सभी संस्थाओंके इतिहास, पाठक्रम, रीतिनीति आदिका अध्ययन उन संस्थाओंमें स्वयं जाकर किया था। विश्वभारती, गुरुकुल, आचार्य कर्वेके महिला विद्यापीठ, जालन्धरके कन्या महाविद्यालय तथा अन्य राष्ट्रीय शिक्षासंस्थाओंका विस्तृत परिचय दिया गया है। बढ़िया ग्लेज़ कागजपर छपी है। मूल्य २)

१४—भारतका सरकारी ऋण

भारतके नामपर शुरूसे अबतक सरकार द्वारा जितना ऋण लिया गया है, उसकी विस्तृत जाँच इसमें की गयी है और यह स्पष्ट कर दिया गया हैं कि इसमेंसे कितना भारतको और कितना ब्रिटेनको देना चाहिये। मूल्य १=)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५—सौन्दर्यविज्ञान

भूमिका-लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्द

रचयिता—श्री हरिवंशसिंह शास्त्री

मानव-जीवन ही नहीं, पशु-पक्षियों तकके जीवनमें सौन्दर्यका स्थान कितना महत्वपूर्ण है, यह किसीसे छिपा नहीं। इस चराचर जगत्में ऐसा कौन है जिसपर सौन्दर्यका जादू अपना असर न दिखलाता हो, कौन ऐसा वीरपुंगव है जो वातकी बातमें उसके सामने नतमस्तक न हो जाता हो, कौन ऐसा पाषाण-हृदय है जो उसके प्रभावसे द्रवीभूत न हो जाता हो ? इस पुस्तकमें उसीका सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। इसमें अनेक सुप्रसिद्ध दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और कलाविदोंके विचारोंका उल्लेख कर सौन्दर्यका वास्तविक स्वरूप समझानेकी चेष्टा की गयी है और कलासे उसका सम्बन्ध दिखलाते हुए जीवनको सौन्दर्यमय बनानेके उपायोंपर भी प्रकाश डाला गया है। मूल्य ॥।)

१६—अभिधर्म कोषः

सम्पादक—श्री राहुल सांकृतायन

[बौद्ध दर्शनका अपूर्व ग्रन्थ]

सुप्रसिद्ध दार्शनिक वसुबन्धुका ग्रन्थ अभिधर्मकोष जिसके अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषामें होनेपर भी जो मूल संस्कृतमें लुप्त हो गया था, तिब्बती, चीनी और फ्रांसीसी भाषाओंकी सहायतासे फिर उद्धृत करके सरल संस्कृत व्याख्या, ऐतिहासिक भूमिका एवं अनेक नक्शोंके साथ छप गया। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों, भिक्षुओंके नियमों, योग, समाधि आदिका दार्शनिक रीतिसे विवेचन किया गया है। मूल्य ५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७—मनुपादानुक्रमणी

सम्पादक—डाक्टर भगवान्दास तथा श्री राजाराम शास्त्री

आदि स्मृति मनुस्मृतिमें कही हुई बातोंके ठीक पतेकी अर्थात् अध्याय और श्लोकके अंकोंकी आवश्यकता बहुधा पड़ती है। इस पुस्तकमें आकारादि क्रमसे चारो पदोंकी सूची दी गयी है। आशा है, इससे संस्कृतके विद्वान् समुचित लाभ उठावेंगे और मनुस्मृतिमें कही बातोंका पता विना प्रयास लगानेमें सहायता पावेंगे। मूल्य—बारह आना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain, Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi